तत्त्वकौमुदी-प्रभा

डा. आद्याप्रसाद मिश्र







सांख्यतत्वकौमुदी-प्रभा

ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदी

की

हिन्दी-व्याख्या

व्याख्याकार

डा० आद्याप्रसाद मिश्र

एम० ए० डी० फिल, शास्त्री

अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक

सत्य प्रकाशन

बलरामपुर हाउस

इलाहाबाद

[द्वितीय संस्करण] १९६२ [मूल्य ६)

प्रकाशक—
सत्य प्रकाशन
बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद

सोल एजेन्ट—
मोतीलाल बनारसीदास
चौक, बनारस

मुद्रक—
गोपालकृष्ण अग्रवाल
हिन्दुस्तान प्रेस
कटरा, प्रयाग।

समर्पण

परम पूज्य

पितृ-चरणों

में

सादर-सविनय

समर्पित

दो शब्द

संस्कृत भाषा का दर्शन-साहित्य उसके समस्त साहित्यों में सर्वाधिक विशाल और महत्त्वपूर्ण है। इस दर्शन-साहित्य में भी साङ्ख्य-दर्शन का स्थान उसके अत्यन्त प्राचीन होने के कारण और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। और यदि यह कहा जाय कि इतने महत्त्वपूर्ण दर्शन के ज्ञान का इस समय एकमात्र साधन ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका और उसकी टीकायें ही हैं, तो कोई अयुक्ति न होगी, क्योंकि इसके अतिरिक्त इस समय एक ही ग्रन्थ और उपलब्ध है और वह है सांख्य-प्रवचन-सूत्र, परन्तु इसकी प्राचीनता में विश्वास न होने के कारण इसकी वह प्रामाणिकता नहीं है जो ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका की है। इसी कारण सांख्य-दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने वालों के लिए यह ग्रन्थ अनिवार्य सा है।

ऐसे ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद इस समय, जब हिन्दी राष्ट्र-भाषा के उच्च पद पर प्रतिष्ठित है, कितना उपयोगी होगा, यह विज्ञ जनों से छिपा नहीं है। इसका एक हिन्दी-अनुवाद अभी कुछ समय पूर्व काशी से निकला है। पर हमारी विनम्र धारणा है कि इस सूत्रात्मक ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र सांख्य-शास्त्र के सम्यक् ज्ञान में बहुत सहायक नहीं होगा, जब तक इसके साथ इसकी किसी प्राचीन टीका का भी अनुवाद न किया जाय। आचार्य वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी उपलब्ध टीकाओं में एकाध को छोड़कर सबसे प्राचीन है, साथ ही पाण्डित्य-पूर्ण एवं गम्भीर भी है। इसीलिए यहाँ सांख्यकारिका और तत्त्वकौमुदी का अनुवाद एक साथ प्रस्तुत किया गया है। साथ ही समस्त सूक्ष्म एवं दुरूह विषयों पर विशेष व्याख्यान भी प्रस्तुत किया गया है। इतना करने पर भी हमारा कदापि यह दावा नहीं है कि सारे दुरूह स्थलों को स्पष्ट करने में यह व्याख्या कृत-कार्य हो सकी है, अथवा यह सर्वथा अनवद्य है। भारतीय दर्शनों के निष्णात विद्वानों के समक्ष इस तुच्छ कृति को नम्रतापूर्वक रखते हुए हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे इसके दोषों को निर्दिष्ट करने की हम पर कृपा करें ताकि भविष्य में उनका परिहार किया जा सके।

हम अपने पूज्य गुरुवर्य पं० रघुवर मिट्ठूलाल जी शास्त्री, विद्याभूषण, एम० ए०, एम० ओ० एल०, साहित्याचार्य के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने हमें समय-समय पर उचित परामर्श दिया है और साथ ही साथ हमारे अनुरोध से प्रस्तुत ग्रन्थ की परिचायिका भी लिखने का कष्ट किया है। हम अपने अन्य गुरु-जनों के भी बहुत आभारी हैं जिनकी प्रेरणाओं एवं परामर्शों से हमने बहुत लाभ उठाया है।

प्रेस की साफ प्रतिलिपि तैयार करने के लिए हम अपने श्रेष्ठ शिष्य श्री सुरेशचन्द्र पाण्डेय एवं श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव [ये दोनों ही व्यक्ति इस वर्ष हमारे सहयोगी हो गए हैं] को हृदय से धन्यवाद देते हैं। मुद्रक गोपालकृष्ण जी अग्रवाल को भी धन्यवाद देना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं जिनके पूर्ण सहयोग से ही यह ग्रन्थ दो ही मासों में छप कर प्रकाशित हो सका है।

विजया-दशमी; सं० २०१३ वि० आद्याप्रसाद मिश्र

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में निवेदन

सन् १९५६ के प्रायः अन्तिम भाग में सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा का प्रथम संस्करण निकला था, जो सन् १९६० के अन्त तक समाप्त हो गया। संस्कृत भाषा के ग्रन्थों, विशेषतः 'दर्शन'-विषयक ग्रन्थों के एक पूरे संस्करण का चार सालों में समाप्त हो जाना लेखक के लिये उत्साह-जनक बात है। एतदर्थ हम संस्कृत के सत् साहित्य के प्रेमी पाठकों के कृतज्ञ हैं। इसलिए इसका द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष है। जून, सन् ६१ तक इसको निकाल देने का सारा भार हमने इसके पूर्व मुद्रक श्री गोपालकृष्ण अग्रवाल, हिन्दुस्तान प्रेस, इलाहाबाद को मार्च, सन् ६१ में ही सौंप दिया था एवं तदर्थ अपेक्षित सारा प्रबन्ध भी कर दिया था। पर अपनी विवशताओं के कारण वे इसे इसके पूर्व न छाप सके। यह भी क्या कम बड़ी बात है कि अन्ततः उन्होंने इसे छाप कर ही छोड़ा। इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं; और इतने दीर्घ समय तक प्रतीक्षा कराने के लिए अपने उदार एवं प्रेमी पाठकों की क्षमा के याचक हैं।

पिछले संस्करण की अवतरणिका में सांख्य-दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा दी गई थी, पर उसकी सैद्धान्तिक परम्परा का विवेचन प्रायः नहीं के बराबर था। प्रस्तुत संस्करण में लगभग तीस पृष्ठों में वह परम्परा संक्षेपतः प्रस्तुत की

गई है। पाठकों को इस वृद्धि से महान् लाभ होगा, ऐसी आशा है। यह आकार-वृद्धि इसके मूल्य की वृद्धि का भी कारण बनी है। पर यह मूल्य, जिसकी वृद्धि में आकार-वृद्धि कारण हुई है, बाह्य एवं आन्तरिक रूप से द्विविध है—बाह्य, जो रुपयों में आँका जाता है तथा सर्व-जन-संवेद्य है और आन्तरिक, जो केवल विज्ञ-जन-संवेद्य है। हमारा विश्वास है कि इस द्वितीय की वृद्धि के समक्ष प्रथम की वृद्धि नगण्य है। प्रस्तुत संस्करण में विषयानुक्रमणी भी जोड़ दी गई है। यत्र-तत्र अपेक्षित संशोधन भी कर दिए गए हैं। फिर भी छापे की कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। पर उनके कारण अर्थ समझने में कोई कठिनाई न होगी। अतः पाठक उसके लिए अमर्ष न करेंगे, हम जानते हैं।

इन्हीं आशा और विश्वास के भावों के साथ प्रस्तुत संस्करण, जैसा कुछ भी यह बन सका है, विद्वान् एवं विवित्सु उभय-विध पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। इसके अच्छे बनने में जिन प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के लेखों का योग प्राप्त हुआ है, उनके हम हृदय से कृतज्ञ हैं। प्रयत्न के बाद भी इसमें जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके लिए हम अपने सहृदय एवं उदार पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

मकर-सङ्क्रान्ति, सं० २०१८ वि० —लेखक

परिचायिका

प्रोफेसर डाक्टर आद्याप्रसद मिश्र, साहित्य -शास्त्री न केवल दर्शन-शास्त्र के उन होनहार प्रशस्त विद्वानों में से एक हैं जो न्याय-वैशेषिक, साङ्ख्य-योग, भक्ति-शास्त्र और वेदान्त में स्वगृहाङ्गण के समान विचार करते हैं, प्रत्युत अध्यवसायी अध्येता, सफल अध्यापक और उदीयमान लेखक भी हैं। इनको मैं बहुधा अपनी से पूर्व पीढ़ी के पञ्जाब (लाहौर) के लब्धप्रख्य दार्शनिक विद्वान् पं० नृसिंहदेव शास्त्री की अनुकृति के रूप में देखा करता हूँ। डाक्टर आद्याप्रसाद मिश्र जी ने पर्याप्त समय और परिश्रम लगा कर सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्री वाचस्पतिमिश्र-कृत सांख्यतत्त्वकौमुदी की यह प्रौढ एवं विचार-पूर्ण व्याख्या छात्रों के हित को विशेषतः ध्यान में रखते हुये लिखी और छपाई है। इसमें कौमुदी तथा तन्मूलभूत ईश्वरकृष्ण-कृत कारिकाओं की समस्त उपलब्ध टीकाओं का गम्भीर आलोडन करके जो मौलिक विचार का निष्कर्ष प्रस्तुत किया है,वह प्रायशः ग्रन्थकर्तृ-हृदय-निदर्शक होने के साथ-साथ अनेक स्थलों में पूर्व टीकाकारों से अक्षुण्ण एवं नवीन (मौलिक) होने से अत्यन्त प्रशस्त नवनीत के समान निष्पक्षपात विचारकों के लिये हृद्य होगा। कहीं-कहीं विचार बहुत गम्भीर और कुछ अधिक विस्तृत भी हो गया है जो इस विषय का नया परिचय प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को थोड़ा मस्तिष्क-शोषक लग सकता है पर उसी को पुनर्विचार-जनित प्रौढि के लिये अतीव सहायक सिद्ध होगा। डाक्टर मिश्र जी ने इसकी अवतरणिका भी बड़ी गवेषणा के साथ लिखी है।

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" के न्याय से यत्र-तत्र रह गये दोषों का परिमार्जन शीघ्रता में पूर्ण रूप से सम्भव न हो सकने पर भी यह प्रकाशन अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा। इसकी उपादेयता का कारण केवल इतना ही नहीं है कि प्रायः सभी विश्वविद्यालयों की उच्च संस्कृत-कक्षाओं एवञ्च प्राच्य शैली की विविध परीक्षाओं में यह पाठ्य ग्रन्थ है और हमारे राष्ट्रीय विधान के अनुसार हिन्दी, जिसमें यह व्याख्या की गई है, अब समस्त भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा है और किसी सीमा तक अन्ताराष्ट्रीय भाषा भी होकर रहेगी, किन्तु विशेषतः यह भी है कि साङ्ख्य शास्त्र सभी दर्शनों की कुञ्जी है, और प्राचीनतम दर्शन है। अतः दर्शन-प्रविविक्षुओं को सर्वजन-परिचित

भाषा द्वारा इस शास्त्र का ज्ञान वर्तमान प्रकाशन से अति सुलभ हो जायगा। ईश्वर श्री मिश्र जी को स्वस्थ और चिरजीवी रख कर इन्हें आगे भी ऐसी ही सुन्दर और जनहित-कारिणी कृतियों के प्रकाशन में निमित्त बनावें।

५६०, कर्नलगंज, प्रयाग।
बुधवार, १७-१०-५६॥

—र० मि० शास्त्री विद्याभूषण
भूतपूर्व प्राध्यापक
राजाराम कालेज कोल्हापुर (मुम्बई)
तथा प्रयाग विश्वविद्यालय (उ० प्र०)

अवतरणिका

मनुष्य स्वभाव से ही मननशील प्राणी है। अतः मानवीय विचारों की प्रक्रिया उतनी ही पुरानी है, जितनी सृष्टि। स्वभाव के अतिरिक्त मानव की परिस्थितियाँ एवं उसके चारों ओर का वातावरण भी उसको कुछ न कुछ सोचने के लिए सदा प्रेरित करते रहते हैं। सोचने या मनन करने का यह क्रम जाति और व्यक्ति दोनों ही में चलता रहता है। इसी के फल-स्वरूप दोनों ही आगे बढ़ते हैं। मानवीय संस्कृति और सभ्यता के विकास का यही रहस्य है। पर यह सर्वानुभूत बात है कि आरंभ के विचार अपरिपक्व रहते हैं, नये अनुभवों से मनुष्य के विचारों को नई दिशा प्राप्त होती है, उसका विकास होता है और उसमें क्रमशः परिपक्वता आती जाती है। थोड़ा परिपक्व होने पर ही वे वचनों द्वारा प्रकाशित किए जाने योग्य होते हैं। मन में उठते ही विचार इतने स्फुटित नहीं हो जाते कि वचनों द्वारा प्रकाशित किए जा सकें। फिर कालान्तर में और अधिक परिपक्व होकर व्यवस्थित हो जाने पर लेख-बद्ध होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः किसी भी देश, समाज या जाति की ग्रन्थ-सम्पत्ति उसकी शताब्दियों की विचार-साधना का सत्फल होने के कारण आरम्भिक विचारों के बहुत बाद उदित होती है। भारतवर्ष और विशेषतः उसके प्राचीन युग के विषय में यह बात और भी अधिक सत्य है क्योंकि उस समय लिखना मनीषियों, चिन्तकों एवं विद्वानों का व्यापार नहीं था। लिखते वे लोग तभी थे जब सतत साधना के अनन्तर सत्य के किसी अंश के 'ऋषि'—द्रष्टा—बनते थे और लोक-हितार्थ उसे लेख-बद्ध करने के लिए आन्तरिक प्रेरणा पाते थे। समस्त वेद-राशि—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—का आविर्भाव इसी प्रकार हुआ था। इसी से वह अपौरुषेय कहलाती है क्योंकि गृत्समद, वशिष्ठ, विश्वामित्र इत्यादि उसके कर्ता नहीं, द्रष्टा थे।

उपर्युक्त कथन से जो बात निस्सन्देह ज्ञात होती है, वह यह है कि हिन्दुओं के दार्शनिक चिन्तन और विचार परवर्ती काल में सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त इत्यादि नामों से व्यवहृत होने वाली विशिष्ट विचार-प्रणालियों के व्यवस्थित रूप धारण करने के अनेक शताब्दियों पूर्व ही आरम्भ हो गए थे और बीच की शताब्दियों में भी अनवरत रूप से चलते रहे। डा० ई० एच० जानसन ने अपने Early Sankhya नामक ग्रन्थ के आरंभ में ठीक ही लिखा है—"Hindu philosphy was in the making for many

centuries before any of the extant authoritative treatises on the various classical systems was composed".

आरम्भिक उपनिषत्-साहित्य इन्हीं पूर्व विचारों का लेख-बद्ध रूप है, एवं इसी से परवर्ती दर्शन-शास्त्र सूत्र-रूप में व्यवस्थित हुए। इस साहित्य में परवर्ती दर्शन-शास्त्रों के मूल-भूत सिद्धान्त बीज-रूप में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। सांख्य-शास्त्र न केवल इस नियम का अपवाद नहीं है, अपितु इसके मूल तत्त्व तो बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में भी सूक्ष्म रूप से मिलते हैं। जैसे, पुरुष केवल साक्षी या द्रष्टा है, कर्ता नहीं—इत्यादि भाव बृहदारण्यक की 'असङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य' इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इसी प्रकार सांख्य का सत्कार्यवाद छान्दोग्य की 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच—कथमसत: सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि पंक्तियों में तथा उसके सत्त्व, रजस् और तमस् गुण 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य'[1] इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इनकी तो बात ही क्या, ऋग्वेद इत्यादि में भी सांख्य के पदार्थों की झलक मिलती है। जैसे 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं' (ऋग्वेद १०, १२९, ३) में सांख्य के भावी 'अव्यक्त' का संकेत मिलता है। इस सबसे यह तो अवश्य स्पष्ट होता है कि विकसित तथा व्यवस्थित सांख्य दर्शन की पृष्ठ-भूमि में विद्यमान विचार, जिनसे उनका भावी स्वरूप निर्धारित हुआ, अत्यन्त प्राचीन हैं; परन्तु इससे यह कदापि स्पष्ट नहीं होता कि ये प्राचीनतम उपनिषद् किसी प्रकार के सांख्य-शास्त्र से परिचित हैं।

इनके बाद के कठ और श्वेताश्वतर में तो सांख्य के बुद्धि, अव्यक्त, तथा पुरुष इत्यादि न केवल स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं, अपितु उनकी आनुक्रमिक सूक्ष्मता भी वर्णित है।[2] श्वेताश्वतर का तो कहना ही क्या ? यह तो सांख्य-

---

१—भाष्यकार शङ्कराचार्य के अनुसार उद्धृत पंक्ति में तीनों गुणों का नहीं अपितु जगत् की त्रिविध प्रकृति तेजस्, जल तथा पृथ्वी का ही उल्लेख है—भूतत्रय-लक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात् ? तथा ह्येके शाखिनः तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमात्रमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं..........।

—ब्रह्मसूत्र १.४.९ पर शां० भा०

२—द्रष्टव्य, कठ० अ० १, वल्ली ३, श्लोक १०, ११—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः... इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

उपनिषद् माना ही जाता है। 'सांख्य'[१] और 'कपिल'[२] नाम इसमें पहली ही बार आए हैं। इसी प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ—ये तीनों भी इसी उपनिषद् में मिलते हैं।[३] 'प्रधान' (श्वेता० १।१०) और 'गुण' (श्वेता० १।३) शब्द भी इसमें मिलते हैं। श्वेताश्वतर के प्रसिद्ध मंत्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (४-१०) में अव्यक्त या प्रधान का 'प्रकृति' नाम भी आया हुआ है। इस मन्त्र में 'महेश्वर' शब्द के आने से 'मायिक महेश्वर ही जगत् की सृष्टि करता है'—इत्यादि वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन समझते हुए डा० हरदत्त शर्मा ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के ओ० बु० ए० पूना वाले संस्करण की भूमिका में पृष्ठ आठ पर लिखा है कि 'सांख्य के कुछ पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग-मात्र से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कोई उपनिषद्-विशेष सांख्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जैसे "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" में ही यद्यपि सांख्य का एक पारिभाषिक शब्द 'प्रकृति' आया हुआ है, तथापि यह मन्त्र वेदान्त-सिद्धान्त का ही समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है'[४]। यह बात समझ में नहीं आती कि इस मन्त्र में सेश्वर सांख्य का सिद्धान्त मानने में क्या कठिनाई है? स्वयं स्वामी शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में स्पष्ट ही कहा है कि सांख्य वेदान्त के बहुत समीप है। इस मत से उनका सबसे बड़ा विरोध केवल इस बात के कारण है कि यह अचेतन प्रकृति को ईश्वर इत्यादि चेतन अधिष्ठाता की बिना अपेक्षा किए ही पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए सृष्टि में प्रवृत्त होने वाली मानता है। प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लेने पर दोनों में कम ही भेद रह जाता है। ऐसी स्थिति में तो उपर्युक्त मन्त्र में सेश्वर सांख्य के सिद्धान्त का उल्लेख न केवल अनुचित नहीं जान पड़ता, अपि तु 'तत्कारणं सांख्य-योगाधिगम्यम्' तथा 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' इत्यादि मन्त्रों के साथ पढ़े जाने पर सर्वथा उचित और स्वाभाविक

१—द्रष्टव्य श्वेताश्व० ६-१३: '..........। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्'

२—द्रष्टव्य श्वेताश्व० ५-२ :—'..........। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥'

३—द्रष्टव्य श्वेताश्व० १-८, ९ :—'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।......' 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।..........॥'

४—डा० शर्मा का यह मत ब्रह्मसूत्र १।४।९ के शां० भा० पर आधारित है—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति—किं कारणं ब्रह्म' (श्वेता० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् (श्वेता० १।३) इति पारमेश्वर्याःशक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नाम अजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्॥

जान पड़ता है क्योंकि प्रथम मन्त्र में सांख्य-ज्ञान को स्पष्ट ही उच्चतम कोटि का साधन माना है और यदि सांख्य शास्त्र इस उपनिषद् के पूर्व नहीं था, तो इस प्रकार का उल्लेख अनर्गल और काल्पनिक सिद्ध होता है जो सम्भव नहीं प्रतीत होता। इस सेश्वर सांख्य के इस प्रकार श्रुति-मूलक होने के कारण ही महाभारत में सांख्यानुयायियों को 'यथाश्रुतिनिदर्शिनः', 'ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः' इत्यादि कहना संगत होता है। इससे तो यही मानना उचित लगता है कि कठ और श्वेताश्वतर दोनों के पूर्व अर्थात् ई० शताब्दी के बहुत पूर्व सेश्वर सांख्य व्यवस्थित हो चुका था। जैकोबी का यह कथन कि 'अत्यन्त प्राचीन एवं प्राचीन उपनिषदों के बीच सांख्य दर्शन का उदय मानने के विषय में दो मत नहीं हो सकते' सर्वथा ठीक लगता है। केवल इतनी बात और स्मरण रखने की है कि यह मत सेश्वर सांख्य के विषय में ही मान्य है। निरीश्वर सांख्य संभवतः ईश्वरकृष्ण के बहुत पूर्व का नहीं है, इसे आगे स्पष्ट करेंगे। श्रुतियों से आई हुई सेश्वर सांख्य की यही परम्परा महाभारत, मनुस्मृति, तथा भागवत आदि पुराणों में भी मिलती है। 'महाभारत में सांख्य सिद्धान्तों के विभिन्न प्रकार के व्याख्यान प्राप्त होने पर भी ब्रह्म या ईश्वर के विवेचन के विषय में सभी में ऐकमत्य है। यद्यपि पुरुषों की अनेकता मानी गई है, तथापि ब्रह्म सब का आधार माना गया है (बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते—शान्तिपर्व ३५०-२६)'।[१]

कपिल

जैसा अभी पूर्व में कह चुके हैं, सेश्वर सांख्य की परम्परा ईस्वी सन् के आरम्भ के कई शताब्दी पूर्व की ज्ञात होती है। परम्परा से इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। परन्तु महाभारत, भागवत इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में इनका विविध एवं परस्पर-विरुद्ध वर्णन प्राप्त होने के कारण अनेक विद्वान् इनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में ही सन्देह करते हैं। महाभारत में ही दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं, एक[२] के अनुसार वे ब्रह्मपुत्र ठहरते हैं तथा दूसरे[३] के अनुसार अग्नि के अवतार ठहरते हैं। भागवत[४] के अनुसार वे नारायण के ही पञ्चम

१—द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी, ओ० बु० प०, पूना संस्करण की भूमिका, पृ० ११।

2—'सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। कपिलश्चासुरिश्चैव वोढु पञ्चशिखस्तथा॥ सप्तैते ब्रह्मणः पुत्राः'—महाभा० शान्ति०।

३—"कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोग-प्रवर्तकः" ॥—महाभा० शान्ति०

४—"पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्" ॥—भागवत, १-३-११॥

अवतार थे। श्वेताश्वतर के पूर्वोद्धृत 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' इत्यादि मन्त्र में आये हुए 'कपिल' पद से भास्कराचार्य इत्यादि ने हिरण्यगर्भ का ग्रहण किया है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादि पहले और बाद के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मा को ही सर्व-प्रथम उत्पन्न करके वेदादि-ज्ञान देने की बात कही गई है। यो० सू० १-२५ की टीका[1] में वाचस्पति मिश्र ने भी कपिल को हिरण्यगर्भ कहा है। इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध कथन पाकर प्रो० कीथ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कपिल किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का नहीं अपितु हिरण्यगर्भ का ही नाम है क्योंकि वे कहीं अग्नि, कहीं विष्णु तथा कहीं शिव के अवतार या रूप कहे गए हैं[2]। मैक्समूलर और कोलब्रूक भी इसी विचार के थे। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने भी 'जयमङ्गला' की भूमिका में कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह प्रकट किया है, यद्यपि उन्होंने आसुरि के प्रति कपिल के सांख्य-विषयक उपदेश को ऐतिहासिक माना है। महामहोपाध्याय डा० हरदत्त शर्मा ने भी पूर्वोक्त समस्त विवरण से यही निष्कर्ष निकाला है कि कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में कोई सबल प्रमाण नहीं मिलता[3]।

पर इन विद्वानों के इस निष्कर्ष पर श्रद्धा नहीं होती। इसका सबसे बड़ा कारण तो प्राचीन परम्परा है जो महर्षि कपिल को सिद्ध-श्रेष्ठ और सांख्य दर्शन का प्रथम उपदेष्टा मानती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने सिद्धों में अपने को कपिल मुनि कहा है[4]। स्वामी शङ्कराचार्य ने भी कपिल को सांख्य का उपदेष्टा माना है। हाँ, इन्हें सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक वैदिक कपिल से भिन्न अवश्य बताया है[5]। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने भी लिखा है कि वैदिक कपिल वे थे जिन्होंने महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था, अवैदिक सांख्य के उपदेष्टा कपिल उनसे भिन्न थे। परन्तु पद्मपुराण में वासुदेव कपिल को ही वैदिक सांख्य का प्रवर्तक कहा है। ध्यान देने की बात है कि पूर्व उद्धरणों में सांख्य के वैदिक

१—द्रष्टव्य योगसूत्र १-२५ पर तत्त्ववैशारदी—आदिविद्वान् कपिल इति ।...कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते, स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः।

२—द्रष्टव्य प्रो० कीथ का Sankhya System, पृ० ६।

३—द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी के पूना संस्करण की भूमिका, पे० १४।

४—द्रष्टव्य अ० १०, श्लो० २६।

५—द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २।१।१ पर शांकरभाष्यः—या तु श्रुतिःकपिलस्य ज्ञानातिशयं दर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलमतं श्रद्धातुं शक्यं, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्॥

या अवैदिक कपिल द्वारा उपदिष्ट होने के विषय में ही मत-भेद है, कपिल की सत्ता के विषय में नहीं। इससे स्पष्ट है कि कपिल काल्पनिक नहीं हो सकते। इसीलिए गार्वे ने मैक्समूलर और कोलब्रूक के विचारों का खण्डन करते हुए अपने ग्रन्थ Sankhya Philosophy में लिखा है कि परम्परा से चला आता हुआ कपिल का नाम काल्पनिक नहीं माना जा सकता। महर्षि कपिल के विषय में प्राप्त प्राचीन वर्णन में प्रो० कीथ को जो विरोध प्रतीत होता है, उसके सम्बन्ध में यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि सांख्य के उपदेष्टा कपिल किसी एक कल्प में ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के पुत्र, किसी दूसरे में अग्नि के अवतार तथा किसी और कल्प में कर्दम और देवहूति के पुत्र (—भगवान् विष्णु के पञ्चम अवतार) भी हो सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। यह परिहार कोई नई सूझ या कल्पना नहीं है, भारतीय परम्परा जानने वाले सज्जन भली भाँति जानते हैं कि रामावतार की आपाततः विरोधी कथायें विभिन्न कल्पों के विभिन्न रामावतारों की होने के कारण वस्तुतः परस्पर विरोधी नहीं मानी जातीं। कपिल मुनि के प्रथम सांख्योपदेष्टा होने में पञ्चशिख का वह वचन सबसे प्रबल प्रमाण है जो व्यासदेव ने योगसूत्र १.२५ के भाष्य के अन्त में उद्धृत किया है—"आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच"। परन्तु कपिल को काल्पनिक मानने वाले कह सकते हैं कि प्रस्तुत उद्धरण के 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' पदों से यह बात स्पष्ट है कि कपिल मुनि चित्त-विहीन होने से मनुष्य-शरीर में पृथ्वी पर कभी भी वर्तमान नहीं थे, केवल जिज्ञासु आसुरि को सांख्य-तन्त्र का उपदेश देने के लिए उन्होंने योग-बल से चित्त का निर्माण कर लिया था। योगभाष्य की अपनी 'वार्तिक' टीका में विज्ञानभिक्षु ने तो स्पष्ट कहा ही है कि 'सर्ग के आदि में आदि विद्वान् स्वयंम्भू के रूप में उत्पन्न विष्णु ने ही योग-बल से स्वनिर्मित चित्त में अंशतः प्रविष्ट होकर कपिल नाम से जिज्ञासु आसुरि को तत्त्व का उपदेश दिया था'[1]। पर इससे यह कहाँ ज्ञात होता है कि वे शरीरधारी नहीं थे। किसी न किसी प्रकार का शरीर बिना हुए निर्माण चित्त का अधिष्ठान—आधार—क्या रहा होगा और तब उनका उपदेश देना कैसे सम्भव हुआ होगा? इससे तो यही कहना पड़ता है कि कपिल मुनि को काल्पनिक मानना उचित नहीं है।

१—द्रष्टव्य योगसूत्र १.२५ के व्यास-भाष्य की 'वार्तिक' टीका :—"आदिविद्वान् स्वयम्भूः सर्गादावाविर्भूतो विष्णुर्निर्माणचित्तं योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तमधिष्ठाय स्वांशेन प्रविश्य कपिलाख्यपरमर्षिर्भूत्वा कारुण्याज्जिज्ञासव आसुरये तत्त्वं प्रोवाचेत्यर्थः।"

महर्षि कपिल की वास्तविकता का संक्षेपतः विचार कर चुकने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि उनके द्वारा आसुरि को सांख्य शास्त्र का जो ज्ञान दिया गया, वह किस नाम से प्रसिद्ध हुआ ? वह ग्रन्थ आज-कल का 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' नामक छः अध्यायों वाला ग्रन्थ ही तो नहीं था ? अथवा वह बाइस सूत्रों का 'तत्त्वसमास' नामक ग्रन्थ था ? अथवा वह ग्रन्थ सांख्य दर्शन का सर्वाधिक प्रसिद्ध किन्तु इस समय लुप्त-प्राय ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' ही था। आज इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर देना असम्भव-प्राय है क्योंकि इस विषय पर प्रायः तो प्रमाण नहीं मिलते। जो एकाध मिलते भी हैं, वे परस्पर-विरोधी एवं बहुत बाद के होने से सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं। फिर भी यहाँ उनका विचार अप्रासङ्गिक अथवा अवाञ्छनीय न होगा।

तत्त्वसमास की 'सर्वोपकारिणी' नामक टीका के एक अवतरण से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वसमास और सांख्यप्रवचनसूत्र—दोनों सूत्र-ग्रन्थों के कर्ता दो कपिल थे। तत्त्व-समास के रचयिता कपिल भगवान् विष्णु के अवतार तथा कर्दम और देवहूति के पुत्र थे, एवं सांख्य-प्रवचन-सूत्र के रचयिता कपिल अग्निदेव के अवतार थे। वह अवतरण इस प्रकार है—'अथात्र अनादिक्लेशकर्मवासना-समुद्रपतितानाथदीनानुद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत्; सूचनात्सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति, इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि च एतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः।' परन्तु विज्ञानभिक्षु के सांख्यप्रवचन-भाष्य से ज्ञात होता है कि दोनों ही सूत्र-ग्रन्थों के रचयिता भगवान् विष्णु के अवतार महर्षि कपिल ही थे। उन्होंने भाष्य में लिखा है—"ननु तत्त्वसमासाख्यसूत्रैः सहास्याः षडध्याय्याः पौनरुक्त्यमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररूपेणोभयोरप्यपौनरुक्त्यात्; तत्त्वसमासाख्यं हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनं, तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनमिति, अत एवास्याः षडध्याय्याः सांख्यप्रवचनसंज्ञा सान्वया।" इन दोनों में विरोध स्पष्ट है। इन दोनों ही से भिन्न पद्म पुराण का पूर्व उद्धृत वह मत है कि वासुदेव कपिल ने भृगु इत्यादि महर्षियों को वैदिक सांख्य का उपदेश दिया और दूसरे कपिल ने वेद-विरुद्ध सांख्य का प्रचार किया[1]। ऐसी स्थिति में निश्चय-पूर्वक यह कहना कठिन है कि उपलब्ध सांख्य-सूत्र कपिल की ही कृति हैं, या नहीं

१—ब्रह्मसूत्र २.१.१ नोट में डा० बेल्वाल्कर द्वारा उद्धृत।

अनेक विद्वान् कई कारणों से इन्हें कपिल-कृत नहीं मानते । सर्व प्रथम कारण तो यही है कि इनमें कई सूत्र दूसरे ग्रन्थों से लिए गए हैं । ब्रह्मसूत्र ४.१.१. (आवृत्तिरसकृदुपदेशात्) सांख्यप्रवचनसूत्र ४-३ है, योग-सूत्र २.४६ (वृत्तायःपञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः) सांख्यप्रवचनसूत्र २·३३ है । इसी प्रकार २५ वीं सांख्य-कारिका की 'सात्विक एकादशकः' इत्यादि प्रथम पंक्ति सांख्यप्रवचन-सूत्र २.१८ 'सात्त्विकमेकादशकम्' इत्यादि है । इसके और भी कई अंश[1] सूत्रों में उद्धृत हैं । दूसरा मुख्य कारण यह है कि इन सूत्रों में पञ्चशिख के मत का उल्लेख है । जैसे सां०प्र०सूत्र ५.३२ "आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः" तथा ६-६८ "अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः" है । यदि सांख्य-प्रवचन -सूत्र सचमुच कपिल-कृत ही हैं तो इनमें शिष्य के शिष्य पञ्चशिख के मत कैसे उद्धृत हुए ? तीसरा प्रमुख कारण यह है कि इन सांख्य-सूत्रों को किसी भी प्राचीन ग्रन्थकार ने उद्धृत नहीं किया है । अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शङ्करा-चार्य ने कहीं भी सांख्य-सूत्रों को उद्धृत नहीं किया है । सांख्यकारिका की टीका तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख, वार्षगण्य इत्यादि को तो उद्धृत किया है, पर कपिल को नहीं । यदि ये सूत्र महर्षि कपिल द्वारा रचित मौलिक सूत्र होते तो प्राचीन आचार्य परम सिद्ध ऋषि के सूत्रों को उद्धृत न करके उनकी अपेक्षा ईश्वरकृष्ण जैसे सामान्य मानव की कृति को क्यों उद्धृत करने जाते ? 'चौदहवीं शताब्दी के माधवाचार्य तक ने भी अपने षड्-दर्शन-संग्रह में कारिकाओं को ही उद्धृत किया है, सूत्रों को नहीं । सूत्रों के सबसे पुराने टीका-कार अनिरुद्ध १५०० ई० के आस-पास हुए थे । अतः इनकी रचना १३८० ई० से १४५० ई० के बीच हुई होगी[2] । पर इसके विपरीत पं० उदयवीर शास्त्री ने अनिरुद्ध को १०५० ई० का तथा उपलब्ध सांख्य सूत्रों को कपिल-रचित सिद्ध किया है । उनका कथन है कि इनमें अनेक सूत्र प्रक्षिप्त हैं, अतः उनके आधार पर समूचे सूत्र-ग्रन्थ की अर्वाचीनता नहीं सिद्ध की जा सकती । इसका विस्तृत विवेचन और खण्डन डा० हरदत्त शर्मा की भूमिका के पृ० २२-२५ पर द्रष्टव्य है ।

---

१ —दसवीं कारिका की प्रथम पंक्ति "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्" सां० प्र० सूत्र १.१२४ एव २९ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति "सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" सां० प्र०सूत्र २.३१ हैं ।

२—द्रष्टव्य ओ० बु० ए०.पूना से प्रकाशित सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका, पे०२२। यह मत डा० शर्मा ने गार्वे के Sankhya And Yoga नामक ग्रन्थ (पे. ८., ९) से उद्धृत किया है।

आसुरि

कपिल के शिष्य आसुरि की भी ऐतिहासिकता के विषय में मत-भेद है। पं० गोपीनाथ जी कविराज इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं[१]। कीथ[२] इन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने के विरुद्ध हैं। गार्बे[3] भी प्रायेण इसी मत के हैं पर उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि यदि सांख्य से सम्बद्ध आसुरि ऐतिहासिक हैं तो ये अवश्य ही शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से भिन्न हैं। प्रो० कीथ का मत मान्य नहीं हो सकता। हरिभद्र सूरि जैसे प्राचीन आचार्य, जिनका समय ७२५ ई० के लगभग है, अपने षड्दर्शनसमुच्चय में "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥" श्लोक को आसुरि के नाम से उद्‌धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि आसुरि के ऐतिहासिक होने और कोई ग्रन्थ लिखने का सम्प्रदाय ७०० ई० से भी प्राचीन है। हरिभद्र सूरि के समय से भी कई शताब्दी पूर्व के महाभारत[४] में भी आसुरि को पञ्चशिख का गुरु कहा गया है। मुनि कपिल के सम्बन्ध में भागवत के पूर्व उद्‌धृत श्लोक (भाग० १.३.१०) में भी आसुरि को भगवदवतार सिद्धेश कपिल मुनि से काल-विप्लुत सांख्य-ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है। माठर-वृत्ति[५] में भी आसुरि को न केवल कपिलाचार्य का शिष्य होना कहा गया है, अपितु गृहस्थ-धर्म तथा पुत्र, स्त्री इत्यादि को छोड़कर शिष्य बनना बताया गया है। इस सारी परम्परा के विपरीत उन्हें अवास्तविक मानना सर्वथा अनुचित ही लगता है। दुःख है कि उनकी कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है।

पञ्चशिख

पञ्चशिख की ऐतिहासिकता का विरोध किसी ने भी नहीं किया है। अभी पीछे आसुरि के पञ्चशिख के गुरु होने के विषय में महाभारत का उल्लेख किया

१—द्रष्टव्य सांख्यकारिका की जयमंगला टीका की कविराज जी द्वारा लिखित भूमिका, पे० ३।

२—द्रष्टव्य ग्रन्थ Sankhya System, पे० ४७.४८

३—द्रष्टव्य ग्रन्थ Sankhya And Yoga पे० २,३।

४—द्रष्टव्य शान्तिपर्व अ० २१८ :—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ॥

५—द्रष्टव्य, माठरवृत्ति चौ० सं० सिरिज प्रकाशन, पे० २:—:स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितं भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव।'

गया है। उसमें पञ्चशिख को 'पञ्चरात्रविशारद' कहा गया है। यह कथन कुछ विचित्र सा लगता है क्योंकि पञ्चशिख तो सांख्य के आचार्य थे। वैसे बाह्य दृष्टि से इसका परिहार यह कहकर भी किया जा सकता है कि पञ्चशिख पाञ्चरात्र या भागवत सम्प्रदाय के भी ज्ञाता हो सकते हैं, इसमें विचित्रता क्या है? परन्तु आन्तरिक या सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि इस कथन से पञ्चशिख के 'पञ्चरात्र-विशारद' कहे जाने के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता क्योंकि यों तो सभी आचार्य और विशेषतः पञ्चशिख की कोटि के उच्चतम आचार्य अपने समय के किसी एक नहीं, अपितु प्रायः सभी प्रमुख सम्प्रदायों के ज्ञाता होते ही हैं। अतः उनके पञ्चरात्र का ही विशारद कहे जाने में कुछ विशेष रहस्य अवश्य है। वह रहस्य क्या हो सकता है? योगभाष्य में व्यास ने तथा सांख्यतत्त्व-कौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख का सर्व-प्रसिद्ध वचन "स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः, सप्रत्यवमर्षः; कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" उद्धृत किया है। इस वचन से पञ्चशिख का हिंसा-विषयक यह मत ज्ञात होता है कि वेदों के द्वारा विहित यज्ञों में अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा भी पाप—अपुण्य—उत्पन्न करती है और उसका दुःखादि फल, चाहे वह यज्ञादि कृत्यों के फल-भूत सुख के समक्ष कितना भी अकिञ्चित्कर या नगण्य क्यों न हो, स्वर्ग में भी भोगना पड़ता है, वेद-बाह्य अविहित हिंसा का तो कहना ही क्या? इस प्रकार उनके मत से अहिंसा ही मानव का सर्वाधिक कल्याण करने वाला तत्त्व है और यही सिद्धान्त पाञ्चरात्र या भागवत सम्प्रदाय में विहित आचार की आधार शिला है, यही पाञ्चरात्र-मत की समस्त साधना का रहस्य एवं उस साधना की सफलता का मूल मन्त्र है। अतएव वेदों के यज्ञादि कर्म को श्रेयः-साधन, अतश्च करणीय मानते हुए भी उसकी अपेक्षा अहिंसा को ही ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में सर्वाधिक हितकर और अनिवार्य मानने के कारण ही आचार्य पञ्चशिख को 'पञ्चरात्र-विशारद'—पञ्चरात्र के गूढ तत्त्व का ज्ञाता—कहा गया होगा। आगे सांख्य में यही सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ। योग में भी अहिंसा को ही मुख्य सार्वभौम धर्म माना गया, जैसा कि योग के आठ अंगों में प्रमुख पञ्चविध[1] 'यमों' में भी अहिंसा को प्रथम स्थान देने से स्पष्ट है। यहाँ तक कि "अहिंसा और सत्य के पारस्परिक विरोध के अवसर पर अहिंसा की ही मुख्यता मानी गई

१—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः॥ यो० सू० २-३०॥

हैं' जैसा योगसूत्र २.३० के व्यास-भाष्य[१] से स्पष्ट है। भागवत-धर्म के साथ सांख्य और योग के सम्बन्ध का यही रहस्य है"[२]।

पञ्चशिख के अन्य मुख्य सिद्धान्त योगभाष्य, भामती इत्यादि ग्रन्थों में उद्धृत वाक्यों से ज्ञात होते हैं। ये 'पाञ्चशिख-सूत्र' कहे जाते हैं। इनमें से कुछ (मुख्य) ये हैं:—(१) एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् [योग० १.४]। (२) तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते [योग० १.३६]। (३) बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन [योग० २.६]। (४) तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः [योग० २.१७, ब्रह्मसूत्रभाष्य-भामती २.२.१०]। (५) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते [योग० २.२०]।

इनके अतिरिक्त दो प्रमुख उद्धरण पूर्व में दिए जा चुके हैं। ये सूत्र किसी ग्रन्थ के अंग थे या यों ही पृथक्-पृथक् रूप से कथित थे ? इस प्रश्न का आज उत्तर मिलना कठिन है, क्योंकि पञ्चशिख का लिखा कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार प्रसिद्ध षष्टितन्त्र के रचयिता पञ्चशिख ही थे। इस मत के विपरीत वाचस्पति मिश्र के मतानुसार षष्टितन्त्र के रचयिता वार्षगण्य थे। योगसूत्र ४.१३ के व्यास-भाष्य में 'तथा च शास्त्रानुशासनं' शब्दों के साथ "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥" श्लोक उद्धृत है। 'तथा च शास्त्रानुशासनं' का अर्थ तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः' किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके मत में यह श्लोक षष्टितन्त्र का है। फिर ब्रह्मसूत्र २.१.३ पर व्याख्यान लिखते हुए भामती में इसी श्लोक को 'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताऽऽह स्म भगवान् वार्षगण्यः'—इन शब्दों के साथ उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके मत से षष्टितन्त्र वार्षगण्य का ही लिखा हुआ था। पं० गोपीनाथ कविराज का मत है कि वाचस्पति मिश्र को षष्टितन्त्र का साक्षात्

१—"एषा (यथार्थाऽपि वाक्) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्, तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्"

२—द्रष्टव्य पं० बलदेव उपाध्याय का भरातयीदर्शन नामक ग्रन्थ।

परिचय नहीं प्राप्त था[१]। परन्तु पं० रामावतार शर्मा का मत है कि उन्हें इस ग्रन्थ का साक्षात् ज्ञान था[२]। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि शर्मा जी तो षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में वाचस्पति का प्रामाण्य स्वीकार करने के पक्ष में हैं परन्तु कविराज जी नहीं। जयमंगला की भूमिका में कविराज जी ने अपना यह विचार स्पष्ट भी किया है। जयमंगला में आए हुए षष्टितन्त्र-विषयक उल्लेखों के आधार पर प्रो० हिरियन्ना भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह ग्रन्थ पञ्चशिख का है, वार्षगण्य का नहीं। एक तीसरा मत इस सम्बन्ध में और है। ब्रह्मसूत्र २.१.१ पर भाष्य लिखते हुए भास्कराचार्य ने "कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेः" इत्यादि लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि उनके मत से षष्टितन्त्र के रचयिता कपिल मुनि थे। उदयवीर शास्त्री[3] और कालीपद भट्टाचार्य[४] भी इसी मत के हैं।

षष्टितन्त्र का एक और उद्धरण सांख्यकारिका १७ के गौडपाद-भाष्य और माठर-वृत्ति में मिलता है। यह उद्धरण[५] गद्य में है। इन दोनों के अतिरिक्त एक ही उद्धरण और बचता है जो ५० वीं कारिका के गौडपाद-भाष्य तथा माठर-वृत्ति में आया है और जिसके विषय में सामान्य धारणा है कि यह षष्टितन्त्र का होगा, यद्यपि भाष्य और वृत्ति दोनों में से किसी में भी यह बात स्पष्ट नहीं कहीं गई हैं, केवल 'शास्त्रान्तरे' और 'ग्रन्थान्तरे' शब्दों के द्वारा ही यह उद्धरण[६] प्रस्तुत किया गया है। यह भी गद्य ही में है। इस प्रकार न तो यही निश्चत होता है कि षष्टितन्त्र का कर्ता कौन था और न यही कि यह ग्रन्थ गद्य में था या पद्य में! इस द्विविध अनिश्चयात्मकता का उल्लेख डा० वेल्वाल्कर[७] ने किया है।

१—द्रष्टव्य जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ४,७।

२—द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी की बालराम-कृत विद्वत्तोषिणी, पे० २२६।

३—द्रष्टव्य, Proceedings Of The Oriental Conference, Lahore, II, पे० ८८२।

४—द्रष्टव्य,'Some Problems of Sankhya Philosophy and Sankhya Literature,' I. H. Q. Sept. 1932, पे० ५१६,२०।

५—द्रष्टव्य, का० १७ का गौडपाद-भाष्य :—'तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते"

६—द्रष्टव्य, का० ५० का गौडपाद-भाष्य :—'एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदान्नव तुष्टयः, तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—"अम्भः सलिलं, मेघो वृष्टिः सुतमः पारं सुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम्" इति।'

७—द्रष्टव्य,भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पे० १७२ पर डा० वेल्वाल्कर का ,Matharavritti And The Date of Ish warkrishna' नामक लेख।

वार्षगण्य

षष्टितन्त्र पर विचार करते समय पहले कहा जा चुका है कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार षष्टितन्त्र के रचयिता यही थे परन्तु यह कई कारणों से अनिश्चित है। पूर्वोक्त उद्धरण के अतिरिक्त इनका एक और उद्धरण भी योग-भाष्य (३.५३) में आया है, जो इस प्रकार है—"मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्"। ४७वीं सांख्यकारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने इनका एक और उद्धरण दिया है। तत्त्वकौमुदी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु, अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते। अतएव "पञ्चपर्वाऽविद्या" इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।' १७वीं साख्य-कारिका के गौडपाद-भाष्य में षष्टितन्त्र के उद्धरण के रूप से दिए गए "पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" को प्रो॰ कीथ ने वार्षगण्य का कथन कहा है[1]। इससे तो वाचस्पति मिश्र का ही पूर्वोक्त मत पुष्ट होता है कि षष्टितन्त्र के रचयिता वार्षगण्य ही थे। शायद इसीलिए वाचस्पति ने उनके लिए 'भगवान्' जैसे सर्वोत्कृष्ट-सम्मान-सूचक पद का प्रयोग किया है। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष के बुद्धचरित १२.३३ में वार्षगण्य का उपर्युक्त कथन "पञ्चपर्वाऽविद्या" उद्धृत है। इससे स्पष्ट है कि वार्षगण्य ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्त में होने वाले अश्वघोष से बहुत पूर्व के होंगे[2] क्योंकि अपने ग्रन्थ में सांख्य-योग के उन्हीं आचार्यों और उनके विशिष्ट मतों का उल्लेख अश्वघोष ने किया होगा जो उनके समय में सांख्य-योग के प्रामाणिक आचार्य गिने जाते रहे होंगे। आगे १२.६७ में जैगीषव्य, जनक एवं वृद्ध पराशर (पञ्चशिख[3]) का उल्लेख होने से इस अनुमान की पुष्टि होती है।

१—द्रष्टव्य प्रो॰ कीथ का Sakhya system. पे॰ ७३।

२—द्रष्टव्य डा॰ जानसन का Early Sankhya, पे॰ ६,१. "It appears that Buddha. XII, gives us in outline the teaching of the chief schools of Sankhya and Yoga, those of Varshaganya and Pancashikha in the form in which they were prevalent in the first century, A. D., so that the origin of these schools must be placed at a more remote date than is often done by scholars.

३—द्रष्टव्य, महाभारत १२-११८७५—'पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्य.....॥'

परमार्थ के चीनी अनुवाद में सांख्य की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी गई है:—
"इदं ज्ञानं कपिलादासुरेरागतम्। आसुरिणा पञ्चशिखस्योपदिष्टम्। पञ्चशिखेन गार्ग्यस्योपदिष्टम्। गार्ग्येणोलूकस्योपदिष्टम्। उलूकेन वार्षगणस्य। वार्षगणेन ईश्वरकृष्णस्य। एवं क्रमेण ईश्वरकृष्ण इदं ज्ञानमलभत[1]"। इसके अनुसार वार्षगण ईश्वरकृष्ण के गुरु थे। अय्यास्वामी शास्त्री के मतानुसार वार्षगण और महाभारत के वार्षगण्य दोनों एक ही हैं। परन्तु डा० तकाकुसु ने वर्षगण या वार्षगण को वार्षगण्य का गुरु माना है और ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास तथा वार्षगण्य के अभिन्न कहा है। परन्तु पं० गोपीनाथ जी कविराज ने इसका खण्डन[2] किया है।

जैगीषव्य

अभी कहा जा चुका है कि बुद्धचरित १२-६७ में जैगीषव्य, जनक और वृद्ध पराशर का प्राचीन सांख्य-योगाचार्यों के रूप में उल्लेख हुआ है। जैगीषव्य का नाम महाभारत १२-११७८२ में दी गई सांख्याचार्यों की नामावली में भी आया है। इतना ही नहीं, महाभारत १२-८४३१ में जैगीषव्य का मत भी संक्षेप में उल्लिखित है। डा० जानसन का कथन[3] है कि बुद्ध-चरित १२-४६,४७ से शील की आवश्यकता पर जोर देने के साथ योग का जो वर्णन आरम्भ हुआ है, वह महाभारत १२-८४३१ में दिए गए जैगीषव्य के मत का संक्षेप कहा जा सकता है। योगसूत्र २-५५ के व्यास-भाष्य में चार प्रकार के इन्द्रिय-जय बताये गए हैं। इनमें चौथा[4] जैगीषव्य के नाम से उद्धृत है। भाष्यकार ने पहले तीनों की अपेक्षा इसी चौथे को परम कहा है और उनके मत से इन्द्रियों की सूत्रकार द्वारा कथित 'परम वश्यता' का अभिप्राय यही चौथे प्रकार का इन्द्रिय-जय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत और व्यास-भाष्य में जैगीषव्य योग के विषय में परम प्रमाण माने गए हैं। प्रथम शताब्दी के बुद्ध-चरित में तो प्राचीन योगाचार्यों में इनका उल्लेख है ही। इससे स्पष्ट है कि ये भी वार्षगण्य की भाँति प्रथम शताब्दी ईसवी के बहुत पूर्व हुए होंगे।

१—द्रष्टव्य अय्यास्वामीशास्त्री कृत संस्कृत रूपान्तर, पे० ६६।

२—द्रष्टव्य, जयमंगला की भूमिका, पे० ६,७।

३—द्रष्टव्य डा० जानसेन का Early Sankhya, पृ० ६।

४—द्रष्टव्य योगभाष्य २-५५ :—चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः, ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानि इन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति।

विन्ध्यवास

मेधातिथि ने अपने मनुस्मृति-भाष्य (१.५५) में विन्धवास के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—"सांख्या हि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्धवास-प्रभृतयः"। श्लोकवार्तिक में भी "अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना"—ऐसा उल्लेख मिलता है। त्रिकाण्डशेष और हैम कोश में आये हुये उद्धरणों के आधार पर तनुसुखराम ने माठर-वृत्ति[1] की अपना भूमिका में विन्ध्यवास को व्याडि से अभिन्न एवं नन्द का समकालीन कहा है। यदि यह ठीक हो तो इनका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी होगा। परन्तु अश्वघोष ने अन्य सांख्याचार्यों के साथ इनका उल्लेख नहीं किया है, अतः इनका ईसवी सन् के पूर्व का होना बहुत सदिग्ध जान पड़ता है।

चीनी परम्परा के अनुसार विन्ध्यवास ने हिरण्यसप्तति नामक सांख्य-ग्रन्थ लिखा था[2]। डा० बेल्वल्कर के अनुसार यह हिरण्यसप्तति सांख्य-कारिका की टीका है। परन्तु कविराज जी ने इसका खण्डन करते हुये लिखा है कि "जैन-ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारा-सूत्र' में ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों की एक सूची मिलती है जिसमें एक ग्रन्थ कनगसत्तरि (कनकसप्तति) भी है जो मेरे विचार से सुवर्ण-सप्तति या हिरण्य-सप्तति ही है और चीन में यह सांख्य-सप्तति का ही प्रचलित नाम है'[3]। अब यदि चीनी परम्परा और कविराज जी का निष्कर्ष, दोनों ही ठीक हों तो अनिवार्य रूप से यही निष्कर्ष निकलेगा कि विन्ध्यवास और ईश्वर-कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं, जैसा डा० तकाकुसु भी मानते हैं। पर यह अभी थोड़ा पूर्व कहा जा चुका है कि कविराज जी डा० तकाकुसु के इस मत से सहमत नहीं हैं। अतः यह बात स्पष्ट है कि उनके मत से विन्ध्यवास के हिरण्यसप्तति (या सांख्य-सप्तति) शास्त्र लिखने की चीनी परम्परा मान्य नहीं है। परन्तु इसके विपरीत यदि चीनी परम्परा ठीक हो और विन्ध्यवास तथा ईश्वरकृष्ण भिन्न व्यक्ति हों तो हिरण्यसप्तति शास्त्र सांख्यसप्तति (सांख्यकारिका) नहीं हो सकता। ये सभी सम्भावनायें हैं, पर सत्य क्या है, यह कह सकना कठिन है।

जब विन्ध्यवास के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा ही नहीं जा सकता, तब उनके आविर्भाव काल के विषय में भी क्या कहा जाय? अधिक से अधिक

१—द्रष्टव्य, चौ० सं० सिरीज में प्रकाशित माठर वृत्ति की भूमिका।

२—द्रष्टव्य, भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम में डा० बेल्वाल्कर का पूर्वोद्धृत लेख, पृ० १७५।

३—द्रष्टव्य जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ७।

इतना ही कहा जा सकता है कि चूँकि परमार्थ के अनुसार विन्ध्यवास वसुबन्धु के समकालीन, यद्यपि अवस्था में उनसे बड़े थे और वसुबन्धु को डा० वेल्वाल्कर के अनुसार २८० ई० से ३६० ई० के बीच रक्खा जा सकता है,[1] अतः विन्ध्यवास का समय भी ३०० ई० के आस-पास हो सकता है।

इनके अतिरिक्त देवल, वोढु इत्यादि अन्य प्राचीन सांख्याचार्य भी हुये हैं, पर उनके विषय में कुछ विशेष ज्ञात न होने के कारण यहाँ उनका कोई भी विवरण नहीं दिया जा रहा है।

ईश्वरकृष्ण

आचार्य वार्षगण्य के प्रकरण में कह चुके हैं कि परमार्थ के चीनी अनुवाद के अनुसार ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-ज्ञान वार्षगण्य से प्राप्त किया था। वहाँ यह भी कह चुके हैं कि वार्षगण्य का समय ईसवी शताब्दी के आरम्भ से बहुत पूर्व का ज्ञात होता है। अब यदि चीनी परम्परा ठीक मानी जाय तो निश्चित ही ईश्वरकृष्ण का भी समय ईसवी पूर्व का होगा परन्तु सामान्यतः इनका समय तृतीय शताब्दी से पहले का नहीं माना जाता क्योंकि परमार्थ ने इन्हें वसुबन्धु, जिनका समय एन० पेरी ने ३२० ई० निश्चित किया है (और डा० वेल्वाकर ने भी प्राप्त साक्ष्य के आधार पर २८० ई० से ३६० ई० से के बीच माना है), का सामयिक, यद्यपि अवस्था में इनसे थोड़ा बड़ा माना है[2]। एक बात और, वह यह कि यदि ईश्वरकृष्ण को वार्षगण्य का शिष्य मानकर ईसवी पूर्व शताब्दी में रखा जाय तो अश्वघोष के सांख्य-योग के वर्णन में वार्षगण्य इत्यादि आचार्यों के साथ उनका भी उल्लेख होना चाहिये था, जो नहीं हुआ है। और यदि यह कहा जाय कि शायद अश्वघोष से थोड़ा ही पूर्व होने के कारण उनके समय तक ईश्वरकृष्ण इतने प्रसिद्ध न हो पाये हों कि अश्वघोष उनका उल्लेख आवश्यक समझते, तो २०० ई० के वसु के षट्शास्त्र में तो इनका उल्लेख हो ही सकता था। इससे यही अधिक सम्भव जान पड़ता है कि ईश्वरकृष्ण अश्वघोष के बाद

१—द्रष्टव्य डा० वेल्वाल्कर का लेख, पृ० १८१:—"The general trend of the evidence is for assigning Vasubandhu somewhere between A. D. 280 and 360, and Vindhyavasa by all accounts was Vasubandhu's older contemporary".

२—द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री की भूमिका, पे० १३ :—"The commentary would be placed somewhere near 350 A. D. The date will certainly be in consonance with that of Ishwarakrishna, about 300 A. D., who is said by Paramartha to be an older contemporary of Vasubandhu whose date is fixed by N. Pery at about 320 A. D."

हुये। तब या तो परमार्थ ने वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण के बीच के दो एक कम महत्त्वपूर्ण अतः अज्ञात-प्राय आचार्यों का उल्लेख ही न किया होगा, और ऐसा होना कोई असम्भव बात नहीं है, या फिर ईश्वरकृष्ण के गुरु रूप में उल्लिखित होने वाले वार्षगण्य कोई दूसरे होंगे, जो २०० ई० के आस-पास हुए होंगे।

डा० तकाकुसु ने सांख्य-कारिका और उसकी संस्कृत-टीका, जो परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद का मूल रूप कही जाती है, दोनों का कर्त्ता ईश्वरकृष्ण को ही माना है। चीन और जापान की परम्परा में सामान्यतः ईश्वरकृष्ण को कारिकाकार तथा बोधिसत्त्व वसुबन्धु को टीकाकार मानते है[१]। परन्तु जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा, अय्यास्वामी शास्त्री ने इन दोनों ही मतों को निराधार माना है और ऐसा ठीक ही किया है।

ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका में आया हुआ सांख्य निस्सन्देह निरीश्वर सांख्य है। प्रश्न यह है कि क्या यह सांख्य ईश्वरकृष्ण के पूर्व का है और यदि है तो कितने पूर्व का, अथवा ईश्वरकृष्ण ने ही बोधिसत्त्व वसुबन्धु आदि बौद्धों के सम्बन्ध(यह सम्बन्ध चाहे पारिवारिक रहा हो, चाहे केवल बौद्धिक) में रहने के कारण उनके निरीश्वरवाद से प्रभावित होकर प्राचीन सेश्वर सांख्य को इस नए रूप में रक्खा ? तथ्यों के अभाव में कुछ निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है। इतना अवश्य कह सकते हैं कि सेश्वर योग की परम्परा में पञ्चशिख, वार्षगण्य जैगीषव्य इत्यादि का जैसा उत्कृष्टतम प्रामाण्य माना गया है और जिस सम्मान के साथ उनके मतों का उल्लेख किया गया है, उससे ये सभी आचार्य सेश्वरवादी ही ज्ञात होते हैं। अतः निरीश्वर सांख्य की परम्परा ईश्वरकृष्ण से बहुत पूर्व की नहीं ज्ञात होती।

एक प्रश्न सांख्य-कारिकाओं के सम्बन्ध में भी उठता है, वह इनकी संख्या का। यों तो ग्रन्थ के अन्त[२] में कारिकाकार ने ही इनकी संख्या सत्तर बताई

१—द्रष्टव्य अय्यास्वामी की भूमिका, पे० ३४—'Chinese and Japanese writers attribute generally Sankhya Karika to Ishwarakrishna and the commentary to Bodhisattva Vasubandhu, and believe that the Bodhisattva wrote the commentary when he took up the refutation of the erroneous doctrines of Sankhya philosophy."

२ - द्रष्टव्य सांख्यकारिका, ७२ :—सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि॥

है और उनका स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध होने पर इस विषय में किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रह जाता। पर चूँकि वर्तमान रूप में इस ग्रन्थ में सांख्य-सिद्धान्त-विषयक ६६ ही कारिकायें[१] उपलब्ध हैं, ७० वीं कारिका में सांख्य-शास्त्र की गुरु-परम्परा दी गई है, शेष दो कारिकायें प्रस्तुत ग्रन्थ के ही विषय में कही गई हैं, जो यह बताती हैं कि ईश्वरकृष्ण ने शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुये सांख्य-शास्त्र को सत्तर ही कारिकाओं में संक्षिप्त करके रख दिया है और इनमें बृहत् "षष्टितन्त्र" का सारा विषय आ गया है, केवल इसके आख्यान और पर-मत-खण्डन छोड़ दिए गए हैं; अतएव संख्या-विषयक शंका होती है। अब यदि इस ग्रन्थ की सारी कारिकायें ली जायँ तो इनकी संख्या ७२ होती है और यदि केवल सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली कारिकायें ली जायँ तो संख्या ६६ ही होती है। तब फिर प्रश्न यह है कि ७०वीं कारिका कौन सी है? ७२ वीं कारिका पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कारिकाकार ने जो ७० संख्या दी है, वह उन्हीं कारिकाओं की दी है जो षष्टितन्त्र में आए हुए सांख्य-ज्ञान का प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार अन्तिम दो कारिकायें तो स्पष्ट ही उन ७० के बाहर हैं। अब रही ७०वीं कारिका जिसमें सांख्य का गुरु-सम्प्रदाय उल्लिखित है, सिद्धान्त-प्रतिपादन-विषयक न होने के कारण अनेक विद्वान् इसे भी ७० के अन्तर्गत नहीं मानते। अतः उनका मत है कि एक कारिका कहीं बीच से लुप्त हो गई है।

इस प्रश्न को सर्व प्रथम लोकमान्य पं० बाल गंगाधर जी तिलक ने उठाया था, और ६१वीं कारिका के गौडपाद-भाष्य में विषयान्तर देखकर वे इस निर्णय पर पहुँचे थे कि उक्त भाष्य एक नहीं, दो कारिकाओं का है और यह दूसरी कारिका इसी ६१वीं कारिका के बाद होनी चाहिये। यह विषयान्तर गौडपाद-भाष्य के ही शब्दों में इस प्रकार है:—"केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते-'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा॥' अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते—'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव' इति। अत्र सांख्याचार्या आहुः—'निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। तथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुणः ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति।

१—वस्तुतः सिद्धान्त-विषयक ६८ ही कारिकायें हैं, पर ६६ का कथन अन्य लोगों के अनुसार किया गया है।

तथा केषाञ्चित् कालः कारणमिति, उक्तञ्च—'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः'॥ इति। व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति।" इस भाष्य के आधार पर तिलक जी ने लुप्त कारिका का जो स्वरूप निर्धारित किया, वह इस प्रकार है—

'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

उनके मत से इस कारिका का सन्दर्भ भी ठीक बैठ जाता है। डा० हरदत्त शर्मा ने तिलक जी के पूर्वोक्त तर्क का समर्थन बड़े सबल शब्दों में किया है, और पं० सूर्यनारायण शास्त्री के एतद्-विरोधी तर्क का खण्डन किया है[1]। पर उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि किसी भी मौलिक ग्रन्थ के किसी भाष्य में विषयान्तर प्राप्त होने भर से ही उसके तद्विषयक किसी अंश के लुप्त होने का निश्चय नहीं हो जाता, जब तक उसके पक्ष में अन्य सबल प्रमाण न हों। फिर तिलक जी के इस तर्क का कि 'लुप्त कारिका का पूर्वापर सन्दर्भ ठीक बैठ जाता है', डा० शर्मा ने भी समर्थन नहीं किया। शायद इसलिए कि इसका समर्थन किया ही नहीं जा सकता था। कारिकाकार के ५३वीं कारिका से लेकर ६१वीं कारिका तक के कथन का एक-मात्र विषय यही है कि 'प्रकृति-कृत सर्ग केवल पुरुष के भोग एवं तदनन्तर विवेक-ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराने के लिए है और ज्यों ही प्रकृति ने पुरुष का यह अर्थ या कार्य सम्पन्न किया, त्यों ही वह उसकी ओर से निवृत्त हो जाती है और फिर कभी भी उसकी दृष्टि में नहीं आती क्योंकि वह उस परम लज्जालु सुकुमारी कुलांगना से भी अधिक लज्जालु है जो किसी पुरुष के द्वारा एक बार देख ली जाने पर सर्वथा उसकी दृष्टि बचाती है'। इस सन्दर्भ में उपर्युक्त कारिका की संगति कैसे बैठगी जिसमें ईश्वर, काल, स्वभाव आदि की सृष्टि-कारणता के निराकरण के साथ प्रकृति के कारण-वाद का समर्थन किया गया है ! इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि ६१वीं कारिका का गौडपाद-भाष्य विषयान्तर है तो उसके आधार पर गढ़ी गई तथाकथित ६२वीं कारिका भी विषयान्तर, और वह भी मूल ग्रन्थ से, प्रस्तुत करती है और इन दोनों में से

१—द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी का ओ०बु०ए० पूना का संस्करण, संस्कृत अंश, पृ० ७३ ७४।

मूल ग्रन्थ में होने वाला विषयान्तर ही अधिक अक्षम्य होगा। अतः तिलक जी एवं डा० शर्मा का कथन निराधार प्रतीत होता है।

अब प्रश्न यह है कि ७०वीं कारिका कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में विनम्र निवेदन है कि जो कारिका-ग्रन्थ आज-कल उपलब्ध है, उसमें प्राप्त होने वाली ७०वीं कारिका को ही सांख्यकारिका की ७०वीं कारिका मानना युक्ति-युक्त है। सन् १९२३ ई० के इण्डियन ऐण्टीक्वैरी के जुलाई वाले अंक में पं० श्रीधर शास्त्री पाठक ने इस विषय पर जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे बड़े संगत हैं। उनके लेख का अन्तिम भाग इस प्रकार है :—

"Having thus stated our grounds for the rejection of the proposed Karika, we shall now briefly show that it is not necessary to have any Karika at all to make up the number seventy. The seventieth Karika as it stands, gives the Guru-parampara, as is often the practice in old works. Thus the बृहदारण्यक concludes with a chapter that gives a fairly long list of succession from preceptor to pupil. The षष्टितंत्र, which is the source of the Sankhya-Karikas, must have given this Guru-parampara, and therefore, there cannot be the least objection to counting the present seventieth Karika, among the seventy, which are referred to in the seventy-second verse (सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य). This is the most natural explanation. When Ishwarakrishna writes that his seventy Karikas contain all matters that are treated in "the whole of Shashtitantra", he does not include only the purely doctrinal part in the words "the whole of Shashtitantra", but also the Guruparampara, which we have every reason to believe, formed the concluding part of it. It does not seems, therefore, necessary, when such a simple and natural explanation of the existence of the seventy Karikas is available, to search for a new Karika.

Now the 71st Karika is one of the two concluding Karikas, of the book Sankhya Karika..............Wilson asks why this stanza also should not be included in the seventy. But it is fairly clear from what we have said above that the doctrinal part and the Guru-parampara of the Shashtitantra are to be found in the seventy Aryas, while the seventy-first which is

concerned with Ishwarakrishna, the author himself of the Sankhya-Karikas, can have formed no part of the Shashtitantra which is a far older work."

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गुरु-परम्परा का कथन करने वाली कारिका को ही ७० वीं कारिका मानने में न केवल कोई दोष नहीं है अपितु पूर्व परम्परा का पालन होने से सर्वथा औचित्य ही दीख पड़ता है।

सांख्य-कारिका के टीकाकार

ईश्वरकृष्ण की ये कारिकायें संक्षिप्त एवं सार-गर्भित होने के कारण इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इन पर एक नहीं, कई विद्वानों ने टीकायें लिखीं जिनमें गौडपाद जैसे परम योगी एवं वाचस्पति मिश्र जैसे महा-महिम आचार्य की भी टीकायें हैं। इनके अतिरिक्त युक्तिदीपिका, माठर-वृत्ति, शंकरार्य-कृत जयमंगला इत्यादि अन्य प्राचीन तथा नारायणतीर्थ-कृत सांख्य-चन्द्रिका जैसी अपेक्षाकृत अर्वाचीन टीकाएँ भी हैं। किन्तु इन कारिकाओं की सर्वाधिक प्राचीन टीका शायद वह थी जिसका अनुवाद उज्जयिनी के बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने सन् ५५७ से ५६९ ई० के बीच चीनी भाषा में किया था। स्पष्ट है कि यह टीका छठीं शताब्दी के मध्य के पर्याप्त पूर्व लिखी गई रही होगी। इसका लेखक कौन था?—इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मत-भेद है। भूतपूर्व डा० तकाकुसु ने बहुत पूर्व लिखा था कि बील के मतानुसार यह टीका-ग्रन्थ गौडपाद-कृत भाष्य ही था। परन्तु बाद में जब उन्होंने इसके चीनी अनुवाद का फ्रांस की भाषा में अनुवाद किया तो उसकी भूमिका में इस प्रश्न पर विशेष विचार करने के बाद वे इस निर्णय पर पहुँचे कि "चीनी अनुवाद गौड-पाद-भाष्य का नहीं है, फिर भी दोनों में कुछ सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि दोनों के अनेक शब्द, उद्धरण तथा व्याख्यानात्मक दृष्टान्त अनुरूप या समान हैं[1]"। प्रो० बेल्वाल्कर चीनी अनुवाद तथा माठर-वृत्ति की तुलना करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि माठर-वृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल रूप है[2]। परन्तु लोकमान्य तिलक बहुत पूर्व सन् १९१५ में माठर-वृत्ति की किसी हस्त-लिखित प्रति के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का निरीक्षण एवं विचार करने के अनन्तर इस निर्णय पर पहुँचे थे कि माठर-वृत्ति एवं चीनी

१—द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा लिखित सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ३।
२—द्रष्टव्य Bhandarkar Commemoration volume, पृ० १७१-१८४।

अनुवाद का मूल (संस्कृत रूप)—दोनों एक नहीं हो सकते[१]। प्रो० कीथ तथा पं० एस० सूर्यनारायण भी इसी मत के हैं। पं० अय्यास्वामी शास्त्री भी चीनी अनुवाद के स्व-कृत संस्कृत रूपान्तर की भूमिका में उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की सविस्तर एवं सूक्ष्म तुलना के बाद इसी निर्णय पर पहुँचे हैं। उनके मत में न तो माठर-वृत्ति और न गौडपाद-भाष्य ही चीनी अनुवाद के मूल रूप हैं। ४५० ई० के पूर्व के जैन ग्रन्थ 'अनुयोग-द्वार-सूत्र' में उल्लिखित सांख्य-ग्रन्थ 'माठर' तथा जैन ग्रन्थकार हरिभद्र सूरि द्वारा रचित 'षड्दर्शनसंग्रह' पर स्व-रचित टीका में गुणरत्न द्वारा उल्लिखित 'माठर-भाष्य' के आधार पर अय्यास्वामी शास्त्री इसी 'माठर' या 'माठर-भाष्य' को चीनी अनुवाद का मूल रूप मानने के पक्ष में हैं। अपनी इस मान्यता के लिए उन्होंने प्रबल तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनके कथन का सारांश इस प्रकार है:—

जैन-ग्रन्थ अनुयोगद्वार-सूत्र में, जो लगभग ४५० ई० के बाद का नहीं हो सकता, सांख्य-ग्रन्थ के रूप में 'माठर' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख आया है। गुणरत्न ने भी सांख्य दर्शन के ग्रन्थों में 'माठर-भाष्य' का उल्लेख किया है, जो शायद अनुयोग-द्वार-सूत्र में उल्लिखित 'माठर' ही हो। इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह नहीं है कि गुणरत्न को 'माठर-भाष्य' का व्यक्ति-गत ज्ञान था। बहुत संभव है कि उन्होंने 'अनुयोग-द्वार-सूत्र' जैसे प्राचीन ग्रन्थों के लेख के आधार पर ही लिखा हो। पर इतना तो अवश्य निश्चित है कि अपने वर्तमान रूप में 'माठर-वृत्ति' उन्हें ज्ञात थी क्योंकि इसका एक श्लोक उन्होंने उद्धृत किया है। इसे उन्होंने 'माठर-प्रान्त' के नाम से उद्धृत किया है, 'माठर-भाष्य' के नाम से नहीं। इस लिए यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि गुणरत्न ने माठर-भाष्य एवं माठर-प्रान्त में स्पष्ट अन्तर किया है। प्रो० कीथ का कथन है कि "'माठर' या 'माठर-भाष्य' षष्टितन्त्र की टीका है 'सांख्य-कारिका' की नहीं क्योंकि गुणरत्न ने इस विषय में 'षष्टितन्त्रोद्धाररूपं माठरभाष्यम्' लिखा है"। सच तो यह है कि 'षष्टितन्त्रोद्धाररूपं' का माठर-भाष्यम्' के साथ अन्वय आवश्यक नहीं है, क्योंकि जहाँ से वह उद्धृत किया गया है, वहाँ प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् सांख्य-ग्रन्थ के लिए आया है। परन्तु यदि प्रो० कीथ के सुझाव के अनुसार दोनों को एक साथ लें, तब तो यह बात और भी अधिक सम्भव है कि 'माठर-भाष्य' सांख्यकारिका की ही टीका है, क्योंकि सांख्य-कारिका की अन्तिम कारिका के अनुसार ईश्वरकृष्ण ने समस्त 'षष्टितन्त्र' शास्त्र

१—द्रष्टव्य Sanskrit Research भाग १, पृ० १०८।

को सत्तर कारिकाओं में ही संक्षिप्त करके रख दिया है, केवल उसके आख्यानों और पर-मत-खण्डनों को छोड़ दिया है;अतः यदि इन कारिकाओं की कोई टीका 'षष्टितन्त्र' के इन छूटे हुए अंशों को देती है,तो वह निस्सन्देह 'षष्टितन्त्रोद्धार-रूप' नाम पाने योग्य है। सांख्य के कुछ मुख्य सिद्धान्तों पर चीनी अनुवाद में सांख्य-कारिका तथा बाद के अन्य सांख्य-ग्रन्थों से जो वैशिष्ट्य या भेद दीख पड़ता है, उसकी भी उपर्युक्त के साथ अधिक संगति बैठती है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त बातों में इस ग्रन्थ में षष्टितन्त्र -इत्यादि जैसे प्राचीन ग्रन्थों का अनुसरण किया गया है[1]।

अय्यास्वामी शास्त्री के कथन के उपर्युक्त सारांश से ही डा० तकाकुसु के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि सांख्य-कारिका और उसकी टीका, जिसका अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया; दोनों ही ईश्वरकृष्ण ने ही लिखी थी क्योंकि किसी भी विषय में एक ही ग्रन्थकार का वैसा मत-वैषम्य कैसे हो सकता है, जैसा सांख्यकारिका और चीनी अनुवाद में पाया जाता है। जैसे पञ्च तन्मात्रों और इन्द्रियों—दोनों की ही उत्पत्ति सांख्यकारिका २२ और २८ में अहङ्कार से बताई गई है, पर चीनी अनुवाद में ३, ८,१०, १५, ५६, और ५९ कारिकाओं के व्याख्यान में सारी इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रों से और ये पञ्च तन्मात्र स्वयं अहङ्कार से निकले हुए कहे गए हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में भी दोनों में मत-वैषम्य है। यद्यपि सांख्यकारिका में इसके विषय में स्पष्ट कुछ भी नहीं कहा गया है, परन्तु ३९ वीं कारिका को २४वीं, २५वीं और ३८वीं कारिकाओं के साथ मिलाकर पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण के मत से यह शरीर महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र तथा एकादश इन्द्रियाँ—इन अठारह तत्त्वों का बना होता है, और गौडपाद-भाष्य को छोड़ कर अन्य सभी टीकाओं की भी यही मान्यता है। परन्तु गौडपाद भाष्य एव चीनी अनुवाद में इसे महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र— इन सात ही तत्त्वों का बना बताया गया है[2]। इस प्रकार शास्त्री जी के मत से वह टीका, जिसका अनुवाद परमार्थ ने ५४६ ई० में चीन जाने के बाद किया, स्वयं ईश्वरकृष्ण की लिखी हुई नहीं हो सकती। चीन और जापान के लेखकों का यह मत है कि सांख्य-कारिका की उपर्युक्त संस्कृत टीका वसुबन्धु की लिखी हुई है, पर अय्यास्वामी के पूर्वोक्त तर्कों से यह मत भी सही नहीं लगता।

१—द्रष्टव्य सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र की भूमिका, पे० ३९, ४०।

२—पं० उदयीवीर शास्त्री ने इसे पं० अय्यास्वामी शास्त्री का भ्रम माना है।

माठर-वृत्ति, जैसा कि पूर्वागत विवरण से स्पष्ट हो चुका है, माठर-भाष्य का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ती है। प्रो० बेल्वाल्कर ने 'भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ'[१] में जो इसे परमार्थ के चीनी अनुवाद का पूर्व-रूप सिद्ध किया है, वह अब मान्य नहीं हो सकता। अय्यास्वामी ने दोनों की विस्तृत एवं सूक्ष्म तुलना करके इसे नितान्त स्पष्ट कर दिया है कि चीनी अनुवाद माठर-वृत्ति से बहुत भिन्न है।

पहले कहा जा चुका है कि गुणरत्न को माठर-वृत्ति अपने वर्तमान रूप में ज्ञात थी। पं० अय्यास्वामी का कथन है कि 'माठर-वृत्ति' बहुत प्राचीन अर्थात् परमार्थ के पूर्व की नहीं हो सकती क्योंकि इसमें हस्तामलकस्तोत्र का भी एक उद्धरण मिलता है, जो ८०० ई० के आस-पास का होगा क्योंकि हस्तामलक स्वामी शंकराचार्य के चार शिष्यों में से एक थे और शङ्कर का समय ७८८ ई० से ८२० ई० तक माना जाता है। इसमें आए हुए भागवत के उद्धरणों से भी यही बात सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर वेदान्त के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, जैसे इसको मोक्ष-विषयक धारणा वही है जो वेदान्त की है। सांख्य का वेदान्त के साथ यत्र-तत्र समन्वय करने का प्रयास विज्ञान भिक्षु इत्यादि परवर्ती आचार्यों में ही दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट लगता है कि माठर-वृत्ति १००० ई० के बाद ही लिखी गई होगी[२]। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने भी अपने 'गौडपादभाष्य एवं माठरवृत्ति'[३] नामक लेख में माठर-वृत्ति का यही काल सिद्ध किया है। डा० जानसन ने भी अपने 'Early Sankhya' नामक ग्रन्थ में लगभग यही बात कही है[४]।

गौडपाद-भाष्य में ऐसी कोई बात नहीं आई है जिससे इस ग्रन्थ का भगवान् शंकराचार्य के परम गुरु गौडपाद से परवर्तित्व सिद्ध हो। इसमें प्राचीन सांख्य की बहुत सी बातें मिलती हैं जिससे इसका प्राचीन होना

१—द्रष्टव्य Bhandarkar Commemoration Volume' pp 172—184: ' Matharavritti And The Date of Ishwarakrishna'

२—द्रष्टव्य, अय्यास्वामी शास्त्री की सुवर्णसप्तति-शास्त्र की भूमिका, पे० ६० ।

३—यह लेख आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फरेन्स के छठें अधिवेशन में पढ़ा गया था।

4. 'The Matharavritti which is closely related to it (viz. the Gaudapada-bhashya) and which, though possibly preserving a little earlier matter, seems on the whole to be later'—P.11,

सत्य हो सकता है। फिर इसकी व्याख्यान-शैली भी इतनी संक्षेपात्मक है कि यह ग्रन्थ गौडपाद-कृत ही लगता है। पर इसके विपरीत बहुतों की ऐसी धारणा है कि यह ग्रन्थ शंकराचार्य के परम गुरु गौडपाद का लिखा नहीं हो सकता।

सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में 'जयमंगला' भी एक है। यह शंकराचार्य के नाम से प्रचलित है। परन्तु इसका जो संस्करण बहुत पूर्व काशी से निकला था, उसकी भूमिका में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने स्पष्ट किया है कि यह भाष्यकार शंकराचार्य की लिखी टीका नहीं हो सकती। इसका कर्ता शंकरार्य नामक कोई बौद्ध भिक्षु था। ५१वीं कारिका में आई हुई अष्ट सिद्धियों का स्वाभिमत व्याख्यान देकर तत्त्वकौमुदीकार ने 'अन्ये व्याचक्षते' इत्यादि शब्दों द्वारा अपने पूर्ववर्ती किसी व्याख्याता के मत का उल्लेख किया है। महामहोपाध्याय डा० हरदत्त शर्मा का कथन[1] है कि यह मत जयमङ्गलाकार का है। यदि यह सत्य है तो जयमङ्गलाकार का समय वाचस्पति मिश्र के समय अर्थात् नवम शताब्दी के पहले का होगा। वैसे गौडपाद-भाष्य में भी अष्ट सिद्धियों का इसी प्रकार का व्याख्यान मिलता है और हो न हो, वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त स्थल में गौडपाद का ही मत दिया हो।

सांख्यकारिका की दो और टीकायें भी हैं जो अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन हैं। एक तो है मुडुम्ब नरसिंह स्वामिन् की 'सांख्यतरुवसन्त' नामक टीका, और दूसरी है नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका। दोनों का ही समय बहुत बाद का है। नारायण तीर्थ मधुसूदन सरस्वती के बाद के होने के कारण सत्रहवीं के उत्तरार्ध तथा अठारहवीं के प्रथम पाद के होंगे। सांख्यचन्द्रिका भी संक्षिप्त टीका है। यद्यपि यह बहुत बाद की रचना है, तथापि माठर-वृत्ति की भाँति इसमें सांख्य के साथ वेदान्त का सम्मिश्रण प्रायः नहीं मिलता। हाँ, मुख्यतः वेदान्ती विचार-धारा के पोषक होने के कारण नारायण स्वामी ने यत्र-तत्र सांख्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वेदान्त का प्रमाण अवश्य दिया है। जैसे ६३ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति—सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण—के व्याख्यान में पुरुषार्थ को 'स्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षम्' भर ही कहा है, स्वरूप में माठर-वृत्ति की भाँति चित् के साथ आनन्द का समन्वय करके उसे वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप नहीं दिया है। परन्तु आगे

१—द्रष्टव्य 'Jayamangala and other commentaries on the Sankhya-Karikas' in Indian Historical Quarterly, Vol. V, P. 429.

'एकरूपेण' का व्याख्यान करते हुए 'एकेन रूपेण ज्ञानेन मोचयति संसारान्नि-वर्तयति; एतेन वैराग्योपरत्याद्यभावेऽपि ज्ञानं मोक्षस्य कारणं भवत्येवेति ज्ञापितम्, उक्तं च तथा वेदान्तेषु—पूर्णबोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा । मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दुष्टदुःखं न नश्यति ॥' इत्यादि लिखा है । वेदान्त के विद्यार्थी को स्पष्ट ही ज्ञात होगा कि यह विषय पञ्चदशी इत्यादि में सविस्तर प्रतिपादित है । पर वेदान्त से भी बढ़कर इसमें योगशास्त्र के प्रमाण मिलते हैं । सारी टीका इस शास्त्र के उदाहरणों से भरी है । इसका मुख्य कारण तो यह है कि सांख्य का व्यावहारिक पक्ष योग ही है, बिना यौगिक क्रियाओं के सांख्य के सत्यों का अनुभव नहीं किया जा सकता । अतः दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सांख्य के ग्रन्थ में योग के उद्धरणों का प्राप्त होना स्वाभाविक है । पर इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त होने का कारण यह भी है कि नारायण तीर्थ स्वयं योगी थे । अतः उनका दृष्टिकोण सर्वत्र एक योगी का ही रहा है ।

सांख्य-कारिका की उपर्युक्त सभी टीकायें अपना कुछ न कुछ वैशिष्ट्य रखती हैं । परन्तु वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी टीका इन सब से बढ़कर है । इतनी पाण्डित्य-पूर्ण तथा गम्भीर टीका और कोई नहीं है । अन्तिम कारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका को षष्टितन्त्र के सारे विषयों का प्रतिपादक होने के कारण 'शास्त्र' कहा है, और किसी 'शास्त्र' ग्रन्थ का जैसा गुरु गम्भीर विवेचन होना चाहिए, इनकी तत्त्वकौमुदी में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है । इस टीका में प्रवेश पाने का न तो सहसा साहस ही होता है और न सहसा प्रवेश मिलता ही है । इसकी इस दुरूहता का कारण जहाँ एक ओर वाचस्पति मिश्र का अगाध आचार्यत्व है, वहाँ दूसरी ओर उनकी नैयायिक-शैली भी है जो लिङ्ग एवं व्याप्ति-ज्ञान का ही विशेष आश्रय लेती है । साथ ही ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं की सूत्रात्मक सूक्ष्मता भी इसमें कम हेतु नहीं है ।

आचार्य वाचस्पति मिश्र समस्त दर्शन-शास्त्रों में निष्णात थे, इसीलिए भारतीय पण्डित-समाज उन्हें 'द्वादश-दर्शन-कानन-पञ्चानन' कहकर उनके प्रति अपना असीम श्रद्धा-भाव एवं समादर प्रकट करता है । उनकी जैसी अप्रतिहत गति शाङ्कर वेदान्त में थी जिसके वे मानने वाले थे और जिसके दो प्रस्थानों में से 'भामती-प्रस्थान' के वे प्रवर्तक थे, वैसी ही गति न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग में भी थी । ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य पर लिखी हुई भामती यदि आज भी उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रतीक बनी हुई है, तो न्याय के तात्पर्य का उद्घाटन करने वाली न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका भी अद्यावधि उनकी अक्षय कीर्ति का सुदृढ स्तम्भ

बनी है, और उनकी सांख्य-कारिकाओं की टीका तत्त्वकौमुदी तथा योगभाष्य की टीका तत्त्ववैशारदी भी किसी प्रकार से कम महत्त्व की नहीं है। इतने विविध शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुये भी उन्होंने जिस समय जिस शास्त्र का व्याख्यान करना आरम्भ किया है, उस समय उसी के रहस्यों को खोलने और गुत्थियों को सुलझाने की पूर्ण निष्ठा और तत्परता के साथ चेष्टा की है। इतर शास्त्रों की विरोधी और बेमेल बातें उठाकर वे किसी शास्त्र-विशेष में श्रद्धा रखने वाले पाठक की बुद्धि को उद्भ्रान्त नहीं करते। न्याय में सांख्य एवं सांख्य में वेदान्त के उच्चतर सिद्धान्तों को उठाकर प्रस्तुत शास्त्र के सिद्धान्तों की हीनता नहीं प्रकट करते।

सांख्य-कारिका में अनेक ऐसे स्थल आये हैं, जहाँ आचार्य वाचस्पति का स्पष्ट मत-भेद रहा होगा; पर उन्होंने बिना किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी किए उसके प्रतिपाद्य विषय का बड़ी सत्यता के साथ विवेचन किया है। उनकी यह विशेषता पाठकों के हृदय को उनके प्रति श्रद्धा से आवर्जित कर देती है। उदाहरणार्थ सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली नवम कारिका के व्याख्यान में जहाँ वेदान्त के मायावाद का प्रसङ्ग आया है, वहाँ अपने सिद्धान्त का मोह छोड़कर 'प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम्' ऐसा लिख कर उसका खण्डन ही किया है, ताकि सांख्य के विद्यार्थी की उसके सत्यकार्यवाद अर्थात् 'प्रकृति का जगत् रूप कार्य सत् ही है, असत् नहीं क्योंकि असत् की उत्पत्ति शश-शृङ्ग की भाँति असम्भव है'—इस सिद्धान्त में श्रद्धा हो सके। इसी प्रकार अठारहवीं कारिका में पुरुष का बहुत्व सिद्ध करने के लिए दिये गए तर्क इतने निराधार या खोखले हैं कि यदि आचार्य वाचस्पति मिश्र चाहते तो वे इनकी कटु आलोचना कर सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है, अपितु गम्भीरता-पूर्वक उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। ये तर्क निराधार या निस्सार इसलिये हैं कि जिस 'पुरुष' की वास्तविक अनेकता सिद्ध करने के लिए तर्क दिए गये हैं, वह तो परमार्थतः असंग, उदासीन और अव्यवहार्य है, और जो तर्क दिए गये हैं, वे सामान्य या व्यावहारिक जीवन के हैं। वस्तुतः कभी भी जन्म और मरण न प्राप्त करने वाला 'पुरुष' 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' (अर्थात् सभी पुरुष एक साथ जन्म एवं मरण न प्राप्त करने के कारण एक हो नहीं सकते, एक ही होते तो एक साथ ही जन्म लेते और मरते) इत्यादि तर्कों के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए स्वतः प्रवृत्त होने वाली अचेतन प्रकृति के लिए ५७ वीं कारिका में दिया

गया 'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य' इत्यादि दृष्टान्त कुछ संगत नहीं प्रतीत होता। पर इसके विरुद्ध कुछ कहने के स्थान में आचार्य ने ईश्वर-वाद की ही बड़ी मीठी चुटकी[1] ली है।

पर जहाँ आचार्य वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी में उपर्युक्त गुण हैं, वहाँ कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उनकी सांख्य और योग की टीकायें उन शास्त्रों के रहस्यों को उद्घाटित करने की दृष्टि से बहुत सफल नहीं कही जा सकतीं। उनका कथन है कि वाचस्पति मिश्र प्रकाण्ड आचार्य अवश्य थे परन्तु योगी नहीं थे और बिना स्वयं योगी हुये योग के द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्यों तथा रहस्यों का उद्घाटन दुष्कर है। इसीलिए छठीं कारिका—जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रमेय का ज्ञान किस प्रमाण से होता है?—का उनका व्याख्यान ठीक नहीं है। उन्होंने सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रधान और पुरुष का ज्ञान तथा उससे भी प्रतीत न होने वाले स्वर्ग, देवता इत्यादि का ज्ञान आगम प्रमाण से बताया है। वस्तुतः इस कारिका का अर्थ यह है कि सर्व-सामान्य वस्तुओं का ज्ञान 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से, प्रकृति तथा पुरुष जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से तथा अतीन्द्रिय 'कैवल्य' का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है[2]। नारायण तीर्थ ने भी 'सामान्यतस्तु दृष्टात्' इत्यादि प्रथम पंक्ति का यही अर्थ किया है, परन्तु 'तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्' इस द्वितीय पंक्ति का वैसा ही अर्थ[3] किया है, जैसा वाचस्पति मिश्र ने। गौडपाद-कृत अर्थ[4] तो सर्वथा आचार्य वाचस्पति मिश्र का ही अर्थ है। ऐसी स्थिति में कौन सा अर्थ कारिका-कार का अभिप्रेत अर्थ है—यह कहना यद्यपि कठिन है, तथापि द्वितीय अर्थ के पक्ष में इतना अवश्य वक्तव्य है कि सांख्य-शास्त्र प्रमाण-प्रधान नहीं, प्रमेय-प्रधान है और इसके प्रमुख प्रमेय 'प्रकृति' एवं 'पुरुष' तथा इसका अन्तिम लक्ष्य इन दोनों के विवेक-ज्ञान से प्राप्तव्य 'कैवल्य' ही है। अतः इसमें जो महत्त्व इनका

१—द्रष्टव्य का० ५७ की तत्त्वकौमुदी का द्वितीय पैरा।

२—इस अर्थ के लिए मैं पूज्य पं० क्षेत्रेशचन्द्रचट्टोपाध्याय जी का ऋणी हूँ। उनसे ज्ञात हुआ है कि पं० गोपीनाथ जी कविराज इसी को ठीक मानते हैं।

३—तस्मादपि (अनुमानादपि) परोक्षमतीन्द्रियं यागस्वर्गसाधनत्वादि, आप्तागमात् शब्द-प्रमाणादित्यर्थः—का० ६ की सांख्यचन्द्रिका।

४—सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां...सिद्धिः। प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतो-दृष्टानुमानेन साध्येते। ××× तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्, यथेन्द्रो

है, वह याग, स्वर्ग, देवता इत्यादि का नहीं है।[१] ऐसी स्थिति में अधिक स्वाभाविक यही है कि प्रमाणों का प्रमेयों में यथा-योग्य उपयोग बताने वाली सांख्य-कारिका में कैवल्य-विषयक प्रमाण का कथन अवश्य होगा, चाहे याग, स्वर्ग और देवता इत्यादि गौण विषयों में प्रवृत्त होने वाले प्रमाण का कथन हो या न हो। इस दृष्टि से तो द्वितीय अर्थ ही अधिक संगत लगता है।

इसी प्रकार पुरुष-बहुत्व को सिद्ध करने वाले तर्कों की प्रतिपादक अठारहवीं कारिका के अर्थ में वाचस्पति मिश्र ने कोई विशेष मौलिकता नहीं दिखाई है, यद्यपि इसके लिए अवकाश था; क्योंकि जैसा थोड़ा पहले कहा जा चुका है, कारिकाकार के तर्क 'पुरुष-बहुत्व' को सिद्ध नहीं कर पाते और उनकी इस त्रुटि को वाचस्पति मिश्र ने अवश्य अनुभव किया होगा। पर इसके लिए उन्होंने कोई दृढ़तर तर्क नहीं दिया, यद्यपि दृढतर तर्क दिए जा सकते थे। वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले, सांख्य और योग के परम विद्वान् एवं योगी श्री हरिहरानन्द आरण्यक ने अपने 'सांख्य-तत्त्वालोक' में इस विषय पर सुदृढ एवं मौलिक तर्क प्रस्तुत किया है।[२]

पूर्वोक्त कथन में सत्यता अवश्य है, पर इससे तत्त्वकौमुदी का मूल्य कम नहीं किया जा सकता, यह निर्विवाद है। आधुनिक काल में इस पर अनेक टीकायें लिखी जा चुकी हैं, जिनमें स्वामी बालराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी, पं० हरीराम शुक्ल की सुषमा, पंडितराट् वंशीधर मिश्र की बृहत् टीका सांख्य-तत्त्व-दिवाकर, श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य की किरणावली, तथा शिवनारायण शास्त्री की सारबोधिनी अधिक प्रसिद्ध हैं।

सांख्य शास्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धान्त

१. प्रमाण

सांख्य शास्त्र मुख्यतः प्रमेय-शास्त्र है, प्रमाण-शास्त्र नहीं, यह पहले कह चुके हैं। परन्तु प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से ही होने के कारण इनकी आवश्यकता सांख्य-शास्त्र को भी है ही। अतः प्रमेयों पर सविस्तर विचार करने के पूर्व प्रमाणों पर भी कुछ गहराई में जा कर विचार कर लेना सर्वथा उचित ही

देवराज उत्तराः कुरवः स्वर्गोऽप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम्॥ का० ६ का गौडपाद भाष्य।

१—द्रष्टव्य, प्रस्तुत भूमिका में पूर्व आया हुआ पञ्चशिख का विवरण।

२—द्रष्टव्य सांख्य-तत्त्वालोक, पृ० ३,४।

होगा । ये प्रमाण तीन हैं—दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्तवचन (आगम) । अन्य मतों में माने जाने वाले इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों का सांख्य के अनुसार इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है । 'प्रमाण' सामान्यतः प्रमा अर्थात् यथार्थ-ज्ञान के मुख्य साधन को कहते हैं । तत्त्वकौमुदी के शब्दों में 'यह मुख्य साधन वह चित्तवृत्ति है, जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो । ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अतएव उसका फलभूत पुरुषवर्ती[1] बोध[2] प्रमा है । इसी के साधन को प्रमाण कहते हैं । इस कथन से संशय, भ्रम तथा स्मृति के साधनों में प्रमाण की प्रसक्ति नहीं हो सकती अर्थात् इन सबके साधन प्रमाण नहीं हो सकते' ।[3] परन्तु सांख्य-तत्त्वकौमुदी के प्रसिद्ध टीकाकार राजेश्वर शास्त्री, बालराम, श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य तथा शिवनारायण शास्त्री इत्यादि 'असन्दिग्धा प्रमाणभिति' पाठ मानते हैं । इसके अनुसार सांख्य शास्त्र में कोई अर्थ केवल प्रमाण ही होता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय इत्यादि । कोई प्रमा और प्रमाण दोनों ही होता है, जैसे चित्त-वृत्ति; यह सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण प्रमा भी है तथा पौरुषेय बोध का करण—मुख्य कारण—होने से प्रमाण भी है । कोई केवल प्रमा होता है, जैसे पौरुषेय बोध । कोई केवल प्रमाता ही होता है, जैसे बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसे व्यवहार में 'जीव' कहते हैं । इस प्रकार चित्त-वृत्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न पौरुषेय बोध दोनों ही प्रमा हैं । इनमें से प्रथम का पर्यवसान दूसरे प्रकार की प्रमा में होता है । अतः उसका फल होने के कारण दूसरी ही मुख्य प्रमा है । प्रमा का साधन होने के कारण प्रमाण भी द्विविध होगा । एक प्रमाण तो चित्त-वृत्ति का मुख्य साधन होने के कारण अर्थ-सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ हैं और दूसरा प्रमाण पौरुषेय बोध का साधन होने के

१—पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वमाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते एवं च चितिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यात्मक एव बोधो, न पुरुषधर्म इति ।—विद्वत्तोषिणीकाराः ।

२—नैयायिकानामनुव्यवसायः—घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति—पुरुषगत ।—डा० झा

३—द्रष्टव्य का० ४ पर सांख्य-तत्त्वकौमुदी :—तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः । बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति । एतेन संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः ।

कारण यह चित्त-वृत्ति ही है। राजेश्वरशास्त्री-कृत टिप्पणी, सारबोधिनी, विद्वत्तोषिणी[1] (बालरामकृत), तथा किरणावली[2]—चारों ही टीकाओं में पूर्व पृष्ठ पर नीचे फुट नोट ३ में उद्धृत तत्त्व कौमुदी पर दिए गए व्याख्यान इसी उपर्युक्त अभिप्राय (द्विविध प्रमा) को दृष्टि में रखकर किए गए हैं। परन्तु यह अर्थ संगत इसलिए नहीं जान पड़ता कि अगली कारिका के व्याख्यान में स्वयं वाचस्पति मिश्र भी एक ही प्रमाण (चित्तवृत्ति-रूप) तथा एक ही प्रमा मानते हुए प्रतीत होते हैं। फिर इन्द्रियों को प्रमाण मानने पर न्याय से सांख्य का क्या भेद रह जायगा? सांख्य तो प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियों की उतनी ही आवश्यकता मानता है, जितनी जलाशयस्थ जल के खेत तक पहुँचने में प्रणालिका (नाली) की होती है। तब फिर इन्द्रियाँ प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा का करण या मुख्य साधन कैसे हो सकती हैं? स्वयं उदासीन जी के द्वारा पञ्चम कारिका के अन्तर्गत किया गया विषयोपन्यास उपर्युक्त के साथ विरोध उपस्थित करता है[3]।

ओ० बु० एजेन्सी पूना से डा० गङ्गानाथ झा के अनुवाद के सहित प्रकाशित संस्करण में 'तच्च असंदिग्धा.........' ही पाठ है और इसी के अनुसार डा० झा का अनुवाद भी है। सांख्यतत्त्वविभाकर में पं वंशीधर ने भी यही पाठ रक्खा है। इस पाठ के अनुसार 'तत्' पद के द्वारा पूर्व प्रयुक्त 'प्रमाण' का परामर्श होता है, जैसा कि वंशीधरी में 'तच्च' के 'प्रमाणं च' अर्थ से स्पष्ट है।

यह कहने की आवश्यकता न होगी कि इस पाठ के अनुसार एक ही प्रमाण तथा एक ही प्रमा सांख्य को इष्ट ज्ञात होती है। यद्यपि 'द्वयोरेकतरस्य वाप्यस-

---

१—एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याः चित्तवृत्तेर्यत्साधनं सन्निकर्षरूपव्यापारवच्चक्षुरादि, यच्च पौरुषेयबोधकरणं चित्तवृत्तिरूपं तदुभयमपि प्रमाणमित्यर्थः—विद्वत्तोषिणीकाराः

२—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षं प्रमाणमिति बोध्यम्। एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यां चित्तवृत्त्यात्मिकाम् अमुख्यां प्रमामभिधाय मुख्यां प्रमामाह—बोधश्चेत्यादि। चित्तवृत्तेः फलं यः पौरुषेयः पुरुषवर्ती बोधः—बुद्धिधर्मोऽपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यमाणः—सा मुख्या प्रमेत्यर्थः। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणमिति बोध्यम्। एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याश्चित्तवृत्तेः यत् साधनं पदार्थेन सह सन्निकृष्टं चक्षुरादि, एवं तस्य पौरुषेयबोधस्य यत् साधनं चित्तवृत्तिः, तदुभयमपि प्रमाणम्।—किरणावली

३—इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानोऽयं घट इत्यादिबौद्धो बोधः प्रमाणम्, तदनुरूपं जायमानो घटमहं जानामीत्यादिपौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः। —का० ५ पर विद्वत्तोषिणी

न्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः...'इत्यादि सांख्य-सूत्र से प्रमा और उसके साधन द्विविध ज्ञात होते हैं, तथापि पाँचवीं कारिका तथा उसके वाचस्पति मिश्र-कृत व्याख्यान से तो चित्तवृत्ति ही एकमात्र प्रमाण तथा पुरुष-गत बोध ही एकमात्र प्रमा ज्ञात होती है। मूल के 'चित्तवृत्तिः' पर टीका करते हुए वंशीधर ने लिखा भी है--'सिद्धान्ते चक्षुरादेःकरणत्वाभावादाह—चित्तवृत्तिरिति।"तत्साधनं प्रमाणम्"इत्यत्रान्वेति' ॥

राजेश्वर शास्त्री द्राविड ने अपनी टिप्पणी में इस विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत करते समय इस प्रकार लिखा है :—

"चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं वा फलपदार्थः, स एव मुख्यप्रमाशब्दवाच्यः। एतादृशप्रमाकरणत्वेन बुद्धिवृत्तेः प्रमाणत्वं व्यपदिश्यते, तत्करणत्वेन च इन्द्रियादीन्यपि प्रमाणशब्दवाच्यानि भवन्ति। तथा च एतन्मते प्रमा प्रमाणं च द्विविधम्। अतः 'अयं घटः' इत्याद्याकारिका अन्तःकरणवृत्तिः प्रमाणम्,'घटमहं जानामी' त्याद्यनुव्यवसायः पुरुषे बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बरूपः पौरुषेयो बोधः इति यत् केषाञ्चित् व्याख्यानं, तन्निरस्तम्।" उनका यह कथन कितना अर्थवान् है, यह पूर्व किए गये प्रतिपादन से ही स्पष्ट है।

अब जहाँ तक प्रत्यक्ष इत्यादि विशिष्ट प्रमाणों के लक्षण का प्रश्न है, उसका समाधान सांख्यकारिकाकार ने अपने ग्रन्थ की पाँचवीं कारिका में किया है[१]। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में आये हुये 'प्रतिविषय' पद का अर्थ है—विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय। 'प्रतिविषयाध्यवसाय' का अर्थ है—विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान। 'अध्यवसाय' ज्ञान को कहते हैं जो बुद्धि[२] का व्यापार या परिणाम है। यह इन्द्रियों का व्यापार नहीं, यद्यपि इन्द्रियों के व्यापार से ही बुद्धि का व्यापार सम्भव है। 'वस्तुतः सन्निहित विषय वाली इन्द्रियों का (उन विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धि-गत तमोगुण के अभिभूत या न्यून होने के साथ-साथ सत्त्व गुण की जो प्रबलता या अधिकता होती है, उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। यही वह (प्रत्यक्ष) प्रमाण है। इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाण-भूत बुद्धि-तत्त्व के द्वारा स्व-प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला (स्व-गृहीत

१—प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥

२—अध्यवसायपदाभिधेयं ज्ञानं च बुद्धेरेव व्यापारो, नेन्द्रियधर्म इत्यर्थः—विद्वत्तो०

विषयों का समर्पण-रूप[१]) अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। यही प्रत्यक्ष प्रमा या (पुरुषगत) ज्ञान भी कहलाता है'[२]।

न्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमा त्रिविध होती है। इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक प्रमा—ये त्रिविध प्रमाण हैं तथा निर्विकल्पक प्रमा, सविकल्पक प्रमा एवं हानोपादान-बुद्धि—ये तीन प्रमा हैं। सांख्य के अनुसार सभी प्रमाण केवल बोध-रूप या ज्ञान-रूप हैं और यह ज्ञान विषयाकार परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एक-मात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय इत्यादि का नहीं। विशेषता इतनी ही होती है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा बुद्धिगत तमोगुण का अभिभव होने के साथ ही सत्त्व-प्राबल्य होने पर बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'प्रत्यक्ष', व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न हुआ बुद्धि का ('ततोऽयं पर्वतो वह्निमान्'—एतादृश) विषयाकार परिणाम 'अनुमान', तथा वाक्य से उत्पन्न हुआ बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'आगम' प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष में आया हुआ इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी न्याय का संयोग इत्यादि सन्निकर्ष नहीं, अपितु इन्द्रियों की सहकारिता-मात्र है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि बुद्धि के विषयाकार रूप में परिणत होने में इन्द्रियों का जो साहाय्य-विशेष आवश्यक होता है, वही सन्निकर्ष है। यह सहायता उतनी और वैसी ही है, जितनी और जैसी अनेक छिद्रों से युक्त घट में स्थित दीप के प्रकाश को बाहर निकलकर फैलने तथा उपस्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में छिद्रों द्वारा प्राप्त होती है[3], अथवा जलाशयस्थ सलिल को खेत तक पहुँचने में जो सहायता प्रणाली से प्राप्त होती है। जैसे घटस्थ दीप का प्रकाश छिद्र-जन्य न होने के कारण उसका धर्म या कार्य नहीं कहा जा सकता किन्तु दीप-जन्य होने के कारण उसका कार्य या धर्म होता है, उसी प्रकार तमोगुण से आवृत बुद्धि द्वारा विषय का

१—अन्तःकरणस्याय स्वभावो यदिन्द्रियैरुपनीतान्विषयान् स्वस्वामिने आत्मने समर्पयति, यथाहुः—गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति। अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥ (वि० पु०, अंश १, अ० १४, श्लोक ३५) इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

२—उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत्प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्ते-रनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः। —सांख्यतत्त्वकौमुदी

३—न चैतादृशेन्द्रियेण अध्यवसायः इत्यर्थकप्रतिविषयेणाध्यवसाय इति तृतीयासमास कुतो नाश्रितः इति वाच्यम्, एतन्मते नानाछिद्रघटान्तरवर्तिप्रदीपप्रकाशस्य छिद्रजन्यत्वाभाववत् बुद्धिवृत्तिरूपाध्यवसायस्य इन्द्रियजन्यत्वाभावेनैतादृशसमासासम्भवात्। —सुषमाकाराः

प्रकाशन छिद्रस्थानीय इन्द्रियों का कार्य न होने के कारण उसका धर्म नहीं अपितु बुद्धि का ही धर्म है। परन्तु जैसे छिद्रों के अभाव में दीप का प्रकाश बाहर निकल कर वस्तु का प्रकाशन नहीं कर सकता, तदर्थ छिद्रों की सहायता आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों के अभाव में समस्त अर्थों को ग्रहण करने में समर्थ भी बुद्धि तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण बाहर निकल कर तथा विषय तक पहुँच कर उसका प्रकाशन नहीं कर सकती, उसमें इन्द्रियाँ आवश्यक हैं[१]। इन्हीं इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि को आवृत करने वाला उसका घटस्थानीय तमोगुण अति न्यून हो जाता है और फिर बुद्धि उस तमोगुण से मानो बाहर निकलकर, वस्तु तक प्राप्त होकर एवं तदाकार-रूप में परिणत होकर उसे प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय की तरह सांख्य में ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों का प्रधान या सक्रिय नहीं अपितु गौण ही योग रहता है, प्रधान भाग तो बुद्धि का होता है[२]। अतः वह बोध जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं। यही बात अनुमान प्रमाण कहे जाने वाले लिङ्ग-लिङ्गि-ज्ञान तथा आगम प्रमाण कहे जाने वाले वाक्य-जन्य ज्ञान के विषय में भी सत्य है।

नारायण तीर्थ ने अपनी सांख्यचन्द्रिका में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है :—'प्रतिविषयो नियतविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयतेऽनेनेति प्रतिविषयाध्यवसाय इन्द्रियम्। चक्षुरादीनां रूपादिविषयकत्वनियमान्नियतविषयकत्वम्।' गौडपाद ने इस पद का अर्थ इस प्रकार से किया है— 'प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम् प्रत्यक्षमित्यर्थः।' गौडपाद का अर्थ वाचस्पति मिश्र के अर्थ के सदृश ही है क्योंकि दोनों के अनुसार इन्द्रिय-कृत अध्यवसाय या ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, न कि इन्द्रिय। चन्द्रिकाकार की उपर्युक्त पंक्तियों से तो उन्हें इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण

१—यथा स्वभावतश्चलनशीलमपि जलाशयस्थं सलिलं निर्गममार्गासत्त्वरूपप्रतिबन्धकबलात् स्वयं क्षेत्रमनुपसर्पदपि छिद्रे सति तद्द्वारा निर्गत्य कुल्यात्मना क्षेत्रमुपसृत्य केदाराकारेण परिणमते, तथा स्वभावतः सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि बुद्धितत्त्व तमसा प्रतिबद्ध सत्स्वयं विषयमनुपसर्पदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना तमोनिरासे इन्द्रियप्रणालिकया विषयमुपसृत्य तदाकारेण परिणमते। योऽयं बुद्धितत्त्वस्य विषयाकारपरिणामः, स एव अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाभिधीयते—विद्वत्तोषिणीकाराः।

२—द्रष्टव्य सां० का० ३५:—सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥

अभिमत प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार आप्तश्रुति का भी अर्थ उन्होंने 'आप्तोक्त वाक्य' किया है, वाचस्पति मिश्र की भाँति 'वाक्य-जन्य वाक्यार्थ-ज्ञान' नहीं। परन्तु प्रस्तुत कारिका की टीका के अन्तिम भाग में "कारिकार्थस्तु प्रतिविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयते विषयीक्रियतेऽनेनेतीन्द्रियजन्यवृत्तिरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं स्वज्ञानद्वारा हेतुपक्षजन्यसाध्यज्ञानमनुमानम्, आप्तश्रुतिः आप्तशाब्देन शाब्दो बोध इति" लिखकर वे स्वयं उसका विरोध करते हुए प्रतीत होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिविध प्रमाणों से प्रमेयों की जो प्रमा या उनका जो ज्ञान होता है, उसकी प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता भी उसी ज्ञान में निहित रहती है। कारण के गुण या दोष से उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है, जैसे कारण-व्यापार से मृत्तिका-स्थित घट का आविर्भाव। ऐसा मानने का कारण यह है कि सांख्य सत्कार्यवादी होने के कारण शश-शृङ्ग इत्यादि जैसे वस्तुतः असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानता। अतः यदि ज्ञान के अनन्तर उदित होने वाले उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य को वह उसमें निसर्गतः निहित नहीं मानेगा, तो उसकी दृष्टि में इनका उदय कभी होगा ही नहीं। इसलिए 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः' अर्थात् ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही होते हैं,—ऐसा सांख्य मानता है। इसके विपरीत न्याय परतः-प्रामाण्य मानता है।

२. प्रमेय

इन प्रमाणों से जिन प्रमेयों या पदार्थों का ज्ञान होता है, वे मुख्यतः दो ही हैं—जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष। 'सारा जड़ जगत् इसी प्रकृति का परिणाम— सत् कार्य—है। यह सब का मूल कारण होने से मूल प्रकृति कहलाती है, इसका कारण कुछ भी नहीं है। प्रकृति का सर्व-प्रथम परिणाम महत् या बुद्धि है, उसका परिणाम अहङ्कार, उसके द्विविध परिणाम पञ्च तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रियाँ, तथा पञ्चतन्मात्रों के भी परिणाम आकाश, वायु इत्यादि पञ्च महाभूत। स्पष्ट है कि महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—ये सात तत्त्व स्वयं दूसरों से उत्पन्न होते हैं तथा अन्य तत्त्वों को उत्पन्न भी करते हैं। पर प्रकृति उत्पन्न ही करती है, स्वयं उत्पन्न नहीं होती; एवं ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच महाभूत—ये १६ तत्त्व उत्पन्न ही होते हैं, अन्य तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करते। हाँ, आकाश, वायु इत्यादि महाभूतों से चराचरात्मक जगत् अवश्य उत्पन्न होता है, पर सांख्य के मत से वह आकाश इत्यादि से भिन्न तत्त्व नहीं है। इस

प्रकार 'प्रकृति' केवल प्रकृति या कारण है, इन्द्रियों तथा महाभूतों का सोलह का गण केवल विकृति या कार्य है तथा बीच के महत् इत्यादि प्रकृति तथा विकृति दोनों ही हैं। एवं 'प्रकृति' से उसके तेईस अवान्तर तत्त्वों का विकास होने पर परिणामी तत्त्व चौबीस हो जाते हैं। 'पुरुष', जो सांख्य शास्त्र का दूसरा प्रधान तत्त्व है, अपरिणामी अर्थात् न प्रकृति, न विकृति और न दोनों ही है। इसीलिए उससे कोई अवान्तर तत्त्व विकसित या उत्पन्न नहीं होता, जिससे प्रधान एवं गौण समस्त तत्त्वों की संख्या पच्चीस (प्रकृति, उसके तेईस परिणाम-भूत अवान्तर या गौण तत्त्व, तथा पुरुष) से आगे नहीं जाती।

सांख्य शास्त्र की उपर्युक्त तत्त्व-गणना के विषय में दो प्रश्न स्वभावतः उठते हैं। एक तो यह है कि सांख्य कारण-परम्परा का अन्त प्रकृति में ही क्यों मानता है? महत् इत्यादि में अथवा प्रकृति के परे किसी अन्य तत्त्व में कारण-परम्परा का अन्त मानने में क्या हानि है? दूसरा प्रश्न यह है कि जैसे पाँच तन्मात्रों से उत्पन्न होने वाले पाँच भूतों को सांख्य शास्त्र तत्त्व मानता है, उसी प्रकार पाँच भूतों से उत्पन्न होने वाले गो वृक्ष इत्यादि, उनसे भी उत्पन्न होने वाले दुग्ध, बीज इत्यादि तथा उनसे भी उत्पन्न होने वाले दधि, अङ्कुर इत्यादि को भी सांख्य-शास्त्र क्यों नहीं तत्त्व मानता? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि महत् इत्यादि तत्त्व सब के मूल कारण इसलिये नहीं हैं क्यों कि वे परिमित, परिच्छिन्न या अंव्यापी हैं[1]? जो अव्यापी होता है, वह कार्य होता है और जो व्यापक होता है, वह कारण होता है; जैसे घट मिट्टी की अपेक्षा अव्यापी या परिमित होता है, पर मिट्टी घट की अपेक्षा व्यापक होती है। जब महत् इत्यादि की इस प्रकार 'कार्यता' सिद्ध है, तब उनका कारण उनकी अपेक्षा कोई अव्यक्त या सूक्ष्म ऐसी वस्तु होगी जो उन्हीं गुणों या धर्मों से युक्त हो जिनसे महत् से लेकर पाञ्चभौतिक जगत् तक सभी वस्तुयें युक्त दिखाई पड़ती हैं। ये धर्म सुख, दुःख और मोह हैं, जो क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमस् के परिणाम या स्वभाव हैं। अतः इसका कारण कोई अपरिमित या अपरिच्छिन्न त्रिगुणात्मक वस्तु होगी। इसे ही सांख्य प्रकृति या प्रधान या अव्यक्त नाम देता है। अब जहाँ तक त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' से

---

१. द्रष्टव्य का० १५ पर सांख्यतत्त्वकौमुदी :—शक्तितः प्रवृत्तिः कारणकार्यविभागौ च महतः एव परमव्यक्तत्वं साधयिष्यति, कृतं ततः परेणाव्यक्तेनेत्यत आह—"परिमाणात्" इति। परिमितत्वात् अव्यापित्वादिति यावत्। विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात् घटादिवत्। घटादयो हि परिमिता मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः।

२. वही :—यन्महतः कारणं, तत् परमाव्यक्तं, ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

परे किसी अव्यक्ततर तत्त्व को मूल कारण मानने की बात है, वह भी उसे मान्य नहीं है क्योंकि प्रकृति से परतर अव्यक्त मानने मेंकोई प्रमाण नहीं है। यदि कोई कहे कि परम अव्यक्त से परतर अव्यक्त में भी पूर्व की ही भाँति अनुमान प्रमाण माना जा सकता है अतः प्रमाणाभाव-कथन निरर्थक है, तो ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि अनुमान प्रमाण मानने में दोष यह होगा कि जहाँ महत् इत्यादि कार्य स्पष्ट ही अव्यापी या परिच्छिन्न हैं, वहाँ अव्यक्त (प्रकृति) अव्यापी या परिच्छिन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त परमाव्यक्त प्रकृति से भी परतर अव्यक्त की मूल कारण के रुप में कल्पना करने में अव्यवस्था होगी, जो प्रस्तुत स्थल में प्रामाणिक न होने से दोषावह होगी[1]। यद्यपि बीज और अंकुर के पारस्परिक कारणकार्य-भाव के सम्बन्ध में अनवस्था ही दिखाई पड़ती है क्योंकि बीज और अंकुर दोनों ही एक-दूसरे के कारण और कार्य हैं; निश्चित रूप से इनमें से एक कारण और दूसरा उसका कार्य हो, ऐसा नहीं है, जैसा कि मिट्टी और उससे बने हुए घड़े में देखा जाता है। परन्तु यह दोष नहीं है क्योंकि इसका बाध (निषेध) करके व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। अर्थात् प्रकृति-सिद्ध होने के कारण अनवस्था ही यहाँ वास्तविकता है—वस्तु-स्थिति है, व्यवस्था नहीं। परन्तु उपर्युक्त स्थल में प्रकृति का कारण, फिर उसका भी कारण, फिर उस कारण का भी कारण और इसी प्रकार आगे भी कारण मानते जाने पर जो अनवस्था होगी, वह प्रमाणिक नहीं है; क्योंकि 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति तथा 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इत्यादि स्मृति प्रकृति को अज और अनादि बताकर कारण-परम्परा का उसी में अन्त मानती हैं। इसलिए उक्त स्थल में वस्तु-स्थिति के भिन्न होने के कारण अनवस्था की कल्पना दोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति से परतर अव्यक्त की कल्पना प्रामाणिक नहीं है।

अब जहाँ तक पृथिवी इत्यादि कारणों के गो घट वृक्ष इत्यादि कार्यों के तत्त्वान्तर न होने की बात है, वह तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि ये गो, घट इत्यादि कार्य उसी प्रकार स्थूल तथा इन्द्रिय-गोचर हैं, जैसे पृथिवी[2]।

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ३ पर तत्त्वकौमुदी :—मूलं चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः। विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलं, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति अनवस्थाप्रसङ्गात्। न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः।

२. द्रष्टव्य वही :—सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरत्वम्॥

३. प्रकृति एवं गुण

पूर्वोक्त तेईस अवान्तर तत्त्वों के रूप में परिणत होने वाली सांख्य की यह प्रकृति 'अजा' अर्थात् अनादि और 'अनन्त' अर्थात् अविनाशिनी है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् इसमें तीन गुण हैं, इसीलिए यह 'त्रिगुणा'[१] कहलाती है। इन सत्त्व इत्यादि तीनों की 'गुण' संज्ञा इनके 'परार्थ'[२] अर्थात् पुरुष के भोगापवर्ग के लिये होने के कारण है। जिसकी स्थिति दूसरे के लिये होती है, अपने लिये नहीं, उसका उस दूसरे की अपेक्षा अप्रधान-भाव—गुणभाव होता है। इसी से सत्त्व इत्यादि 'गुण' कहे जाते है। ये तीनों गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं, इसके स्वरूप ही हैं। अर्थात् प्रकृति या अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों का आधार नहीं अपितु तद्रूप या तदात्मक है; जैसा कि 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां० सू० ६।३९) इत्यादि सांख्य-सूत्र तथा 'एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' (यो० सू० २।१८ का व्यास-भाष्य) इत्यादि योग-भाष्य की पंक्ति से स्पष्ट है। इस प्रकार प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने पर भी 'प्रकृति के गुण' ऐसा भेद-व्यवहार कथञ्चित् भेद-विवक्षा से होता है। इन गुणों के धर्म क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह या अज्ञान अवश्य हैं जिससे ये गुण तथा इनके ये धर्म या स्वभाव भी महत्, अहंकार, तन्मात्र इत्यादि प्रकृति के कार्यों में भी आ जाते हैं, क्यों कि यह तो नियम ही है कि कारण के गुणों या धर्मों से ही कार्य में गुण या धर्म आते हैं। इस प्रकार इनसे उत्पन्न सारा जगत् ही त्रिगुणात्मक तथा सुख-दुःख-मोह-स्वरूप है।

उपर्युक्त कथन से एक बात तो स्पष्ट ही है, वह यह कि सांख्य के तीनों गुण न्याय के चौबीस गुणों की भाँति द्रव्याश्रित धर्म रूप नहीं अपितु द्रव्य रूप ही हैं, एवं उनमें रहने वाले धर्म क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह हैं। प्रकृति के ये तीनों ही गुण नित्य-परिणामी हैं, अर्थात् प्रकृति कभी परिणाम से वियुक्त

१—द्रष्टव्य सां०का० ११ :—त्रिगुणमविवेकि विषयः..........॥

२—(i) द्रष्टव्य सां०का० १२ की तत्त्व कौमुदी:— 'गुणाः' इति परार्थाः।

(ii) सां०का० १७ :—संघातपरार्थत्वात्........॥

नहीं होती, यहाँ तक कि प्रलय-काल में भी परिणाम होता रहता है[1]। हाँ इतना अवश्य है कि प्रलय-काल में सदृश परिणाम होता है और सृष्टि-काल में विसदृश या विषम। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार से कह सकते है कि जहाँ प्रलय-काल में प्रकृति स्वरूपतः परिणत होती है, उसके स्वरूप-भूत तीनों गुणों का साम्य नष्ट नहीं होता जिससे विभिन्न कार्यों की सृष्टि हो सके, वहाँ सर्ग-काल में गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके फल-स्वरूप उनके साम्य या सन्तुलन के नष्ट होने तथा विभिन्न अंशों में परस्पर संहत होने पर महत्, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रियाँ, महाभूत और यह सारा त्रिगुणात्मक जगत्—सभी क्रमशः उत्पन्न होते हैं। सांख्य-कारिका १६ में ईश्वरकृष्ण ने इस द्विविध परिणाम का स्पष्ट कथन किया है।[2] मूल के 'त्रिगुणतः' पद से प्रथम तथा 'समुदयाच्च' से द्वितीय प्रकार का परिणाम कहा गया है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न इन परिणामों के सम्बन्ध में यह उठता है कि जो गुण प्रलय-काल में सदृश या एक-विध परिणाम उत्पन्न करते हैं, वे ही सृष्टि-काल में विषम या विविध प्रपञ्च कैसे उत्पन्न करने लगते हैं? इसका उत्तर भी पूर्वोद्धृत १६ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति [परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।] में कारिकाकार ने दिया है, जिसका व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदीमें लिखा है कि 'जैसे मेघ का जल एकरस (एक सा) होने पर भी पृथ्वी के नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, वेल, चिरबिल्व, तिन्दुक (इमली), आँवला, प्राचीनामलक, कैंथ इत्यादि का रस बन जाने पर मीठे, खट्टे, नमकीन, तिक्त, कषैले, तथा कड़वे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी प्रकार (प्रत्येक काल में)

१—(i) द्रष्टव्य सांख्य कारिका ११ के 'प्रसवधर्मित्व' पद की तत्त्वकौमुदी:—प्रसवरूपो धर्मो यः, सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीय प्रसवधर्मस्य: नित्ययोगमाख्यातुम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः।

(ii) द्रष्टव्य सां०का० १६ के 'प्रवर्तते त्रिगुणतः' पदों की तत्त्वकौमुदी:—प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते।

२—सां०का० १६:......प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।

एक ही एक गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य-प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं"[१]।

ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि जैसे एक ही जल अनेक भू-विकारों को प्राप्त करके अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक गुण प्रलय-काल में एक-विध होने पर भी सृष्टि-काल में अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त होने से विविधि परिणाम उत्पन्न करते हैं। पर इससे एक बात स्पष्ट नहीं होती, वह यह कि जल के विविध परिणाम में तो भू-विकार कारण है जो पूर्वतः स्वतः सिद्ध है, पर गुणों के विविधि परिणाम में कारण बनने वाला उनका अङ्गाङ्गि-भाव या गुण-प्रधान भाव तो पूर्वतः सिद्ध नहीं है क्योंकि सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय-काल में वे एकविध थे, कोई गौण और कोई प्रधान—इस रूप में नहीं थे, फिर यह गुण-प्रधान भाव किस निमित्त से आया? इसका उत्तर १३ वीं कारिका के "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" शब्दों से प्राप्त होता है। ३१ वीं कारिका के 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' में भी यही बात कही गई है। पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोगोन्मुख होने पर उनके भोग एवं भोगानन्तर तत्त्वज्ञान द्वारा अपवर्ग—इन उभय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे न्यूनाधिक्य या गौण-प्रधान भाव उत्पन्न होता है, और उससे विविधि परिणामों की सृष्टि होने लगती है।

पूर्वोक्त तीनों गुणों के प्रयोजन क्रमशः प्रकाशन, सञ्चालन तथा नियंत्रण हैं और इन प्रयोजनों की सिद्धि इन गुणों के पारस्परिक अभिभव, आश्रय एवं जनन द्वारा होती है।[२] पारस्परिक अभिभव का अर्थ यह है कि प्रयोजन-विशेष से प्रकट हुए किसी एक के द्वारा दूसरे अभिभूत हो जाते हैं। जैसे 'सत्त्व' रजस् और तमस् को अभिभूत करके ही अपनी शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है (अर्थात् सुख इत्यादि रूप से परिणत होता है)। इसी प्रकार 'रजस्' सत्त्व और तमस को अभिभूत करके अपनी घोर अर्थात् दुःख की वृत्ति को, एवं 'तमस्' सत्त्व और रजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है। इस

१—यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलतालताली-बिल्वचिरबिल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थफलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषाय-कटुतया विकल्प्यते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्य अप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति। — का० १६ की तत्त्वकौमुदी

२—द्रष्टव्य सां० का० १२ :—प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥

प्रकार गुणों की सुखादि रूप से परिणति ही इनके अन्तिम प्रयोजन या कार्य हैं, विषय-प्रकाशन इत्यादि इन अन्तिम प्रयोजनों की सिद्धि में अपेक्षित होने से गौण प्रयोजन या द्वार-भूत कार्य हैं, और अभिभव इत्यादि इस सिद्धि के माध्यम या प्रकार हैं। इसमें प्रयोजक या निमित्त जीव के पूर्व-कृत धर्म, अधर्म इत्यादि हैं। जैसे धर्म, रूप प्रारब्ध का भोग उपस्थित होने पर सत्त्व प्रबल होकर अन्य दोनों को अभिभूत करके विषय को प्रकाशित करता हुआ सुख रूप से परिणत होगा।

'आश्रय' शब्द का प्रयोग कारिका में 'आधार' रूप मुख्य अर्थ में नहीं अपितु परस्पर 'सहकारित्व' रूप गौण अर्थ में हुआ है[1]। यहाँ जिसकी क्रिया जिस पर अवलम्बित या निर्भर होती है अर्थात् जो जिसका सहकारी होता है, वह उसका आश्रय कहा गया है। जैसे सत्त्व गुण रजस् और तमस् के क्रमशः प्रवर्तन और नियंत्रण कार्यों के आश्रय या साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रकाशन' कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है (अन्यथा रजस् और तमस् के अभाव में सत्त्व अपने 'प्रकाशन' कार्य में प्रवृत्त ही नहीं होगा)। इसी प्रकार रजस् गुण सत्त्व और तमस् के क्रमशः प्रकाशन और नियन्त्रण कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रवर्तन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व तथा तमस्) की, एवं तमस् गुण सत्त्व और रजस् के क्रमशः प्रकाशन और प्रवर्तन कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'नियन्त्रण' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व और रजस्) की सहायता करता है।

इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक-दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठर-वृत्ति[2] तथा परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित सुवर्णसप्तति-शास्त्र[3] में मिलता है। जैसे तिरछे खड़े किए गये तीन दण्डों या खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घट को अपने-अपने ऊपर सम्हालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता

१—यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते, तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया, स तस्याश्रयः। तथाहि:—सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोः। सां० त० कौ०

२—त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति—माठरवृत्ति, पे० २२।

३—इमे गुणाः परस्पराश्रयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाः, यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिकादीन् अवष्टभ्नाति।—द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा चीनी भाषा से संस्कृत में अनूदित सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र, पे० १७।

की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं।

'अन्योन्यजननवृत्तयः' का अर्थ, जैसा तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने किया है, है 'एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले' अर्थात् एक दूसरे के परिणाम में सहकारी। पर 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' का भी 'परस्पर-सहकारी' ही अर्थ है। इस प्रकार पुनरावृत्ति दोष की आपत्ति होती है। इसी लिये कौमुदीकार ने 'जनन' पद का 'सदृश-रूप परिणाम' अर्थ करके यह स्पष्ट किया है कि परस्पर-सहकारित्व रूप अर्थ की दृष्टि से दोनों पदों के अर्थ में अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के विषय में कहे जाने से दोनों अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। गुणों का प्रथम सहकारित्व उनके अहङ्कार इत्यादि विरूप परिणाम की अवस्था—सृष्टि-अवस्था—के लिए कहा गया है और द्वितीय सहकारित्व सरूप अर्थात् सत्त्वादि रूप से ही परिणत होने की प्रलयकालीन अवस्था के लिये कहा गया है। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है। इस सरूप परिणाम की प्रलयकालीन अवस्था का ही नाम प्रकृति है क्योंकि इस अवस्था में तीनों गुण प्रकृति-रूप या स्व-रूप से ही अवस्थित रहते हैं, सृष्टिकालीन बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि विकृति या स्व-भिन्न तत्त्व के रूप में नहीं परिणत होते। इस प्रकार जब प्रकृति तथा तीनों गुणों में तादात्म्य या अभेद हुआ, तब कारणकार्य-भाव कहाँ सिद्ध हुआ? इसीलिए प्रकृति-रूप सरूप परिणाम को अहेतु और नित्य कहा है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब तीनों गुणों तथा उनके प्रकृति-रूप परिणाम में कोई भेद ही नहीं है या दूसरे शब्दों में यों कहें कि जब तीनों गुण प्रलय-काल में किसी नए तत्त्व को उत्पन्न ही नहीं करते, तब उस अवस्था में व्यर्थ परिणाम मानने से क्या लाभ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तीनों गुणों में प्रकृत्यवस्था में कोई परिणाम या क्रिया नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टि-काल में उनमें यह परिणामशीलता या सक्रियता कहाँ से आ जाएगी? क्योंकि सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि 'जो जिसमें नहीं है, वह उसमें कभी भी नहीं हो सकता एवं जो जिसमें है, उसका उसमें कभी अभाव नहीं हो सकता।' यही कारण है कि दशम कारिका में इन गुणों को 'सक्रिय' कहा गया है, जिसका व्याख्यान कौमुदीकार ने 'परिस्पन्दवत्' शब्द के द्वारा किया है।

'परस्परमिथुनवृत्तयः' का अर्थ यह है कि ये तीनों ही गुण एक-दूसरे के सहचर या एक-दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं। इसमें देवी-भागवत

प्रमाण है :—'सभी गुण परस्पर युग्म-भाव से रहते हैं। सभी गुण महत्, अहङ्कार इत्यादि सभी कार्यों में व्याप्त हैं, रजस् का मिथुन सत्त्व, सत्त्व का मिथुन रजस्, तमस् के भी मिथुन सत्त्व और रजस, एवं सत्त्व तथा रजस् का मिथुन तमस् कहा गया है[१]।'

गुणों के स्वरूप, प्रयोजन तथा कार्य-प्रणाली इत्यादि के विषय में जो कुछ अभी कहा गया, वह प्रायेण सांख्यकारिका १२ की द्वितीय पंक्ति के वाचस्पति-मिश्र-कृत व्याख्यान पर आधारित है। नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका में भी सदृश ही व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। परन्तु गौडपाद-भाष्य, माठर-वृत्ति तथा जयमंगला में 'वृत्ति' पद को कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ की भाँति 'अभिभव' 'आश्रय' इत्यादि प्रत्येक के अन्त में न जोड़कर इन्हीं पदों की भाँति 'अन्योन्य' पद के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वित किया है[२]। जयमंगला के अनुसार 'वृत्ति' का अर्थ 'सुखादि रूप से परिणति' है, गौडपाद के अनुसार 'परस्पर वर्तमान रहना' है, परन्तु माठर-वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ 'कार्य' है। 'सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र' के परमार्थ-कृत चीनी-भाषानुवाद में भी यही अर्थ किया गया है। इस ग्रन्थ में सत्त्व का अपने कार्य के अतिरिक्त यदा-कदा रजस् और तमस् के भी कार्य करना, इसी प्रकार रजस् का स्व कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के तथा तमस् का भी स्व-कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के कार्य करना बड़े विशद और विस्तृत ढंग से समझाए गए हैं। इस ग्रन्थ के अय्यास्वामीशास्त्री-कृत संस्कृत-अनुवाद की पंक्तियाँ इस स्थल में द्रष्टव्य हैं :—"अन्योन्यवृत्तीति। इमे त्रयो गुणाः अन्योऽन्यमर्थं कुर्वन्ति। यथा राजकुलस्त्री सुप्रियरूपशीला। अयं सत्त्वगुण उच्यते। एतत्सत्त्वपरिणतं रूपं भर्तुर्बन्धोश्च प्रीतिं करोति। इदं स्वार्थकरणमुच्यते। (सैव) सर्वासां सपत्नीनां शोकं जनयति। इदमन्यार्थकरणमुच्यते। अन्येषां विषादमपि जनयति। यथा दास्यादयः सदा तत्परिचर्याखिन्ना मोचनमलभमाना विषादाविष्टचित्ता भवन्ति। इदमुच्यते अन्यार्थजननम्। इदमेव सत्त्वगुणस्य स्वपरार्थकरणमुच्यते। एवं रजः स्वपरार्थं जनयति ....। एवं तमः स्वपरार्थं जनयति।"

१—'अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः। रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे। उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥

२—अन्योऽन्याभिभवाः अन्योऽन्याश्रयाः अन्योऽन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च। —गौडपादभाष्यम्

इस व्याख्यान से माठर-वृत्ति तथा सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र के रचयिताओं का वाचस्पति मिश्र से महान् मत-भेद ज्ञात होता है। जहाँ प्रथम दोनों आचार्यों के मत से रूप, यौवन, कुल एवं शील इत्यादि से सम्पन्न स्त्री का अपनी सपत्नियों को दुःख देना तथा अपने को न पा सकने वाले पर पुरुष को मोह या विषाद में डाल देना सामान्यतः रजस् और तमस् का कार्य होने पर भी कभी-कभी सत्त्व का भी कार्य होता है जो उसका 'अन्यार्थकरण' [अर्थात् दूसरे गुणों के कार्य का सम्पादन] है, वहाँ वाचस्पति मिश्र के अनुसार क्रमशः रजस् और तमस् के ये कार्य सदा उन्हीं के द्वारा सम्पादित होते हैं, ये कभी भी सत्त्व के द्वारा सम्पादित नहीं होते। यही बात अन्य दोनों गुणों—रजस् तथा तमस्—के भी अन्यार्थ-करण के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। तेरहवीं कारिका के व्याख्यान में आई हुई निम्न पंक्तियाँ इसमें प्रमाण हैं :—

"अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्! तद्यथा—एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः? तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात्। ......तत्र यत् सुखहेतुः तत सुखात्मकं सत्त्वम्, यत् दुःखहेतुस्तत् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः।"

तत्त्वकौमुदी की इन पंक्तियों का तात्पर्य निम्न-लिखित है :—

जागतिक पदार्थों में प्राप्त होने वाले परस्पर-विरोधी सुख, दुःख तथा अज्ञान अपने-अपने प्रादुर्भाव के अनुकूल ही सुखात्मक, दुःखात्मक तथा अज्ञानात्मक कारणों का अनुमान कराते हैं। इन्हीं को १३ वीं कारिका में सत्त्व, रजस् और तमस् नाम दिया गया है। इन गुणों का अनेकत्व सुखादि के परस्पर अभिभाव्य (अभिभव या तिरोभाव को प्राप्त होने वाला) तथा अभिभावक (अभिभव या तिरोभाव करने वाला) होने से है। अर्थात् चूँकि कभी सुख उत्कृष्ट हो कर अन्य दोनों का तिरोभाव करता है, कभी दुःख और कभी अज्ञान, इसलिये इनके 'कारण' एक नहीं हो सकते; क्योंकि यदि एक ही गुण सुख, दुःख, मोह का कारण मान लिया जाय तो प्रत्येक वस्तु एक ही समय में

एक ही व्यक्ति को सुखदुःखमोहात्मक अनुभूत होगी। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसके विपरीत अनेक होने पर इन सत्त्वादि गुणों के उद्भूत या उत्कृष्ट होने के लिये व्यक्ति के धर्म और अधर्म की अपेक्षा रहने से व्यक्ति और वस्तु दोनों में ही कभी सत्त्व, कभी रजस् और कभी तमस् ही उद्भूत होगा। इस प्रकार वस्तु-विशेष व्यक्ति-विशेष को एक समय में एक ही प्रकार की—सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक—लगेगी, सर्वात्मक नहीं। जैसे रूप, यौवन, कुल, शील से सम्पन्न वही स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्त्व-रूप ही प्रकट होता है। वही स्त्री सौतों को दुःख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजो-रूप ही प्रकट होता है। इसी प्रकार उसे न पा सकने वाले पर पुरुष को वह मूढ बना देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमो-रूप ही प्रकट होता है।... .... उपर्युक्त दृष्टान्त में जो पति के सुख का कारण है, वह कान्ता-काय-गत सुखात्मक सत्त्व गुण है जो पति द्वारा किये गये धर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उसके सुख में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार जो सपत्नी के दुःख का कारण है, वह कान्ता काय-गत दुःखात्मक रजो गुण है जो सपत्नी द्वारा किये गये अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उसके दुःख में परिणत हो जाता है। एवं जो उस स्त्री को प्राप्त न कर सकने वाले पर पुरुष के मोह का कारण है, वह कान्ता-काय-गत मोहात्मक तमो गुण है जो पर पुरुष द्वारा किये गये अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उनके मोह या विषाद में परिणत हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त मत ही कारिकानुसारी होने के कारण संगत एवं उपयुक्त है।[१]

१—तत्त्वकौमुदीकार ने यह सिद्धान्त-प्रतिपादन सांख्य-मत के अनुरोध से किया है। वस्तुतः उनका अपना मत (वेदान्त मत) इससे भिन्न है। उसका संक्षेप में कथन उन्होंने ब्रह्मसूत्र २-२-१ के शांकर-भाष्य की भामती में इस प्रकार किया है—यदि पुनः एते एव सुखदुःखादिस्वभावा भवेयुस्ततः स्वरूपत्वाद्धेमन्तेऽपि चन्दनः सुखःस्यात् । नहि चन्दनः कदाचिदचन्दनः । तथा निदाघेऽपि कुङ्कुमपङ्कः सुखः भवेत् । नह्यसौ कदाचिद-कुङ्कुमपङ्क इति । एवं कण्टकः क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात् । नह्यसौ कांश्चित् प्रत्येव कण्टक इति । तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो, न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्'। इसके अनुसार चन्दन, कुङ्कुम इत्यादि जागतिक भोग-पदार्थ स्वतः सुख-दुःख-मोहात्मक नहीं हैं। अपितु जाति, काल, अवस्था इत्यादि के अनुरोध से वैसे हो जाते हैं।

४. सृष्टि एवं उसका प्रयोजन

प्रमेयों के विवेचन के आरम्भ में कहा जा चुका है कि सांख्य के प्रमेय या पदार्थ मुख्यतः दो ही हैं, एक तो जड़ प्रकृति और दूसरा चेतन पुरुष ; और सारा जड़ जगत इसी जड़ प्रकृति का परिणाम है और इसी परिणाम का नाम सर्ग या सृष्टि है। प्रकृति के एक और परिणाम की भी चर्चा पहले 'प्रकृति और उसके गुण' प्रकरण में की जा चुकी है। वह परिणाम त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रकृति रूप ही परिणाम है। इसे ही सदृश परिणाम भी कहा गया है जो प्रलय-काल में होता रहता है। इस परिणाम को मानने का कारण भी वहाँ स्पष्ट किया जा चुका है। इस सदृश परिणाम में प्रकृति के गुणों का पारस्परिक साम्य नष्ट नहीं होता, इसी से कोई अभिनव सृष्टि नहीं होती। परन्तु सृष्टि-काल में गुणों में क्षोभ होने से साम्य नष्ट होता है, वैषम्य उत्पन्न होता है, एवं वैषम्य या न्यूनाधिक्य को प्राप्त हुए गुणों के विविध मिश्रण से विविध सृष्टि होने लगती है। यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि पूर्वतः साम्य-प्राप्त गुणों में वैषम्य या न्यूनाधिक्य क्यों और कैसे आ जाता है ? 'क्यों' का उत्तर जैसा पहले कहा जा चुका है, तेरहवीं कारिका के 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' तथा ३१ वीं कारिका के 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' अंशों में दिया गया है। इनका भाव यह है कि चूँकि पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोग तथा भोगानन्तर तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिये विविध सृष्टि अपेक्षित है और इस विविध सृष्टि के लिये गुणों में वैविध्य या वैषम्य होना आवश्यक है, अतः गुणों में क्षोभ तथा उसके द्वारा वैषम्य या न्यूनाधिक्य उत्पन्न होता है। 'कैसे' का उत्तर कारिकाकार ने "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत : सर्ग :" ॥ —इस २१ वीं कारिका में दिया है। इसका भाव यह है कि प्रकृति के दर्शन द्वारा पुरुष की कैवल्य-सिद्धि के लिए प्रकृति और पुरुष का 'संयोग' होता है जिससे सृष्टि होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये प्रकृति और पुरुष का परस्पर संयोग होता है, और संयोग से प्रकृति के गुणों में क्षोभ होने से वैषम्य उत्पन्न होने पर विविध सृष्टि होती है। विज्ञानभिक्षु का 'क्षोभ से संयोग और उससे सृष्टि' का सिद्धान्त गलत है।[1] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भोग एवं अपवर्ग के लिये अपेक्षित संयोग भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। भोग के लिए अपेक्षित संयोग का कारण अनादि अविद्या है, जैसा कि

१. द्रष्टव्य सां० सूत्र ५.१०१ का विज्ञानभिक्षु-कृत भाष्य।

'तस्य हेतुरविद्या' इस योग-सूत्र से स्पष्ट है। यह संयोग तब तक बना रहेगा जब तक इसमें केवल भोग सम्पन्न होता रहेगा। इस अनादि संयोग के अन्त के लिए कैवल्य अपेक्षित है, जिसका कारण है—प्रकृति और पुरुष का विवेक अर्थात् पुरुष का प्रकृति के स्वरूप को देखकर अपने को उससे विविक्त, अन्य या भिन्न समझ लेना। भोग के लिए अनादि संयोग होने पर भी कैवल्य और दर्शन के लिए पुनः संयोग होता है। जैसा कि २१ वीं कारिका के व्याख्यान में कौमुदीकार ने स्वयं भी कहा है—'अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते इति युक्तम्'। इसका तात्पर्य यह है कि भोग और अपवर्ग के लिए होने वाले संयोग एक नहीं, भिन्न हैं। संयोग की तो अनादि परम्परा है क्योंकि उसकी कारण-भूत अविद्या अनादि है। उसमें कोई संयोग-परम्परा भोग में हेतु है तो कोई दूसरी कैवल्य में।

यह सृष्टि, जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, प्रकृति से महत्, उससे अहंकार, अहंकार से एक ओर तो एकादश इन्द्रियाँ और दूसरी ओर पाँच तन्मात्र तथा तन्मात्रों से पृथिवी, जल इत्यादि पाँच महाभूत—इस क्रम से होती है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि एक ही अहंकार से प्रकाशक इन्द्रियाँ तथा प्रकाश्य रूप, स्पर्श, शब्द इत्यादि तन्मात्र कैसे उत्पन्न होते हैं ? एक ही कारण से दो पृथक् स्वभाव वाले कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? इसका उत्तर आगे के इन्द्रियोत्पत्ति-प्रकरण के अंतिम भाग में आयेगा। अतः वहीं द्रष्टव्य है।

सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति

विभिन्न भारतीय दर्शनों में इन्द्रियों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से बताई है। इस सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र की अपनी विशिष्ट प्रणाली है। पहली बात जो इसके सम्बन्ध में बताने की है, वह यह है कि जहाँ न्याय तथा वेदान्त में इन्द्रियाँ भौतिक हैं, वहाँ सांख्य में वे आहङ्कारिक—अहंकार से उत्पन्न मानी गई हैं। ईश्वरकृष्ण ने 'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्' इत्यादि पच्चीसवीं कारिका में इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहङ्कार से बताई है। 'सात्त्विकमेकादशकम्...' इत्यादि (सं० सू० २.१८) में भी इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से कही गई है। पुराणों में इन्द्रियाँ कहीं तो आहंकारिक और कहीं भौतिक कही गई हैं। "वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा। अहन्तत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ॥ वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः। तैजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ॥ तामसो भूत-

सूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥" इत्यादि पौराणिक वचनों में सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव और मन, राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ, तथा तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति की प्रक्रिया दृष्टि-गोचर होती है। इसी का अनुसरण करते हुए सांख्य-सूत्रों के भाष्यकार विज्ञान-भिक्षु ने अपने सांख्य-प्रवचन-भाष्य में ऊपर उद्धृत 'सात्त्विकमेकादशकम्' इत्यादि सूत्र का तदनुकूल अर्थ किया है। एवं सांख्य-कारिकाओं के अपने व्याख्यान में भी २५ वीं कारिका पर व्याख्यान लिखते हुए "सात्त्विक एकादशकः इत्यनेन मनो ग्राह्यं तैजसादुभयमित्युभयपदेन च द्विविधमिद्रियं ग्राह्यम् [१]॥" ऐसा लिखा है। इससे स्पष्ट है कि विज्ञानभिक्षु के मतानुसार केवल ग्यारहवाँ इन्द्रिय मन ही सात्त्विक है,अन्य दसों इन्द्रियाँ आहङ्कारिक होती हुई भी राजस हैं, सात्त्विक नहीं। सांख्य-सिद्धान्त की दृष्टि से विज्ञानभिक्षु का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'प्रकाश-लाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतात् सात्त्विकाहंकारात् प्रवर्तते, भूतादेस्त्वहंकारात् तामसात् तन्मात्रो गणः प्रवर्तते।........तैजसात् राजसा-दुभयंगणद्वयं भवति। यद्यपि रजसो न कार्यान्तरमस्ति, तथापि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति।" इत्यादि पंक्तियाँ, जो उन्होंने २५ वीं कारिका पर व्याख्यान-रूप में लिखी हैं, उचित एवं संगत प्रतीत होती हैं। २६ वीं कारिका पर भी व्याख्यान आरम्भ करते हुए उन्होंने इन्द्रियों को सात्त्विक अहंकार से ही उत्पन्न माना है—'सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्' (सां० का० २६ पर सां० त० कौ०)।

जैसा अभी ऊपर प्रदर्शित किया गया है, आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रति-पादित मत ही सांख्य-शास्त्र का सर्वमान्य प्रतीत होता है। यदि इस मत के विरुद्ध कोई यह शङ्का करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करतीं, उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए, तो ऐसी ही शंका तो विज्ञानभिक्षु के भी मत के सम्बन्ध में होगी; क्योंकि यदि सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक नहीं हैं, केवल मन ही सात्त्विक है तो फिर बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश क्यों करती हैं? पूर्व मत के विरुद्ध उठी हुई शङ्का का तो समाधान भी है और वह यह कि चूँकि उत्कृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से मन, मध्यम-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से बुद्धीन्द्रियाँ

१. श्री बालराम उदासीन द्वारा का० २५ की विवृत्तिणी में उद्धृत।

तथा निकृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, अतएव जहाँ मन सर्वाधिक विषय-प्रकाशक है, वहाँ बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हुईं भी मन की तरह नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो प्रकाश करती ही नहीं, तथापि सात्त्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी हैं, अन्यथा ऐसी न होती; परन्तु द्वितीय मत के विरुद्ध उठी हुई शङ्का का कोई भी परिहार नहीं दिखाई देता।

अब जो नैयायिक इत्यादि दार्शनिक इन्द्रियों को भौतिक अर्थात् आकाश इत्यादि भूतों से क्रमशः उत्पन्न मानते हैं और उसमें 'चक्षुरिन्द्रियं तैजसं रूपादिषु पञ्चसु रूपस्यैवाभिञ्जकत्वात् दीपवत्' 'त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु स्पर्शस्यैवाभिञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिञ्जकव्यजनपवनवत्', 'रसनं जलीयं रूपादिषु पञ्चसु रसस्यैवाभिञ्जकत्वात् दन्तान्तस्तोयवत्' इत्यादि अनुमान प्रमाण देते हैं, वह सर्वथा भ्रमात्मक है क्योंकि विचार करने पर इनके विरुद्ध जो बात आपाततः मन में आती है, वह यह है कि यदि ये इन्द्रियाँ प्रकाशक सात्त्विक अहङ्कार से न उत्पन्न होकर अप्रकाशक आकाश, वायु आदि पाँच भूतों से पृथक् पृथक् उत्पन्न हुईं तो वे प्रकाशक कैसे हुईं ? आकाश इत्यादि की भाँति इन्हें भी प्रकाश्य होना चाहिए, प्रकाशक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त प्रकार के अनुमानों में नैयायिक जो यह हेतु देते हैं कि चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ आकाश, वायु आदि भूतों के शब्द, स्पर्श आदि विशेष गुणों की उपलब्धि में (पृथक् पृथक्) करण हैं, यह ठीक नहीं है क्योंकि यह दीप इत्यादि उदाहरणों में प्राप्त या उपस्थित नहीं है। जैसे दीप ही को लेकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दीप 'रूप' के प्रत्यक्ष में करण नहीं है, क्योंकि करण तो वह है जिसके होने पर कार्य अवश्य हो; परन्तु रूप के प्रत्यक्ष में सन्निकृष्ट चक्षुरिन्द्रिय ही करण है, दीप नहीं। अन्यथा चक्षुरिन्द्रिय-सन्निकर्ष के अभाव में भी दीप से रूप का प्रत्यक्ष होता। जब उदाहरण ही असिद्ध है, तब अनुमान कहाँ से सिद्ध होगा ?

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो चुका है कि उत्कृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से मन, मध्यम-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा निकृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। यही अहङ्कार जब तमः-प्रधान होता है, तब इस से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच तन्मात्र या सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं जिन से क्रमशः आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी महाभूत उत्पन्न होते हैं। कारण के तमः-प्रधान होने से ही ये भूत इत्यादि कार्य भी

तमोगुणी—अप्रकाशक अर्थात् दूसरों का प्रकाश न करने वाले अपितु प्रकाश्य अर्थात् दूसरे (इन्द्रियादि) से स्वयं प्रकाशित होने वाले—होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् के न्यूनाधिक-भाव से विविधता को प्राप्त हुए अहंकार से विविध तत्त्वों—मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्रों—की सृष्टि होती है, एवं तन्मात्रों से आकाश आदि महाभूतों की सृष्टि होती है।

५. बाह्यार्थ वाद

मूलतः प्रकृति के ही परिणाम या वास्तविक कार्य होने के कारण ये तन्मात्र, महाभूत इत्यादि तथा इन महाभूतों के भी विकार-भूत ये सारे जागतिक पदार्थ भी प्रकृति की ही भाँति सत्य हैं, वास्तविक हैं। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि योग की ही भाँति सांख्य को भी बाह्य पदार्थों की सत्ता मानसिक व्यापार या चित्त-वृत्ति से पृथक् स्वतन्त्र रूप से मान्य है। कारिकाकार ने ११ वी कारिका में 'विषयः' और 'सामान्यम्' शब्दों द्वारा तथा सूत्रकार ने 'न विज्ञानमात्रं, बाह्यप्रतीतेः' [सां० सू० १।४२] के द्वारा यही अभिप्राय प्रकट किया है। अत. विज्ञानवादी बौद्धों से सांख्य का स्पष्ट मत-भेद है। सांख्य विज्ञानवादी नहीं, वस्तुवादी या विषयवादी है। जैसे सूक्ष्म अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि, अहंकार तथा मन प्रकृति के परिणाम हैं, वैसे ही स्थूल आकाश इत्यादि पञ्च भूत तथा उनका भी विशिष्ट परिणाम यह पाञ्चभौतिक जगत् भी प्रकृति के परिणाम हैं। अतः जैसे अन्तःकरण का परिणाम 'ज्ञान' सत् है, वैसे ही ज्ञान के विषय बनने वाले जगत् के स्थूल पदार्थ भी सत् हैं।

बाह्यार्थवाद का उपर्युक्त प्रतिपादन सांख्य के प्रसिद्ध सत्कार्यवाद पर आधारित या आश्रित है। अर्थात् बाह्यार्थवाद सत्कार्यवाद का ही न्यायोचित निष्कर्ष है, इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर सामञ्जस्य है, विरोध नहीं। जिन्हें सांख्य का सत्कार्य-वाद मान्य होगा, उन्हें उनका बाह्यार्थवाद भी मान्य होगा। जिन्हें उनका सत्यकार्यवाद सिद्धान्ततः मान्य नहीं है, अथवा मान्य होने पर भी जो उसे बाह्यार्थवाद के लिए पर्याप्त हेतु नहीं मानते, उनके लिए सांख्यकारिका-कार ने ग्यारहवीं कारिका के 'विषय' एवं 'सामान्य' शब्दों द्वारा तर्क उपस्थित किया है। 'विषय' का अर्थ है—ग्राह्य अर्थात् विज्ञान से पृथक् स्वतंत्र रूप से ग्रहण करने योग्य, एवं 'सामान्य' का अर्थ है—एक ही समय में अनेक पुरुषों द्वारा ग्राह्य। इसका तात्पर्य यह है कि यदि जगत्

के पदार्थ (शब्द, घट, पट इत्यादि) विज्ञान के ही रूप होते तो जैसे 'विज्ञान' मानसिक व्यापार होने के कारण व्यक्तिगत होते हैं, वैसे ही ये पदार्थ भी व्यक्तिगत होते; अर्थात् जैसे दूसरे की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने के कारण एक का विज्ञान दूसरे को अज्ञात या अप्रत्यक्ष रहता है, वैसे ही शब्दादि पदार्थ भी जिस व्यक्ति के विज्ञान के रूप होते, उसी को प्रत्यक्ष होते। परन्तु चूँकि इनका प्रत्यक्ष सर्व-सामान्य को होता है, अतः ये विज्ञान-रूप नहीं अपितु उससे पृथक् स्वतंत्र पदार्थ हैं। ऐसा मानने पर ही नर्तकी के एक ही कटाक्ष (जो शब्द इत्यादि की तरह ही व्यक्त पदार्थ है), का एक साथ ही अनेक पुरुषों को प्रति-सन्धान (प्रत्यभिज्ञान) होना सङ्गत है, अन्यथा ऐसा नहीं होना चाहिए।

सांख्यों के इस तर्क के विपरीत विज्ञान-वादी बौद्धों का कथन है कि स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी स्वप्न-द्रष्टा पुरुष का विज्ञान (बुद्धि) ही घट, पट, सर्प इत्यादि अनेक ग्राह्य विषयों का रूप धारण करके स्वयं ही उसका ग्राहक या ज्ञाता बनता है, अथवा जैसे जागरण-काल में भी बाह्य (वास्तविक) स्थिति के अभाव में सूर्य-मरीचियों में जल, शुक्ति में रजत (चांदी) अथवा रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जागरण-काल में प्रतीत होने वाले अन्य घट, पट, हस्ती आदि पदार्थ भी विज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। उसके बाहर उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि कोई यह शंका करे कि जब सभी पदार्थ विज्ञान के ही एक-मात्र रूप हैं तो विज्ञान के एक होने पर भी नील, पीत इत्यादि रूप से पदार्थ-वैचित्र्य का आभास क्यों होता है, तो इसके उत्तर में विज्ञानवादियों का यह कहना है कि विज्ञान-गत यह वैचित्र्य व्यक्ति के वासना-गत वैचित्र्य के कारण है। स्वप्न में भी तो स्वप्न-द्रष्टा का ही विज्ञान घट, पट, हस्ती आदि विचित्र रूपों में प्रतीत होता है। वहाँ तो कोई बाह्य पदार्थ नहीं रहता। इस लिए जैसे स्वप्न-कालीन विज्ञान-वैचित्र्य पदार्थ-वैचित्र्य पर नहीं अपितु वासना-वैचित्र्य पर आश्रित होता है, उसी प्रकार जागरण-कालीन पदार्थ-वैचित्र्य भी विज्ञान-वैचित्र्य के कारण होता है। यदि यह पूँछा जाय कि विज्ञान-वैचित्र्य ही क्यों होता है तो उसका कारण विज्ञान-वादी व्यक्तिगत वासना-वैचित्र्य बताते हैं। यह वासना-वैचित्र्य भी अनादि अविद्या के कारण है।

ज्ञान और बाह्य वस्तुओं का अभेद-साधक एक हेतु विज्ञानवादी यह भी देते हैं कि जिस वस्तु की जिसके साथ नियत रूप से प्राप्ति होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती; जैसे एक चन्द्र के साथ नियत रूप से प्राप्त होने वाला द्वितीय

चन्द्र उससे भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान के साथ नियत रूप से प्राप्त होने के कारण वस्तु उस ज्ञान से भिन्न नहीं है। "सर्वदर्शन-संग्रह" की "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥" कारिका में यही बात कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि नील वस्तु, और तद्विषयक 'यह नीला है' यह ज्ञान—दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। क्योंकि दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं। चूँकि कोई भी वस्तु स्व-विषयक ज्ञान से पृथक् नहीं देखी जाती, इसलिये वह उस ज्ञान से भिन्न नहीं अपितु तद्रूप ही है; यदि दोनों भिन्न होते तो पृथक्-पृथक् प्राप्त होते, एक साथ न प्राप्त होते। यदि कोई कहे कि यदि वस्तु और स्व-विषयक ज्ञान में भेद नहीं है, वस्तु वस्तुतः स्व-ज्ञान रूप ही है तो दोनों में 'वस्तु' एवं 'वस्तु का ज्ञान'—इस प्रकार का भेद क्यों और कैसे दिखाई पड़ता है, तो इसका उत्तर विज्ञानवादी बौद्ध यह देता है कि यह भेद मिथ्या या भ्रान्तिमूलक है, ठीक वैसे ही जैसे चन्द्र के एक ही होने पर भी उसमें दो चन्द्रों का दिखाई पड़ना।

बाह्यार्थवाद के विरुद्ध विज्ञानवाद का समर्थन करने वाले ये दोनों ही तर्क विचार करने पर असत् प्रतीत होते हैं, और बालू की भीत की भांति ढहते दिखाई पड़ते हैं। 'जैसे स्वप्न-कालीन घट, पट, मठ, हस्ती इत्यादि पदार्थ जागरण-काल में न तो प्रतीत होते हैं एवं न रहते ही हैं, केवल स्वप्न-काल का तत्तद्विषयक ज्ञान ही रहता है क्योंकि उसके (सत्य) न होने पर तो जागरण काल में होने वाला उसका स्मरण भी न होता; उसी प्रकार जागरण-काल के पदार्थ भी वस्तुतः नहीं हैं अर्थात् अपने अपने ज्ञान से पृथक् प्रसिद्ध नहीं हैं, विज्ञानवादियों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसका आधार स्वप्न और जागरण का पारस्परिक सादृश्य है जो सर्वथा असिद्ध है। उल्टे दोनों का वैषम्य या वैधर्म्य ही प्रत्यक्ष-सिद्ध है। स्वप्न-काल के बोध का बाध या प्रत्याख्यान अवान्तर (जागरण) काल में प्रत्यक्ष से सिद्ध है, परन्तु जागरण-काल के बोध का बाध प्रत्यक्ष या किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं। कृष्ण द्वैपायन व्यास ने 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्रह्मसूत्र २-२-२९) के द्वारा यही भाव प्रकट किया है। जब दृष्टान्त (स्वप्न) और दार्ष्टान्तिक (जागरण) में साधर्म्य के स्थान में वैधर्म्य है, तब दृष्टान्त-गत धर्म अर्थात् स्वाप्निक पदार्थों की अवास्तविकता का दार्ष्टान्तिक अर्थात् जागरण-काल के पदार्थों में अनुमान कैसे हो सकता है? दृष्टान्त असिद्ध होने पर भी भला कहीं अनुमान सिद्ध होता है?

विज्ञानवादियों का दूसरा तर्क भी विचार करने पर इसी प्रकार असत् या

दूषित सिद्ध होता है। निःसंदेह पदार्थ और उसके ज्ञान का तथा-कथित सहोपलब्धि-नियम, जिससे वे दोनों को एक सिद्ध करते हैं, सूक्ष्म विचार की कसौटी पर कसे जाने पर खरा नहीं उतरता। यह सहोपलम्भ का नियम आखिर है क्या ? यदि इसका अर्थ 'साहित्येनोपलम्भः' अर्थात् पदार्थ और उसके ज्ञान का साथ-साथ पाया जाना है, तब तो इसके बल पर दोनों की एकता क्या ही सिद्ध होगी? हाँ, इसके उल्टे दोनों की भिन्नता तो अवश्य ही सिद्ध होगी; क्यों कि अभेद-विरुद्ध भेद से व्याप्त होने के कारण यह 'सहोपलम्भ' हेतु विरुद्ध हेतु, अतः 'विरुद्ध' हेत्वाभास है और हेत्वाभास से प्राप्त होने वाला ज्ञान 'प्रमा' नहीं,'प्रमाभास' होगा।यही बात इस प्रकार से कही जा सकती है कि 'सहोलपम्भ' और 'अभेद' वस्तुतः एक-दूसरे के विरोधी हैं, दो भिन्न वस्तुओं का ही सहोपलम्भ हो सकता है, सहोपलम्भ या साहचर्य के लिए 'भेद' अर्थात् कम से कम दो वस्तुओं का होना अनिवार्य है ; अभेद में अर्थात् वस्तु के एक ही होने पर किसका किससे साहचर्य होगा, अपना अपने ही से तो साहचर्य होता नहीं। यदि सहोपलम्भ हेतु का विरुद्धत्व दोष मिटाने के लिये उसका अर्थ एकोपलम्भ किया जाय तो यह भी असंगत ही है; क्योंकि 'सह' का अर्थ 'एक' तो होता ही नहीं। अच्छा इसका अर्थ 'एक' मान भी लें तो भी पूर्व असंगति ज्यों की त्यों बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के विषय बनने वाले पदार्थ या वस्तु के बाह्य होने तथा उस ज्ञान के आन्तरिक होने के कारण दोनों की 'एक' रूप से उपलब्धि असम्भव है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सांख्य शास्त्र न्याय, वैशेषिक, योग इत्यादि की भाँति ही बाह्यार्थवादी है। वैसे वेदान्त भी विज्ञानवादी नहीं, बाह्यार्थवादी ही है, जैसा कि ऊपर 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र के उद्धरण से स्पष्ट है, पर शाङ्कर वेदान्त बाह्य अर्थों या विषयों को न्याय, सांख्य, योग इत्यादि की भाँति 'वस्तुतः' सत् नहीं मानता, 'परमार्थतः' सत्य नहीं कहता, अपितु 'व्यवहारतः' ही सत्य मानता है। उसकी यह मान्यता उसकी परमार्थ-विषयक मान्यता "अद्वैत" के सर्वथा अनुसार ही है।

६—स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर

पूर्व जिन तन्मात्रों की चर्चा कर आये हैं, उनकी सांख्य शास्त्र में दूसरी संज्ञा 'अविशेष' है। एवं उनसे उत्पन्न होने वाले महाभूतों की संज्ञा 'विशेष' है[१]।

१—द्रष्टव्य कारिका ३८ :—तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च॥

किस वैशिष्ट्य के कारण ये महाभूत 'विशेष' कहलाते हैं, जिसके अभाव के कारण तन्मात्र 'अविशेष' कहे जाते हैं। इसका उत्तर ईश्वरकृष्ण ने का० ३८ के अन्तिम शब्दों में दिया है जिसका भाव यह है कि चूँकि आकाश, वायु इत्यादि स्थूल विषयों में कुछ सत्त्व-प्रधान होने के कारण शान्त, सुखात्मक, प्रकाश-रूप और लघु, कुछ रजः-प्रधान होने के कारण घोर, दुःखात्मक और चंचल, तथा कुछ तमः-प्रधान होने के कारण मोहात्मक, विषाद-रूप और गुरु (भारी) होते है, इसलिए ये परस्पर पृथक् पृथक् रूप से अनुभव किए जाने के के कारण 'विशेष' और 'स्थूल' कहलाते हैं। इसके विपरीत तन्मात्र हम लोगों (प्राकृत जनों) के द्वारा पृथक् पृथक् अनुभूत न होने के कारण 'अविशेष' और 'सूक्ष्म' कहलाते हैं।

विशेष या स्थूल विषयों के तीन प्रकार या अवान्तर भेद होते हैं। ये सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, तथा पञ्च महाभूत हैं। इनमें स्थूल शरीर जिसके चर्म (त्वक्) रक्त तथा मांस माता से तथा स्नायु,(नसें) अस्थि एवं मज्जा पिता से उत्पन्न होते हैं, अनित्य या नश्वर होते हैं क्योंकि गाड़े जाने पर ये पृथिवी-भाव को प्राप्त हो जाते हैं, जलाये जाने पर भस्म बन जाते हैं, एवं व्याघ्र इत्यादि से खा लिये जाने पर पच कर मल बन जाते हैं। इनके विपरीत सूक्ष्म शरीर नियत अर्थात् नष्ट होने वाले होते हैं[१]।

सूक्ष्म शरीर की दूसरी संज्ञा 'लिङ्ग' शरीर भी हैं। साधना की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व सांख्य शास्त्र में ही नहीं, अन्यत्र भी है। अतः इसके स्वरूप पर थोड़ा विस्तार के साथ विचार कर लेना उचित होगा। सांख्य-कारिका में इसे महत् (बुद्धि), अहंङ्कार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्र—इन अठारह तत्त्वों का बना हुआ, सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, नियत, भोग-रहित, धर्माधर्म भावों या संस्कारों से युक्त एवं संसरण करने वाला बताया है।[२] वेदान्त में भी सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर की कल्पना है, पर सांख्यशास्त्र-गत सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर से वेदान्तीय सूक्ष्म शरीर थोड़ा भिन्न है। जहाँ सांख्य में सूक्ष्म शरीर अठारह तत्त्वों का बना माना जाता है, वहाँ वेदान्त उसे सत्रह तत्त्वों का का ही मानता है। वेदान्त अहंकार का अन्तर्भाव मन इन्द्रिय में कर लेता

१—द्रष्टव्य का० ३९ :—सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः। सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

२—द्रष्टव्य सां० का० ४० :—पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥

है। इसके अतिरिक्त एक भेद और है, वह यह कि सांख्य के पांच तन्मात्रों के स्थान में वेदान्त पाँच प्राण मानता है। पर सांख्य और वेदान्त दोनों ही सूक्ष्म शरीर से प्रायः एक-से प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं। यह प्रयोजन पुरुष का संसरण है। इसी सूक्ष्म शरीर के द्वारा पुरुष (आत्मा) जगत् में विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। कभी यह मनुष्य बनता है तो कभी पशु, और कभी वनस्पति इत्यादि। इस प्रकार परशुराम, युधिष्ठिर, उदयन आदि अनेक पुरुषों का रूप धारण करने वाले नट[1] की भाँति यह सूक्ष्म शरीर अनेक योनियों में उत्पन्न होकर अनेक शरीर धारण करता रहता है।

वस्तुतः तो यह सूक्ष्म शरीर ही विभिन्न योनियों में प्रविष्ट होता है और पुरुष या आत्मा अनादि अविद्या के कारण उसके साथ अपना तादात्म्य या अभेद समझने के कारण अपना ही संसरण अर्थात् जन्म-मरण एवं उससे होने वाले दुःख को अपना ही समझता है।[2] यही उसका बन्धन है और इसी से छुटकारा पाने के लिए सारी आध्यात्मिक साधना बताई गई है। यह छुटकारा अज्ञान के मिटने पर ही मिल सकता है, अथवा इसे और अच्छे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि अज्ञान से मुक्ति ही जन्म-मरण से मुक्ति है—दुःखों से मुक्ति है। अज्ञान से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान ही हो हो सकता है। अतः सारी आध्यात्मिक साधना वस्तुतः ज्ञान ही के लिए की गई साधना है। यह ज्ञान वस्तुतः क्या है? और इसकी साधना क्या है? ज्ञान है—'नास्ति न मे नाऽहम्' की अनुभूति और इसकी साधना है—'गुरु की सहायता से अध्यात्म-शास्त्रों से तत्त्व अर्थात् स्वरूप या आत्मा के विषय में 'नास्ति, न मे नाऽहम्' (अर्थात् मैं अकर्त्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी आत्मा हूँ—इस सत्य) को जानकर श्रद्धा-पूर्वक दीर्घ काल तक उसकी तब तक निरन्तर भावना करते जाना, जब तक पूर्वोक्त अनुभूति न हो जाय, जब तक इस सत्य का साक्षात्कार न हो जाय।[3] चूँकि सत्य या तत्त्व के विषय में किया गया अभ्यास उसी का साक्षात्कार उत्पन्न करता है, इसी लिये यह ज्ञान 'विशुद्ध' अर्थात्

१—द्रष्टव्य सां०का० ४२ :—पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥

२—द्रष्टव्य सां० का० ६२ :—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

३—द्रष्टव्य सां० का० ६४ :—एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

संशय एवं विपर्यय से अमिश्रित होता है और विपर्यय या मिथ्या ज्ञान से अमिश्रित होने के कारण ही 'केवल' कहा जाता है। इसी लिये ज्ञानी को 'केवली' और ज्ञान से प्राप्त होने वाले जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु इत्यादि दुःखों के विनाश को 'कैवल्य' (मोक्ष) कहते हैं। एक शंका यहाँ अवश्य उठती है, वह यह है कि अविद्या तो अनादि है, अतः उससे सतत उत्पन्न होते रहने वाले मिथ्या ज्ञान से जन्म-मरण सदा ही होते रहेंगे, उनसे कभी छुटकारा होगा ही नहीं। इसका समाधान यह है कि अविद्या-संस्कार अनादि होने पर भी सान्त है—नष्ट होने वाला है, और उसका यह अन्त या विनाश उसकी अपेक्षा अभिनव ज्ञान-संस्कार से भी हो जायगा। क्योंकि तत्त्वोन्मुखता बुद्धि का स्वभाव ही है, जैसा कि वेद-बाह्यों (बौद्धों) ने भी कहा है :—"मिथ्या ज्ञान (के संस्कारों) से वस्तु-स्वरूप के निर्दोष (विशुद्ध) ज्ञान का कभी भी बाध नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धि स्वभावतः (अप्रयास) ही तत्त्वज्ञानोन्मुखी होती है।"[1] इस अवस्था में जीव को बाधने वाला अज्ञान लेशमात्र भी नहीं अवशिष्ट रहता, इसीसे ज्ञान को 'अपरिशेष'—नास्ति किञ्चिदवशिष्टं ज्ञातव्यमस्मिन् तत्—कहा गया है।[2]

७—कैवल्य या अपवर्ग

पूर्वोक्त ज्ञान ज्यों ही हुआ अर्थात् साधक ने ज्यों ही यह अनुभव कर लिया कि कर्त्री, भोक्त्री एवं परिणामिनी प्रकृति से अकर्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी पुरुष मैं सर्वथा विविक्त—पृथक्—हूँ, त्यों ही पुरुष प्रकृति से उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी पुरुष की ओर से उपरत हो जाती है—उस पुरुष के प्रति अपना भोगादि व्यापार बन्द कर देती है। इस प्रकार दोनो का संयोग रहने पर भी सृष्टि—प्रकृति-व्यापार—का उस पुरुष के प्रति कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। सत्य बात यह है कि जब तक प्रकृति पुरुष में विवेक-ख्याति नहीं उत्पन्न कर पाती, तभी तक वह शब्द इत्यादि विषयों का बार-बार भोग कराती है। परन्तु एक बार विवेक-ख्याति उत्पन्न कर चुकने पर वह फिर भोग नहीं उत्पन्न करती, क्योंकि भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं;

१—"निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः" ॥
—सां० का० ६४ की तत्त्वकौमुदी में उद्धृत

२—द्रष्टव्य पूर्व उद्धृत सां० का० ६४।

३—द्रष्टव्य का० ६६ :—दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या। सति। संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥

जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अङ्कुर नहीं होता। प्रकृति से अपने को विविक्त या भिन्न न समझने के कारण पुरुष सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श इत्यादि प्रकृति-परिणामों को 'ये मेरे हैं'—ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। इसी प्रकार प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को भी वह समझता है कि 'यह मेरे लिए है'। परन्तु विवेक-ज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर अविवेक-रहित हो जाने के कारण वह न तो शब्द इत्यादि का भोग ही करता है, न प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को ही अपने लिए समझता है; और भोग एवं विवेक-ज्ञान तभी तक प्रकृति-कृत सर्ग में कारण बनते हैं, जब तक ये 'पुरुषार्थ' अर्थात् पुरुष के लिए प्राप्तव्य विषय रहते हैं। ज्यों ही ये 'पुरुषार्थ' (अर्थात् प्राप्त हो जाने के कारण पुरुष केलिए प्राप्तव्य) नहीं रहे त्यों ही ये प्रकृति-कृत सर्ग के प्रयोजक नहीं रहते।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विशुद्ध ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर सञ्चित धर्म अधर्म इत्यादि कर्मों का बीज-भाव—फलोत्पादकत्व—नष्ट हो जाता है। परन्तु 'प्रारब्ध, कर्मो—जिनसे विशिष्ट योनि वाला वर्तमान जन्म तथा इस जन्म के सुख-दुःख भोग प्राप्त हुये हैं—के अवशिष्ट संस्कार भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं। अतः उनके सामर्थ्य से साधक, जो अब सिद्ध हो चुका है, वैसे ही शरीर धारण किए रहता है, जैसे डण्डे से चलाई गई कुम्हार की चाक पूर्व उत्पन्न वेग से चलती रहती है। जैसे वेग के समाप्त हो जाने पर चाक चलनां बन्द कर देती है, वैसे ही अवशिष्ट प्रारब्ध-संस्कार के क्षीण हो जाने पर शरीर भी व्यापार करना बन्द कर देता है, नष्ट हो जाता है। इस विषग में ईश्वरकृष्ण की यह उक्ति सर्वथा संगत है :—"सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः॥ प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥

(सां० का० ६७, ६८)

अनुभवात्मक या साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने से लेकर शरीर नष्ट होने तक के बीच की स्थिति जीवन्मुक्ति कहलाती है, एवं शरीर नष्ट होने के बाद की अनवधि एवं अनन्त स्थिति विदेहमुक्ति। यही कैवल्य या अपवर्ग भी है। इसी अपवर्ग—जन्मादि एवं उसमें होने वाले दुःख-त्रय के आत्यान्तिक एवं ऐकान्तिक विनाश—की सिद्धि के लिये सांख्य शास्त्र प्रवृत्त हुआ था। इस लक्ष्य की सिद्धि तक का सारा मार्ग प्रशस्त कर चुकने

के अनन्तर यह शास्त्र 'चरित्रार्थ'—चरितः अनुष्ठितः अर्थः स्वप्रवृत्ति-प्रयोजनं येन—हो जाता है, 'समाप्त'—सम्यक् आप्तः प्राप्तः अर्थः स्वप्रयोजनं येन—हो जाता है। प्रत्येक कार्य की समाप्ति उस प्रयोजन की सिद्धि में होती है जिसे लेकर कोई भी विशेष कार्य आरम्भ होता है, इस नियम के अनुसार दुःख-त्रय-प्रशम रूप अपवर्ग की सिद्धि के प्रयोजन से किये गये शास्त्रारम्भ का उसकी निष्पत्ति में ही पर्यवसान—'समाप्ति'—सर्वथा स्वाभाविक ही है।

विषयानुक्रमणी



साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान् ॥१॥

अर्थ—स्वयं अनुत्पन्न होकर भी महत् इत्यादि कार्यों को उत्पन्न करने वाली, एक होकर भी रजस्सत्त्वतमोरूप त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति को हम नमस्कार करते हैं। जो सुखादि भोग द्वारा सेवा करती हुई उस प्रकृति का अनुसरण करते हैं (उसके धर्मों या गुणक्रियादि का अपने में आरोप करते हैं), तथा समस्त भोग सम्पादित कर देने पर उसे अनात्म वस्तु समझ कर सदा के लिये छोड़ देते हैं, उन वस्तुतः कभी भी जन्म न लेने वाले पुरुषों को भी नमस्कार है ॥१॥

विशेष—शिष्टानुमत श्रुत्युक्त मङ्गलाचरण की कर्त्तव्यता का पालन करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने श्वेताश्वतर श्रुति में प्रकृति तथा मुक्तामुक्त उभयविध पुरुष के विषय में कहे गए "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" इस मंत्र को प्रयोजनानुसार अंशतः परिवर्तित करके प्रस्तुत रूप में रक्खा है। 'प्रकर्षेण व्यक्तरूपेण जायन्ते आविर्भवन्ति इति प्रजाः महादादयो विकाराः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मूल का 'प्रजा' शब्द महदादि कार्यों के लिये प्रयुक्त हुआ है। मूल के लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण शब्द अभिधा के द्वारा तद्रूप-विशेष के वाचक होते हुए भी इस स्थल में लक्षणा के द्वारा रजस्, सत्त्व तथा तमस् के बोधक हैं। लाक्षणिक अर्थ लेने का कारण यह है कि यद्यपि ये वर्ण इन गुणों में वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं, तथापि जैसे लोहित या रक्त वर्ण वस्त्र को रँग देता है, उसी प्रकार रजस् भी प्रवृत्ति के द्वारा मन को रँग देता है। इसी प्रकार जैसे स्वच्छ जल मल को धो देता है, उसी प्रकार सत्त्व भी ज्ञानादि द्वारा मन को विमल कर देता है। एवं जैसे कृष्ण मेघ-पटल आकाशादि को ढँक देता है, उसी प्रकार तमस् भी अज्ञान या मोह के द्वारा ज्ञानादि को ढँक देता है। यद्यपि सुख-स्वरूप होने के कारण सत्त्व की प्रधानता होने से उसी का सर्व प्रथम ग्रहण होना उचित था, तथापि रजस् के सृष्टि-प्रवर्तक होने के

कारण उसका ग्रहण सर्व प्रथम, एवं तदनन्तर स्थिति-दशा में ही उत्पन्न कार्यों के प्रकाशक होने के कारण सत्त्व का ग्रहण उसके बाद तथा प्रकाशित वस्तुओं के ही स्वरूपावरण-रूप विनाश (सांख्यमत में वस्तु का विनाश उसका स्वरूपतः अभाव नहीं अपितु उसके स्वरूप का आवरण या तिरोधान-मात्र होता है) को उपस्थित करने के कारण तमस् का ग्रहण सबके अन्त में हुआ है।

उपर्युक्त श्लोक से सांख्य शास्त्र का यह अभिधेय या प्रतिपाद्य विषय ध्वनित होता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही कर्त्री है, भोगापवर्ग-रूप पुरुषार्थ ही उसकी प्रवृत्ति का हेतु है, पुरुष वस्तुतः उदासीन होकर भी प्रकृति के धर्म या क्रियादि को अपने में आरोपित करने के कारण कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि बन्धनों में पड़ता है, और भोग-समाप्ति एवं शास्त्रज्ञानाभ्यास से उत्पन्न (मैं प्रकृति से विभक्त या पृथक् एवं उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि गुणों से निर्लिप्त हूँ—एवंविध) विवेकख्याति या तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने असंगत्व का अनुभव करके बन्धनविहीन—केवली—हो जाता है।

श्वेताश्वतरश्रुत्युक्त—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' इस मन्त्र के अनुसार देव-वन्दना की भाँति गुरु-वन्दना की भी कर्त्तव्यता समझते हुए आचार्य सांख्य-शास्त्र की गुरु-परम्परा की भी वन्दना कर रहे हैं:—

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः॥२॥

अर्थ—महातपस्वी कपिल, उनके शिष्य आसुरि मुनि, (उनके भी शिष्य) पञ्चशिख, तथा ईश्वरकृष्ण को शास्त्र-ज्ञान के लिए अपेक्षित उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये नमस्कार करते हैं।

विशेष—(i) आचार्य माठर ने सांख्य-कारिकाओं की स्वरचित वृत्ति के आरम्भ में ही 'स (आसुरिः) एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव' (द्रष्टव्य माठरवृत्ति, चौखम्बा संस्कृतसिरीज नं० २९६ प्रकाशन, पे० २)—ऐसा लिखकर आसुरि मुनि की कपिलाचार्य-शिष्यता प्रतिपादित की है। भागवत के 'पंचमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥' (द्रष्टव्य भागवत, प्रथमस्कंध, अ० ३, श्लोक १०)—श्लोक से भी यही बात स्पष्ट होती है। इस ग्रन्थ की ७०वीं कारिका से भी यही बात सिद्ध होती है कि कपिलाचार्य

ने सर्वप्रथम यह ज्ञान आसुरि को तथा आसुरि ने पञ्चशिख को दिया था। आचार्य पञ्चशिख ने भी लिखा है—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तंत्रं प्रोवाच'। आचार्य आसुरि के शिष्य आचार्य पञ्चशिख थे, यह बात महाभारत से ज्ञात होती है—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः॥ पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥ (महा० पर्व १२, अ० २१८, श्लो० १२)

ii) श्लोक के 'नमस्यामः' क्रिया-पद का कर्म होने के कारण 'कपिल' इत्यादि शब्दों में 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया होनी चाहिये परन्तु 'कपिलं प्रीणयितुम्' इस विशिष्ट अर्थ में 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' के अनुसार चतुर्थी हुई है। इसीलिये 'शास्त्रज्ञान के लिये अपेक्षित उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये नमस्कार करते हैं'—ऐसा अनुवाद किया गया है।

[अब प्रस्तुत 'सांख्यकारिका' नामक शास्त्र की रचना का विशिष्ट प्रयोजन प्रकट करने की दृष्टि से भूमिका बाँधते हुये कहते हैं:—]

इह खलु प्रतिपिपित्सितमर्थं प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षावताम्। अप्रतिपिपित्सितमर्थं तु प्रतिपादयन् 'नायं लौकिको नापि परीक्षकः' इति प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत। स चैषां प्रतिपिपित्सितोऽर्थो, यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते, इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात् तद्विषयजिज्ञासामवतारयति—

अर्थ—जगत् में उसी वक्ता या उपदेष्टा के वचन में बुद्धिमानों को श्रद्धा होती है जो उनके जिज्ञासित विषय का प्रतिपादन एवं बोध कराता है। इसके विपरीत अजिज्ञासित विषय के प्रतिपादक पुरुष को बुद्धिमान् जन—'यह व्यक्ति न व्यवहारज्ञ[1] ही है और न शास्त्रज्ञ[2] ही'—ऐसा कहकर उन्मत्त की भाँति उसकी उपेक्षा करते हैं; और जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ होता है, वही बुद्धिमानों का ज्ञातव्य विषय होता है। चूँकि प्रारम्भ किये जाने वाले शास्त्र के विषय-भूत २५ तत्त्वों का निर्णयात्मक ज्ञान ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के साधन-

१—लोके भवः सत्तावान्, न विद्वद्गोष्ठ्यामुपवेष्टुमर्हतीति लौकिकः, व्यवहारज्ञः शास्त्रीयसंस्कारविधुरः नरः—बालरामोदासीनः।

२—परि परितः सर्वतः प्रमाणैस्तर्केण च ईक्षते वस्तुतत्त्व निश्चिनोतीति परीक्षकः शास्त्रज्ञ इति। यथोक्तं न्यायभाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिना—लोकसाम्यमनतीता लौकिकाः नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः तद्विपरीताः परीक्षकास्तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति

भूत विवेक-ज्ञान का कारण या उत्पादक है, इसलिये कारिकाकार इस प्रकार के शास्त्र के विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुये कहते हैं:—

दुःखत्रयाभिघाता[1] ज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

अर्थ—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इस त्रिविध दुःख के प्रहार से उसको दूर करने वाले शास्त्रीय साधन या उपाय के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यदि कोई यह कहे कि दुःख-विनाश का लौकिक उपाय विद्यमान होने के कारण वह शास्त्र-जिज्ञासा व्यर्थ है, तो (उसका उत्तर यह है कि) ऐसी बात नहीं है क्योंकि उससे दुःख-त्रय की अनिवार्य-रूप से सार्वकालिक निवृत्ति नहीं होती।

एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत यदि दुःखं नाम जगति न स्यात्, सद्वा न जिहासितम्, जिहासितं वा अशक्यसमुच्छेदम्। अशक्यसमुच्छेदता च द्वेधा—दुःखस्य नित्यत्वात्, तदुच्छेदोपायापरिज्ञानाद् वा। शक्यसमुच्छेदत्वेऽपि च शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्यानुपायत्वाद्वा, सुकरस्योपायान्तरस्य सद्भावाद्वा ॥

तत्र न तावद् दुःखं नास्ति, नाप्यजिहासितमित्युक्तम्—"दुःखत्रयाभिघातात्" इति।

अर्थ—यदि जगत में दुःख न हो, अथवा होने पर भी उसको छोड़ने की इच्छा न हो, अथवा छोड़ने की इच्छा होने पर भी उसके नित्य होने के कारण या विनाश के उपाय के अज्ञान के कारण उसकी निवृत्ति सम्भव न हो, अथवा निवृत्ति सम्भव होने पर भी प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय—प्रकृति तथा पुरुष का विवेक-ज्ञान—उस दुःख की निवृत्ति का उपाय न हो, अथवा वैसा होने पर भी इस विवेकज्ञान की अपेक्षा कोई सुलभ एवं सरलतर उपाय हो तो इसके विषय में जिज्ञासा कदापि न होगी। परन्तु जगत में दुःख है ही नहीं अथवा होने पर भी उसकी निवृत्ति किसी को अभीष्ट नहीं है— ऐसी बात नहीं है। इसीलिये शास्त्रकार ने कहा—'दुःखत्रयाभिघातात्'।

१—न्यायमते अभिघातो नाम शब्दजनकसंयोगः, सांख्यमते तु अभिघातो नाम बन्धजनकसंयोगः। दुःखं बुद्धितत्त्वे वर्तते, आत्माऽपि प्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन बुद्धितत्त्वे वर्तते; तत्रात्मप्रतिबिम्बे दुःख संक्रामति, तद्दुःखमात्मनः प्रतिकूलवेदनीय भवति, अतः प्रतिकूलवेदनीयत्वापराभिधानः बन्धजनकसंयोगः दुःखत्रयेण सह आत्मनः सम्बन्धः।

किरणावली, पृ० १६२

दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम् । तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च । तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्—शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम् । सर्वञ्चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् ।

अर्थ—दुःख तीन प्रकार के हैं :—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । इनमें से आध्यात्मिक[१] दुःख शारीरिक और मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है । वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को शारीरिक तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह (अज्ञान), भय, ईर्ष्या (परोत्कर्षासहिष्णुता), विषाद (प्रिय पदार्थ के विनाश से उत्पन्न व्याकुलता) तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से[२] उत्पन्न दुःख को मानसिक कहते हैं । ये सभी दुःख आन्तरिक[३] उपायों से साध्य[४] या निवर्तनीय होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं ।

विशेष—(i) वस्तुतः शारीरिक दुःख भी दो प्रकार का होता है—एक नैसर्गिक जैसे अशनाया (भूख) पिपासा इत्यादि से उत्पन्न, दूसरा त्रिदोष-जन्य जैसे ज्वर, अतिसार इत्यादि । प्रस्तुत स्थल में प्रथम का व्यक्तरूप से ग्रहण न होने पर भी दूसरे को उसका भी उपलक्षण जानना चाहिए ।

१—आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम् । तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च ।

२—विषयविशेषादर्शनम् विषयाणां विशेषाः शब्दस्पर्शादिश्रेष्ठविषयाः, तेषामदर्शनम् अननुभवः अलाभः इति यावत् ।—किरणावली । सारबोधिनीकाराः शिवनारायणशास्त्रिणः बालरामोदासीनाश्च पुनः विषयविशेषादर्शनेतिपदस्य न्यायमतेन, 'अनवधारणात्मकमनेककोटिकं ज्ञानं संशयः' इत्यर्थं कृतवन्तः ।

३—आन्तराः अन्तरे शरीराभ्यन्तरे वा अन्तःकरणे वा भवाः सत्तावन्तः अन्नांबुभेषजदम्भदयादानविरेचनादयः साधनविशेषाः, तैः साध्यत्वाद् दुःखमप्युपचारादान्तरं सदाध्यात्मिकमित्युच्यते—बालरामोदासीनः ।

४—वस्तुतस्तु आन्तरोपायसाध्यत्वादित्यत्र साध्यशब्दो जन्यपर्यायः, तथा शरीराभ्यन्तरे मनसि च भवा ये धातुवैषम्यादयः कामादयो वा निमित्तविशेषास्तैः साध्यत्वाज्जन्यत्वात् शारीरं मानसं चान्तरमित्युच्यते, शरीरमनोबहिर्भूतसिंहव्याघ्रवर्षातपादिनिमित्तविशेषजन्यत्वाच्चाधिभौतिकादि बाह्यमित्युच्यते, इत्यत्र बोध्यः ।—बालरामोदासीनः । आन्तरः अहङ्कारास्पदनिष्ठो य उपायः कामक्रोधादिः तेन साध्यत्वात् जन्यत्वादित्यर्थः इति सुषमाकारः । किरणावल्यामपि तत्साध्यत्वात् तज्जन्यत्वात् तन्निष्पाद्यत्वादित्यर्थः कृतः ।

(ii) यद्यपि सभी दुःख मन का धर्म होने के कारण मानसिक ही होता है, अतएव आध्यात्मिक (शारीरिक, मानसिक), आधिभौतिक और आधिदैविक रूप से उसका विभाजन सम्भव नहीं है; परन्तु यहाँ ऐसा इस दृष्टि से किया गया है कि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह तो मानसिक और जिसमें उसके अतिरिक्त बाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो, वह उससे भिन्न शारीरिक या आधिभौतिक या आधिदैविक) है। 'तत्त्व-विभाकर' में पं० वंशीधर मिश्र ने भी इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'ननु सर्वस्यापि दुःखस्य मनोधर्मत्वेन मानसत्वात् कथं मानसत्वामानसत्वव्यवहार इति चेत्, न; मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वव्यवहारात्' ॥

(iii) अन्न से बुभुक्षा, जल से पिपासा, भेषज या औषधि से ज्वर, अतिसार आदि रोग, दम या इन्द्रियनिग्रह से काम, दया से क्रोध, दान से लोभ, विवेचन से मोह, तत्त्वज्ञान से भय, उदारता से ईर्ष्या तथा असंग से विषाद की निवृत्ति होती है। ये सारे साधन शरीर या मन के भीतर प्रयुक्त होने से आन्तरिक हुए, अतएव इनके द्वारा साध्य या निवर्तनीय दुःख भी गौणरूप से आन्तरिक या आध्यात्मिक कहलाते हैं।

उपर्युक्त अर्थ 'साध्य' पद का 'निवर्तनीय' या 'दूर होने योग्य' अर्थ लेकर किया गया है। बालराम ने अपनी टीका 'विद्वत्तोषिणी' में इसकी ओर संकेत किया है। परन्तु आगे उन्होंने 'वस्तुतस्तु आन्तरोपायसाध्यत्वादित्यत्र साध्यशब्दो जन्यपर्यायः, इत्यादि लिख कर इस अर्थ की उपेक्षा की है। सुषमा, किरणावली तत्त्वविभाकर आदि टीकाओं में भी 'साध्य' का 'जन्य' ही अर्थ लिया गया है। सारबोधिनीकार ने भी पहले 'साध्य' का 'निवर्तनीय' ही अर्थ लेकर 'अन्नमन्तर्गतं सत् बुभुक्षां वारयति, जलमन्तर्गतं सत् पिपासां दूरीकरोति, औषधं चान्तरं सत् ज्वरादिकमपनयति ' इत्यादि प्रकार से अपने भाव को स्पष्ट किया है; परन्तु आगे उन्होंने भी 'जन्य' अर्थ लेकर 'उपायै' का 'धातुवैषम्यादिभिः कामादिभिर्वा निमित्तविशेषैः' अर्थ किया है। परन्तु हमें तो पूर्व अर्थ ही युक्त लगता है। 'उपाय' करने में जो इच्छा की अपेक्षा होती है, उसकी दुःख के साथ संगति नहीं बैठती। दुःख की प्राप्ति के लिये भला कौन उपाय करेगा? 'जन्य' अर्थ लेने पर 'उपाय' का 'कारण' या निमित्त अर्थ लेना होगा।

बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं

तु यद्त्रराद्तसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम् । तदेतत् प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम् । तदनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसम्बन्धोऽभिघात इति एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिहासहेतुरुक्तः ।

अर्थ—बाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार का होता है—आधिभौतिक[१] और आधिदैविक[२] । उनमें से मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक तथा यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है। तो फिर (बुद्धितत्त्वान्तवर्ती) रजोगुण के विशिष्ट परिणाम-भूत एवं प्रत्येक के द्वारा अनुभव किये जाने वाले इस दुःख को हम अस्वीकार नहीं कर सकते । [इस प्रकार 'जगत् में दुःख है ही नहीं'—इस शंका का निराकरण हो गया । अब 'दुःख होने पर भी स्यात् उसकी निवृत्ति अभीष्ट न हो'–इस दूसरी शंका का निराकरण करते हुये कहते हैंः—] अन्तःकरण में वर्तमान और अनिष्ट-रूप में अनुभूयमान इस त्रिविध दुःख के साथ चेतन पुरुष के असह्य सम्बन्ध को 'अभिघात' कहते हैं। इतने से यह स्पष्ट हो गया कि दुःख का अनिष्ट-रूप में अनुभव ही उसके परिहार की इच्छा का कारण है।

विशेष—यद्यपि दुःख वस्तुतः बुद्धि का ही धर्म है, पुरुष का नहीं, जैसा कि 'अन्तःकरणवर्तिना'—इस पद से कौमुदीकार ने स्पष्ट कर दिया है और इस प्रकार जिहासा का प्रश्न उठाना असम्भव है क्योंकि जिस अन्तःकरण का वह धर्म है, वह जड़ है और जिस पुरुष—चेतन को जिहासा हो सकती है, उसका तो वह दुःख धर्म है ही नहीं, तथापि बुद्धि-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष–जिसे व्यवहार में जीव कहते हैं–बुद्धि-गत धर्मों का अपने में आरोप करके (मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ—इत्यादि रूप में) उसका अभिमान करता है।

['जिहासा होने पर भी नित्य होने के कारण दुःख का परिहार ही शायद सम्भव न हो'—अब इस तृतीय शंका का निराकरण करते हैंः—]

१—भूतानि जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपाणि चराचरजातीयादि अधिकृत्य निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिभौतिकम् ।

२—देवान् यक्षादीन् दिवःप्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिदैविकम्—बालरामः । [केचित्तु देवपदेन दिवःप्रभवाणां वातवर्षादीनामपि ग्रहणं वदन्ति; भूतपदेनैव तेषां लाभसम्भवात् देवपदेन ग्रहणं व्यर्थमेवेति प्रतिभाति—सुषमा]

यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखम्, तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुमित्युपरिष्टादुपपादयिष्यते । तस्मादुपपन्नं 'तदपघातके हेतौ' इति । तस्य दुःखत्रयस्य अपघातकः तदपघातकः । उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य 'तदा' परामर्शः ॥

अर्थ—यद्यपि सत् होने के कारण दुःख का पूर्ण निरोध या विनाश सम्भव नहीं है, तथापि उसका अभिभव या उसकी शान्ति की जा सकती है—इसे आगे (६५ वीं कारिका—तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदुपस्थितः स्वच्छः ॥—में) स्पष्ट करेंगे । इस प्रकार 'तदपघातके हेतौ,' यह कथन युक्त है । 'तदपघातक' समास में 'तद्' का अर्थ है—'दुःखत्रय' । यद्यपि 'दुखत्रय' पद 'दुःखत्रयाभिघातात्'—इस समास का गौण अंग है [अतः 'तद्' के द्वारा 'दुःखत्रय' का नहीं अपितु 'अभिघात' का ही परामर्श (अध्याहार) होना चाहिये], तथापि बुद्धि में उपस्थित या आरूढ़ होने के कारण 'तद्' के द्वारा (समास के द्वितीय और मुख्य अंग 'अभिघात' की अपेक्षा) 'दुःखत्रय' का ही परामर्श या अध्याहार हुआ है ।

विशेष—आरम्भवादी नैयायिक उत्पत्ति के पूर्व कार्य-वस्तु का कारण-वस्तु में अभाव मानते हैं । वे कारण में अविद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति मानते हैं । इसी प्रकार उनके मत में उत्पन्न कार्य का नाशक सामग्री द्वारा होने वाला विनाश भी आत्यन्तिक होता है, कार्य कारण के रूप में नही परिणत होता । परन्तु इसके विपरीत सांख्य-योग मतों को मानने वाले सत्कार्यवादी हैं । वे कारण-वस्तु में पूर्व से ही सूक्ष्म-रूप से विद्यमान वस्तु की उत्पति बताते हैं । उनके अनुसार असत् वस्तु की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । इसी प्रकार कार्य या उत्पन्न वस्तु के फिर कारण-रूप में परिणत हो जाने को ही वे उसका विनाश मानते हैं, उसका आत्यन्तिक प्रध्वंस नहीं मानते । इसके अनुसार दुःख, जो प्रकृति के रजस् गुण का ही परिणाम-विशेष है, का भी पूर्णतः विनाश नहीं हो सकता । इसलिये सांख्य और योग मत वाले दुःख के विनाश को उसकी अतीतावस्था या शान्तावस्था मानते हैं, और यह अतीतावस्था नाशक सामग्री (विवेकज्ञान) से उत्पन्न हुई कारणावस्था (अर्थात् रजस् रूप में स्थिति) के अतिरिक्त

१—अभिभवः विनाशसामग्रीसम्पादनकृतः प्रतिरोधः शान्तावस्थापादनेन तदनाविर्भावः ।
—सारबोधिनी

अभिभवः शान्तावस्थापादनेन स्थूलस्वरूपप्राप्तियोग्यताविरहरूपोऽनाविर्भावः ।
बालरमा:

और कुछ भी नहीं है। यदि कोई शंका करे कि जिस प्रकार उत्पत्ति के पूर्व कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान कार्य कारण-व्यापार द्वारा वर्तमान या स्थूल अवस्था में आ जाता है, उसी प्रकार नाशक सामग्री द्वारा वर्तमान या स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था (कारण-रूपता) को प्राप्त हुआ दुःख फिर कभी न कभी स्थूल या वर्तमान हो सकता है, तो सांख्य इसका उत्तर यह देता है कि कारण-सामग्री के अभाव के कारण ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि अतीत कार्य कभी वर्तमान हो, तो 'यह वही कार्य है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान अवश्य होगा। पर ऐसा न होने से अतीत दुःख की पुनरावृत्ति नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार दुःख का सार्वकालिक प्रशम ही मोक्ष है। चौथी तथा पाँचवीं शंकाओं के उत्तर में कहते हैं—

'अपघातकश्च'[1] हेतुः शास्त्रप्रतिपाद्यो नान्य इत्याशयः।

अर्थ—प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य (प्रकृति और पुरुष का) विवेक-ज्ञान ही उक्त दुःख-त्रय की निवृत्ति का एक-मात्र उपाय है, अन्य कोई नहीं; [अत एव इसके विषय में जिज्ञासा होना सर्वथा स्वाभाविक है।]

[अत्र तत्त्वकौमुदीकार अपनी पूर्वोक्त पाँचवीं शङ्का को फिर से कारिकाकार के शब्दों द्वारा उठा कर विस्तार पूर्वक रख रहे हैं।—]

अत्र शङ्कते—"दृष्टे साऽपार्था चेत्" इति। अयमर्थः—अस्तु तर्हि दुःखत्रयम्, जिहासितं च तद् भवतु, भवतु च तच्छक्यहानम्, सहतां च शास्त्रगम्य उपायस्तदुच्छेत्तुम्, तथाप्यत्र प्रेक्षावतां जिज्ञासा न युक्ता, दृष्टस्यैवोपायस्य तदुच्छेदकस्य सुकरस्य विद्यमानत्वात्; तत्त्वज्ञानस्य तु अनेकजन्माभ्यासपरम्पराऽऽयाससाध्यतयाऽतिदुष्करत्वात्। तथा च लौकिकानामाभाणकः—

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥ इति।

सन्ति चोपायाः शतशः शारीरदुःखप्रतीकारायेषत्करा भिषजां वरैरुपदिष्टाः। मानसस्यापि सन्तापस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्री-पान-भोजन-विलेपन-वस्त्रालङ्कारादिविषयसम्प्राप्तिरुपायः सुकरः। एवमाधिभौतिकस्यापि दुःखस्य नीतिशास्त्राभ्यासकुशलतानिरत्ययस्थानाध्यासनादिः प्रतीकारहेतुरीषत्करः। तथाधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौषधाद्युपयोगः सुकरः प्रतीकारोपाय इति।

---

१ चोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च। शास्त्रप्रतिपाद्य (तत्त्वविवेकः) एव अपघातको हेतुरित्यन्वयः।

अर्थ—अब फिर एक दूसरी शंका होती है कि "दुःखत्रय के विनाश का सुकर लौकिक उपाय होने के कारण यदि वह (शास्त्र–जिज्ञासा) व्यर्थ हो" इसका आशय यह है :—माना कि त्रिविध दुःख जगत् में है, उसकी निवृत्ति भी अभीष्ट और सम्भव है,तथा शास्त्रोक्त उपाय उसकी निवृत्ति करने में समर्थ भी है; तथापि उसके विषय में विद्वानों को जिज्ञासा नहीं होगी क्योंकि जहाँ एक ओर उस निवृत्ति का सुकर लौकिक उपाय सुलभ है, वहाँ दूसरी ओर तत्त्वज्ञान, जो दुःख की निवृत्ति का शास्त्रोक्त उपाय है, अनेक जन्मों के सतत अभ्यास से होने वाले श्रम के द्वारा साध्य होने के कारण दुष्कर है। लोकोक्ति भी ऐसी है कि "यदि (मार्ग के) मँदार वृक्ष में ही मधु मिल जाय तो पर्वत पर किस लिये जाया जाय ? अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर भला कौन विद्वान् तदर्थ प्रयत्न करेगा।" शारीरिक दुःख की निवृत्ति के लिये सैकड़ों सुकर उपाय वैद्यों के द्वारा बताए गए हैं। मानसिक दुःख के भी निवारण का उपाय, जैसे सुन्दर स्त्री, पान, भोजन, लेप, वस्त्र, अलङ्कार इत्यादि वस्तुओं की प्राप्ति सुकर ही है। इसी प्रकार आधिभौतिक दुःख के भी निवारण का उपाय, जैसे नीतिशास्त्रों के सतत अध्ययन से उत्पन्न चातुर्य तथा निर्बाध या निरुपद्रव स्थानों में वास इत्यादि भी सुकर है। इसी प्रकार आधिदैविक दुःख के भी निवारण के मणि-धारण, मन्त्रानुष्ठान तथा औषधि-सेवन इत्यादि उपाय भी सरल है।

विशेष—मूल के 'अर्के' पद के स्थान में राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ तथा पं० वंशीधर मिश्र वाले संस्करणों में 'अक्के' पाठ मिलता है। तब इसका अर्थ यह होगा कि 'यदि घर के कोने में ही मधु मिल जाय तो··· ···।'डा० झा ने 'अत्के' पाठ अच्छा मानकर उसे गत्यर्थक'अत्' धातु से निष्पन्न हुआ माना है और उसका अर्थ किया है—'सुगम स्थान. जहाँ सर्व-सामान्य जाया करते हों।' शबर स्वामी ने जैमिनीय-सूत्र-भाष्य में 'पथि जातेऽर्के मधूत्सृज्य तेनैव पथा यथा मध्वर्थिनः पर्वतं न गच्छेयुः, ऐसा लिखकर 'अर्के चेन्मधु विन्देत' ऐसा उद्धरण दिया है। अतः 'अर्के' ही पाठ अधिक प्राचीन एवं सम्यक् प्रतीत होता है।

निराकरोति - "न" इति । कुतः ? "एकान्तात्यन्ततोऽभावात्"। एकान्तो—दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः, अत्यन्तो—निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः, तयोः एकान्तात्यन्तयोरभावः, एकान्तात्यन्ततोऽभावः। षष्ठीस्थाने सार्वविभक्तिकस्तसिः।

एतदुक्तं भवति—यथाविधि रसायनादिकामिनीनीतिशास्त्राभ्यासमन्त्राद्युपयोगेऽपि तस्य तस्याध्यात्मिकादेर्दुःखस्य निवृत्तेरदर्शनात् अनैकान्तिकत्वम्, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्तिदर्शनात् अनात्यन्तिकत्वम् इति सुकरोऽपि ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवृत्तेर्न दृष्ट उपाय इति नापार्था जिज्ञासेत्यर्थः।

अर्थ—इसका निराकरण करते हुए कारिकाकार कहते हैं कि "ऐसा नहीं है।" क्यों? "एकान्त और अत्यन्त के अभाव के कारण।" 'एकान्त' का अर्थ है—दुःख का नियत रूप से निवृत्त हो जाना, तथा 'अत्यन्त' का अर्थ है—निवृत्त दुःख का फिर न उत्पन्न होना। 'एकान्तात्यन्ततोऽभाव' का अर्थ है—'एकान्त' और 'अत्यन्त' का अभाव। सभी विभक्तियों में प्रयुक्त होने वाले 'तसि' प्रत्यय का प्रयोग इस स्थल में षष्ठी के अर्थ में हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि यथाविधि रसायन[1], कामिनी, नीतिशास्त्र और मन्त्रादि के प्रयोग से भी विविध दुःख की प्रायः निवृत्ति न दीख पड़ने के कारण वह (निवृत्ति) ऐकान्तिक नहीं हुई। निवृत्त हुए दुःख की भी पुनः उत्पत्ति दीख पड़ने के कारण वह आत्यन्तिक नहीं हुई। इस प्रकार लौकिक उपाय सरल होते हुए भी दुःख की ऐकान्तिक (नियत रूप से) और आत्यन्तिक (सार्वकालिक) निवृत्ति नहीं कर पाते। इसलिये शास्त्रोपाय-विषयिणी जिज्ञासा व्यर्थ नहीं कही जा सकती।

यद्यपि दुःखममङ्गलम्, तथापि तत्परिहारार्थत्वेन तदपघातो मङ्गलमेवेति युक्तं शास्त्रादौ तत्कीर्तनमिति ॥१॥

अर्थ—यद्यपि (आदि में ही) 'दुःख' शब्द का ग्रहण अमङ्गलकारी है तथापि उसकी निवृत्ति का बोधक होने से 'तदपघात' पद मङ्गल-सूचक ही है। इसलिये शास्त्रारम्भ में उसका कथन या ग्रहण उचित ही है ॥१॥

स्यादेतत्। मा भूद् दृष्ट उपायः, वैदिकस्तु ज्योतिष्टोमादिः संवत्सरपर्यन्तः कर्मकलापस्तापत्रयमेकान्तमत्यन्तञ्चापनेष्यति। श्रुतिश्च, "स्वर्गकामो यजेत" इति। स्वर्गश्च—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्[2]।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥१॥ इति।
(तन्त्रवा०)

१—यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्—वैद्यकशास्त्रम्।

२—अनन्तरम् उत्तरकाले, नास्ति अन्तरो व्यवधानं यस्मिन् तत् अविच्छिन्नम् अबाधमिति वा उभयथापि युज्यते। प्रथमार्थे ग्रस्तमित्यनेन सहान्वयः, द्वितीये पुनः यदितिपदस्य ग्रस्तमितिवत् स्वतन्त्रं विशेषणम्।

दुःखविरोधी सुखविशेषश्च स्वर्गः । स च स्वसत्तया समूलघातमपहन्ति दुःखम् । न चैष क्षयी । तथा हि श्रूयते—'अपाम सोममममृता अभूम इति । तत्क्षये कुतोऽस्यामृतत्वसम्भवः ? तस्माद्वैदिकस्योपायस्य तापत्रयप्रतीकारहेतोर्मुहूर्तयामाहोरात्रमाससंवत्सरनिर्वर्तनीयस्यानेकजन्मपरम्पराऽऽयाससम्पादनीयात् विवेकज्ञानादीषत्करत्वात् पुनरपि व्यर्था जिज्ञासा इत्याशङ्क्याह—

अर्थ—(दुःख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति का) लौकिक उपाय न हो तो नहीं सहीं, किन्तु केवल वर्ष भर चलने वाले ज्योतिष्टोम इत्यादि वेदोक्त यज्ञ-कर्म त्रिविध दुःख की अवश्य ही सार्वकालिक निवृत्ति कर देंगे और श्रुति का वचन भी है कि 'स्वर्ग की इच्छा करने वाले को यज्ञ करना चाहिये'; और स्वर्ग—'जो न दुःख से मिश्रित हो, न भविष्य में क्षयोन्मुख हो (अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि जो न क्षयोन्मुख हो और न विच्छिन्न या अवरुद्ध ही हो') और सङ्कल्प-मात्र से प्राप्त हो अर्थात् परिश्रम-साध्य न हो वही सुख 'स्व':अर्थात् स्वर्गपद-वाच्य है । इस वचन[१] के अनुसार स्वर्ग दुःखहीन सुख-विशेष है; और यह (स्वर्ग) अपनी सत्ता द्वारा दुःख को उसके मूल कारण (अपुण्य या अधर्म) के सहित नष्ट कर देता है। यह क्षयोन्मुख भी नहीं है, जैसा श्रुति[२] भी कहती है—"हम (देवों) ने सोम-पान किया और अमर हो गए।" यदि यह (स्वर्गनामक सुख-विशेष) क्षयोन्मुख होता तो इसकी अमरता कैसे सम्भव होती ? इसलिये अनेक जन्मों के सतत परिश्रम से साधनीय विवेकज्ञान की अपेक्षा मुहूर्त, प्रहर, रात-दिन, मास तथा वर्ष इत्यादि भर में साध्य[३] एवं त्रिविध दुःख के निवर्तक वैदिक उपाय के सुकर होने के कारण शास्त्रोक्त उपाय की जिज्ञासा होना फिर भी व्यर्थ ही है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं :—

१—'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्' इति भट्टवार्तिकम् इति केचित्, स्मृतिरियमिति विज्ञानभिक्षुः, परिमलादिषु प्रामाणिकग्रन्थेषु श्रुतित्वेन व्यवहारादर्थवादरूपा श्रुतिरियमिति मादृशाः इति बालरामोदासीनः स्वटिप्पण्याम् ।

२—"अपाम सोमं अमृता अभूम अगन्म ज्योतिरविदाम देवान् । किन्नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ॥" इति हि समग्रा श्रुतिः (ऋग्वेद ८-४८-३) माठरगौडपादाचार्यादिभिः सर्वैरेव प्रायेण उद्धृत्य व्याख्याता ।

३—मुहूर्तमात्रनिर्वर्तनीयं सन्ध्योपासनादि, यामनिर्वर्तनीयं पिण्डपितृयज्ञादि, मासनिर्वर्तनीयं मासाग्निहोत्रादि, संवत्सरनिर्वर्तनीय ज्योतिष्टोमादि इत्यर्थः—बालरामोदासीनः ।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

अर्थ—वैदिक (कर्म-कलाप रूप) उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही (दुःखत्रय की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ) है क्योंकि वह अशुद्धि (मल), विनाश तथा न्यूनाधिक्य (विषमता) दोष से युक्त (व्याप्त, विद्ध) है। व्यक्त (कार्य), अव्यक्त (कारण-रूप प्रकृति) तथा चिद्रूप पुरुष के विवेक-ज्ञान से उत्पन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूप सांख्यशास्त्रोक्त उपाय उससे भिन्न होने के कारण श्रेयस्कर है।

विशेष—हिंसादि अशुद्धियों से विद्ध ज्योतिष्टमादि वैदिक कर्मकलाप-रूप उपाय तो सुख के उत्पादक 'धर्म' नामक अपूर्व को उत्पन्न करने के साथ ही साथ दुःख के उत्पादक 'अधर्म' नामक अपूर्व को भी उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट ही दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते। अतएव उसके कारण वैदिक उपाय को लौकिक उपाय के सदृश कहना युक्त ही है। परन्तु चूँकि क्षय और न्यूनाधिक्य दोष से विद्ध उपाय के द्वारा भी क्षयहीन (नित्य) तथा न्यूनाधिक्य-रहित फल की प्राप्ति सम्भव है, इसलिय इन दोनों दोषों के कारण वैदिक कर्म कलाप को लौकिक उपाय के सदृश कहना अयुक्त है। इसलिये क्षय और अतिशय दोष मुख्यतः फलनिष्ठ हैं, केवल गौणरूप (लक्षणा) से उपाय-गत कहे गए हैं। इस प्रकार कारिका की प्रथम पंक्ति का वस्तुतः अर्थ यह हुआ— 'अशुद्ध होने के कारण तथा क्षयिष्णु और विषम फल उत्पन्न करने के कारण वैदिक कर्म-कलाप भी लौकिक उपाय के समान ही (दुःखत्रय की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ) है।'

"दृष्ट" इति। गुरुपाठादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः।

एतदुक्तं भवति—श्रूयत एव परं न केनापि क्रियत इति। तत्र भव आनुश्रविकः, तत्र प्राप्तो ज्ञात इति यावत्। आनुश्रविकोऽपि कर्मकलापो दृष्टेन तुल्यो वर्तते, ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखत्रयप्रतीकारानुपायत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्।

अर्थ—गुरूपदेश के अनन्तर सुने जाने के कारण वेद को 'अनुश्रव' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वेद सुना ही जाता है, महाभारतादि अन्य सुने जाने वाले ग्रन्थों की भाँति किसी के द्वारा बनाया या किया नहीं जाता। अनुश्रव-मूलक को अर्थात् अनुश्रव से प्राप्त या ज्ञात होने वाले को आनुश्रविक कहते हैं। आनुश्रविक या वैदिक कर्म-कलाप भी लौकिक उपाय के सदृश हैं

क्योंकि दोनों ही त्रिविध दुःख की नियत और सार्वकालिक निवृत्ति में समान रूप से असमर्थ हैं।

विशेष—'श्रुति' होने में श्रूयमाण होने भर को हेतु मानने पर तो महाभारत आदि ग्रन्थ भी गुरु-मुख से सुने जाने के कारण अनुश्रव या वेद कहे जाएँगे, परन्तु बात ऐसी है नहीं। अतः उनकी 'वेद' संज्ञा रोकने के लिये ही टीकाकार ने 'न केनापि क्रियते' भी जोड़ दिया है। ऐसा करने से महाभारत आदि ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते क्योंकि भगवान् वेदव्यास इत्यादि उनके कर्ता-रूप में प्रसिद्ध हैं। परन्तु वेद का कर्ता कोई नहीं है, गृत्समद और वसिष्ठ आदि ऋषियों ने तो भगवत्प्रेरणा से अपने हृदय में प्रकाशित वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार मात्र किया था। इसीलिये "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" ऐसा ही कहा गया, "मन्त्रकर्तारः" नहीं।

यद्यपि च "आनुश्रविकः" इति सामान्याभिधानम्, तथापि कर्म-कलापभिप्रायं द्रष्टव्यम्, विवेकज्ञानस्याप्यानुश्रविकत्वात्। तथा च श्रूयते "आत्मा वाऽरे ज्ञातव्यः" प्रकृतितो विवेक्तव्यः, "न स पुनरावर्तते" इति॥

अर्थः—यद्यपि कारिका में 'आनुश्रविक' इस सामान्य शब्द का ग्रहण किया है, तथापि यहाँ इसे कर्मकाण्ड परक ही समझना चाहिये। अन्यथा विवेक-ज्ञान भी आनुश्रविक होने के कारण लौकिक उपाय के समान ही दुःख-निवृत्ति में असमर्थ हो जायगा (जो शास्त्रकार को अभीष्ट नहीं है); और 'अरे! इस आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए' (बृहदा० २।४।५) अर्थात् इसे प्रकृति से पृथक् देखना चाहिए, तथा 'वह विवेकज्ञान प्राप्त करने वाला फिर नहीं लौटता, (छा० ८।१५) इत्यादि श्रुतियाँ भी विवेकज्ञान के अमृतत्व के हेतु या दुःखत्रय के निवर्तक होने के विषय में प्राप्त हैं। [इसलिये सामान्य-रूप से ग्रहण होने पर भी 'आनुश्रविक' शब्द का अभिप्राय वैदिक कर्म-कलाप ही समझना चाहिये विवेक-ज्ञान नहीं।]

अस्यां प्रतिज्ञायां हेतुमाह—"स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" इति। "अविशुद्धिः" सोमादियागस्य पशुबीजादिवधसाधनता। यथाऽऽह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः—"स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इतिः। 'स्वल्पः सङ्करो' ज्योतिष्टोमादिजन्मनः प्रधानापूर्वस्य पशुहिंसादि-जन्मनाऽनर्थहेतुनाऽपूर्वेण सङ्करः। 'सपरिहारः' कियतापि प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः।

अथ च प्रमादतः प्रायश्चित्तमपि नाचरितम्, प्रधानकर्मविपाकसमये स पच्यते। तथाऽपि यावदसावनर्थं सूते तावत् प्रत्यवमर्षेण सहिष्णुतया सह वर्तत इति सप्रत्यवमर्षः। मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्।

अर्थ—'वैदिक कर्मकाण्ड भी लौकिक उपाय के समान दुःख-निवृत्ति में असमर्थ है', इस प्रतिज्ञा का कारण कहते हैं—क्योंकि वह अशुद्धि, क्षय और अतिशय दोष से व्याप्त है। सोमादि यज्ञों का पशु-हिंसा तथा बीज-नाश इत्यादि साधनों से सम्पादित होना ही उसकी अशुद्धि या मलिनता है, जैसा भगवान् पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—"ज्योतिष्टोमादि-जन्य पुण्य या धर्म में हिंसादि-जन्य पाप या अशुद्धि का अत्यल्प मेल या मिश्रण तो रहता ही है जो प्रतीकार्य और सह्य होता है।" 'अत्यल्प मिश्रण' अभिप्रेत है ज्योतिष्टोमादि-जन्य धर्म-रूप प्रधान फल और पशुहिंसादि-जन्य तथा अनर्थजनक अधर्म-रूप गौण फल का। 'सपरिहार' का अर्थ यह है कि वह अधर्म का मिश्रण या संसर्ग अत्यल्प होने के कारण अत्यल्प प्रायश्चित्त से भी दूर किया जा सकता है। परन्तु यदि प्रमादवश प्रायश्चित नहीं किया गया तो प्रधान कर्म के फल-काल में वह (अधर्म) भी फल देता है। फिर भी यह अधर्म जो कुछ भी दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, वह 'सप्रत्यवमर्ष' अर्थात सहने योग्य होता है, क्योंकि पुण्य-सञ्चय से प्राप्त स्वर्ग-रूपी अमृत-सरोवर में अवगाहन करने वाले यज्ञादि-पुण्य-कर्मा किञ्चिन्मात्र पाप से प्राप्त दुःखाग्नि की चिनगारी को सह लेते हैं—यह प्रसिद्ध है।

विशेषः—(1) योग-भाष्य में तीव्र संवेग से सम्पादित कर्म की दृष्टजन्मवेदनीयता (अर्थात् इसी जन्म में फल-भोग) बताकर मध्यम और मृदु संवेग से अनुष्ठित अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म के नियत-विपाक तथा अनियत-विपाक रूप से दो भेद कर के द्वितीय की तीन गतियाँ बताई गई हैं (१)'कृतस्य अविपक्वस्य नाशः' अर्थात् कृत कर्म का बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा विनाश, जैसे क्षमा के द्वारा क्रोध का विनाश। (२) 'प्रधानकर्मण्यावापगमनम्' अर्थात् प्रधान कर्म के साथ ही अप्रधान कर्म का भी फल दे देना, जैसे ज्योतिष्टोमादि-जन्य धर्म के साथ ही साथ उसमें अनिवार्य रूप से होने वाली पशु-हिंसा से उत्पन्न अप्रधान अधर्म का भोग प्राप्त हो जाना। (३)'नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्' अर्थात् नियत फल वाले प्रधान कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल तक बिना फल दिये ही पड़े रहना। इनमें से द्वितीय को प्रमाणित करने के

लिये योग-भाष्यकार भगवान् वेदव्यासने भगवान् पञ्चशिखाचार्य के निम्नलिखित वचन उद्धृत किये हैं:—

"स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः, सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्, कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमवापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति" (द्रष्टव्य व्या० भा०)। इसी के प्रकृतोपयोगी अंश को आचार्य वाचस्पति मिश्र ने यहाँ उद्धृत किया है। इस वचन का अक्षरशः वही अर्थ उन्होंने सांख्यतत्त्वकौमुदी में किया है जो योग-भाष्य की तत्त्ववैशारदी नामक अपनी टीका में किया है। इस अर्थ को देखने से यही लगता है कि वाचस्पति मिश्र ने 'स्वल्पः सङ्करः' पाठ का ही अधिक उपयुक्त जान कर उसका तदनुसार अर्थ किया है। इसलिये प्रस्तुत संस्करण में भी यही पाठ दिया गया है, सारबोधिनी किरणावली, तथा सांख्य-तत्त्वविभाकर के रचयिताओं ने भी यही पाठ मानकर अर्थ किया है। 'स्वल्पसङ्करः'पाठ भी मिलता है। ऐसा होने पर पद-योजना बदल जाएगी, यद्यपि अर्थ लगभग वही रहेगा। ऊपर के पाठ से अधर्म का सङ्कर या संसर्ग स्वल्प, सपरिहार तथा सप्रत्यवमर्ष होगा परन्तु इस दूसर पाठ से अधर्म ही स्वल्पसङ्कर (स्वल्पः सङ्करः संसर्गः यस्य सः, अधर्म इति यावत्), सपरिहार तथा सप्रत्यवमर्ष होगा।

[अब उपर्युक्त आनुश्रविक या वैदिक यज्ञ-कर्म की अशुद्धि के विरोधी मीमांसक-मत का निराकरण करते हैं—]

न च—"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति सामान्यशास्त्रं विशेषशास्त्रेण "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन बाध्यते इति युक्तम्, विरोधाभावात्। विरोधे हि बलीयसा दुर्बलं बाध्यते। न चेहास्ति कश्चिद्विरोधः, भिन्नविषयत्वात्।

अर्थ—और मीमांसकों का यह कथन उचित नहीं है कि 'अग्नि और सोम को समर्पित पशु की हिंसा करनी चाहिये'—इस विशेष नियम से 'किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये'—यह सामान्य नियम निषिद्ध हो जाता है, क्योंकि दोनों में कोई विरोध नहीं है। विरोध होने पर ही बलवान् नियम से दुर्बल नियम बाधित होता है और यहाँ पर दोनों नियमों के भिन्न-विषयक होने के कारण उनमें कोई विरोध है ही नहीं।

विशेष—'बहुव्यापकं सामान्यम्, अल्पव्यापको विशेषः'—अर्थात् बहुतों के विषय में किया गया विधान 'सामान्य,' तथा अपेक्षाकृत कम के विषय में किया गया 'विशेष' कहलाता है। जहाँ सामान्य-शास्त्र विशेष के विषय में भी

सामान्य या मन्द रूप से ही प्रवृत्त होता है, वहाँ विशेष-शास्त्र उसका साक्षात् रूप से ग्रहण करने के कारण उसमें शीघ्र प्रवृत्त होता है। इसीलिये विशेष के विषय में सामान्य-शास्त्र की अपेक्षा विशेष-शास्त्र प्रबल होता है और उसका बाध कर देता है। पर यह तभी होता है, जब कि दोनों में विरोध हो। लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है। जगत् में बहुत से लोग अन्य अनेकों की अपेक्षा बलवान् होते हैं परन्तु सभी बलवान् सभी निर्बलों का दमन करते नहीं फिरते। जिस बलवान् का जिस किसी निर्बल के साथ विरोध होगा, वही बलवान् अपने उस विरोधी का दमन करेगा। सिंह मशक (मच्छर) से कितना अधिक बलवान् होता है—इसका अन्दाज भला कौन कर सकता है ? पर क्या वह कभी मशक का दमन करता हुआ देखा जाता है। हाँ, हाथी का दमन वह अवश्य करता है क्योंकि वह उसका सहज विरोधी या शत्रु है ? ऐसी ही स्थिति शास्त्र में भी सामान्य तथा विशेष विधानों की होती है। जहाँ दोनों परस्पर विरोधी होंगे, वहीं विशेष सामान्य का बाध करेगा। उपर्युक्त दोनों वाक्यों में विरोध नहीं है—यह तत्त्व-कौमुदी की अगली पंक्तियों से स्पष्ट है। सारबोधिनीकार ने इस पारस्परिक अविरोध को दृष्टान्त द्वारा अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा है—'यथा "आम्रतक्रं कोष्ठे कफं हन्ति" इति वाक्यस्येष्टसाधनत्वं विषयः, "कण्ठे च तत् तक्रं कफं करोति" इति वाक्यस्यानिष्टसाधनत्वं विषय इति विषय-भेदादुभयोरविरोधः, तथा "न हिंस्यात्" इति निषेधवाक्यस्य अनर्थहेतुत्वं विषयः, "अग्निषोमीयम्" इति पश्वालम्भनवाक्यस्य च क्रतूपकारकत्वं विषय इति विषय-भेदादुभयोरविरोधः' (पृष्ट ४७)॥

[उपर्युक्त दोनों वाक्यों की भिन्न-विषयता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

तथा हि—"न हिंस्यात्" इति निषेधेन हिंसाया अनर्थहेतुभावो ज्ञाप्यते, न त्वक्रत्वर्थमपि; "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन तु पशु-हिंसायाः क्रत्वर्थत्वमुच्यते, नानर्थहेतुत्वाभावः, तथा सति वाक्यभेद-प्रसङ्गात्। न चानर्थहेतुत्वक्रतूपकारकत्वयोः कश्चिद्विरोधोऽस्ति। हिंसा हि पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति क्रतोश्चोपकरिष्यति।

अर्थ—वह इस प्रकार है :—'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए'—यह निषेध-वाक्य इतनी ही बात सूचित करता है कि हिंसा अनर्थ-कारिणी है, न कि यह बात भी कि वह यज्ञ के लिये अनुपयोगी या अनावश्यक है। इसी प्रकार 'अग्नि और सोम के लिये पशु की हिंसा करनी चाहिये'—यह वाक्य इतनी ही बात बताता है कि पशु-हिंसा यज्ञ के लिये उपयोगी या आवश्यक

२

है, न कि यह बात भी कि वह अनर्थकारिणी नहीं है, क्योंकि वैसा (अर्थात् दो-दो अर्थ) होने पर वाक्यभेद[1] दोष आ जाएगा। [अर्थात् 'मां हिंस्यात् सर्वा भूतानि' तथा 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' वाक्यों के दो-दो अर्थ हो जायेंगे। प्रथम के दो अर्थ होंगे (१) हिंसा अनर्थकारिणी है; (२) हिंसायज्ञ में उपयोगी या आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय के भी (१) हिंसा यज्ञ में उपयोगी या आवश्यक है; (२) हिंसा अनर्थकारिणी नहीं है—ये दो अर्थ होंगे। मीमांसक स्वयं भी इसे दोष मानते हैं।] और हिंसा के अनर्थकारणी तथा यज्ञावश्यक होने में कोई विरोध नहीं है। हिंसा पुरुष के पाप का कारण भी होगी और साथ ही साथ यज्ञ का आवश्यक अङ्ग भी होगी। [इस प्रकार दोनों वाक्यों के अर्थों में कोई विरोध नहीं हैं, यह सिद्ध हो जाने पर यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि यज्ञादि आनुश्रविक उपायों में हिंसा के आवश्यक अंग होने के कारण अविशुद्धि या पाप अवश्य रहेगा।]

क्षयातिशयौ च फलगतावप्युपाय उपचरितौ। क्षयित्वं च स्वर्गादेः 'सत्त्वे सति कार्यत्वात्' अनुमितम्। ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रस्य साधनम्, वाजपेयादयस्तु स्वाराज्यस्येत्यतिशययुक्तत्वम्। परसम्पदुत्कर्षो हि हीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति ॥

अर्थ—'क्षयित्व' तथा 'न्यूनाधिक्य' वस्तुतः (यज्ञादि कर्मों के) स्वर्गादि फलों में विद्यमान होने पर भी गौण रूप से (उन यज्ञादि) वैदिक उपायों के दोष कहे गए हैं। स्वर्गादि 'भाव' पदार्थ होते हुए दूसरे के कार्य (फल) हैं, इसी से उनका क्षयित्व या अनित्यत्व सिद्ध है। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ केवल स्वर्ग के साधन हैं, परन्तु वाजपेय आदि स्वाराज्य अर्थात् स्वर्गाधिपति 'इन्द्र' होने के। यही एक की अपेक्षा दूसरे का अतिशय या आधिक्य है, और दूसरे की सम्पत्ति का अतिशय या उत्कर्ष न्यून सम्पत्ति वाले पुरुष को अवश्य ही दुःख देता है।

विशेष—यद्यपि सामान्य नियम तो यही है कि 'यत्कार्यं तदनित्यम्' अर्थात् जो भी कार्य या उत्पाद्य है, वह अनित्य होगा। परन्तु 'अभाव' पदार्थ इसका अपवाद है; जैसे 'सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः' के अनुसार यद्यपि प्रध्वंस नामक

१—(i) विधेयद्वयापत्तेः। हिंसा यागसाधिका अनर्थशून्या चेति वाक्यभेदः—डा० गङ्गानाथ झा।

(ii) यदि च 'न हिंस्यादित्यस्य 'हिंसा अनर्थहेतुः अक्रत्वर्था च' इति अर्थद्वयम्, तथा 'अग्निषोमीय पशुमालभेत' इत्यस्यापि 'पश्वालम्भनं क्रत्वर्थं, नानर्थहेतुः' इति अर्थद्वय कल्प्येत तदा वाक्यभेदः स्यात् स चानिष्टः ॥—राजेश्वर शास्त्री द्राविडः।

अभाव की आदि या उत्पत्ति होती है, तथापि वह अनन्त या नित्य होता है। इसी कारण 'कार्यत्व'—इस हेतु के बल पर किये जाने वाले 'क्षयित्व' के अनुमान के ठीक होने के लिये 'सत्त्व' अर्थात् भाव-पदार्थ होना—यह उपाधि जोड़ दी गई है, ताकि प्रध्वंस अभाव भी कार्य होने के कारण सान्त या अनित्य न हो जाय। इस प्रकार अनुमान-वाक्य का यह स्वरूप होगा—'स्वर्गादिकं क्षयित्ववत् (अनित्यं) भावत्वे सति कार्यत्वात् घटवत्'।

[परन्तु 'अपाम सोमममृता अभूम' इस श्रुति के अनुसार स्वर्ग-सुख का अमृतत्व या नित्यत्व पहले ही सिद्ध हो चुका है और यहाँ अनुमान के बल पर उसका अनित्यत्व सिद्ध हुआ। अतः दोनों में विरोध उपस्थित होने पर श्रुति के बलवत्तर होने के कारण उससे अनुमान बाधित हो जायगा, इस शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं:—]

"अपाम सोमममृता अभूम" इति च मृतत्वाभिधानं चिरस्थेमानमुपलक्षयति। यदाहु :—

"आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इति। अत एव च श्रुतिः—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥" इति, तथा "कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः। तथा परे ऋषयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥" इति च।

अर्थ—'हम सोम पीकर अमर हो गए'—इस वाक्य में 'अमर' का अर्थ लक्षणा से 'चिरस्थायी' है, जैसा कि अन्यत्र कहा गया है:—भूतों के प्रलय काल आने तक रहने वाला स्थान ही अमृतत्व कहा जाता है (विष्णु पु०, अंश २, अ० ५, श्लो० ६६) और (चूँकि यज्ञ इत्यादि वास्तविक अमृतत्व के उपाय नहीं हैं) इसीलिये 'महानारायण' श्रुति भी कहती है कि 'उन पूर्व महात्माओं[१] ने कर्म, संतानोत्पत्ति या धन से नहीं अपितु संन्यास (अर्थात् संन्यास-साध्य तत्त्वज्ञान) से अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति की। स्वर्ग[२] से भी उत्कृष्ट एवं बुद्धि रूपी गुहा[३] में स्थित अमृत तत्त्व स्वतः प्रकाशित हो रहा है जिसमें योगीजन

१—एके विरक्ता महात्मानः। त्यागेनैकेनेति पाठे तु त्यागमात्रेणेत्यर्थः।

२—(i) 'नाकमित्यविद्यामुपलक्षयति—अविद्यातः परमित्यर्थः' इति तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः। (ii) 'स्वर्गस्योपरि अथवा परं नाकमानन्दात्मानमित्यर्थः' इति दीपिकायां शङ्करानन्दः।

३—'निहितं गुहायामिति लौकिकप्रमाणागोचरत्वं दर्शयति' इति तात्पर्यटीका।

लीन हो जाते हैं।' और भी :—'सन्तति उत्पन्न करनेवाले ऋषि[४] धन की इच्छा करते हुए कर्म द्वारा मृत्यु[५] अर्थात् स्वर्गादि अनित्य फल को प्राप्त हुए। दूसरे ज्ञानी ऋषि कर्म द्वारा अप्राप्य[६] अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—"तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति। तस्मात् आनुश्रविकात् दुःखापघातकोपायात् सोमपानादेरविशुद्धात् अनित्यसातिशयफलात् विपरीतः विशुद्धः हिंसादिसङ्कराभावात्, नित्यनिरतिशयफलः असकृत् अपुनरावृत्तिश्रुतेः। न च कार्यत्वेनानित्यता फलस्य युक्ता, भावकार्यस्य तथात्वात्, दुःखप्रध्वंसस्य तु कार्यस्यापि तद्वैपरीत्यात्।

अर्थ—इसी सब अभिप्राय से कारिकाकार ने कहा कि 'उससे विपरीत उपाय ही श्रेयस्कर है।' 'तद्विपरीतः' का अर्थ है—हिंसादि से दूषित, अनित्य तथा विषम फल वाले एवं दुःख-नाशक समझे जाने वाले उस सोम-पान इत्यादि वैदिक उपाय से भिन्न अर्थात् हिंसादि पाप के संसर्ग के अभाव के कारण विशुद्ध और श्रुति में बार-बार अपुनर्जन्म-कथन से नित्य एवं सर्वोत्कृष्ट मोक्ष फल वाला। और यह कहना ठीक न होगा कि (जो कुछ कार्य है, वह सभी अनित्य है—इस नियम के अनुसार) मोक्ष-रूप फल (विवेकख्याति या तत्त्वज्ञान का) कार्य होने से कारण अनित्य होगा, क्योंकि भाव-कार्यों के विषय में ही यह बात सत्य है, मोक्ष तो कार्य होने पर भी दुःख का प्रध्वंसाभाव (सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः अर्थात् जिसका आरम्भ है, पर अन्त नहीं) होने के कारण उससे भिन्न अर्थात् नित्य है।

विशेष—यद्यपि सांख्य के सत्कार्यवादी (अर्थात् असत् का भाव नहीं और सत् का विनाश नहीं है—इस मत के अनुयायी) होने के कारण दुःख का प्रध्वंस-कथन 'वदतो व्याघात' दोष है क्योंकि दुःख सत् या भाव-रूप रजस् का परिणाम

४—'प्रजावन्तः पुत्रिणो गृहस्थाः.........ऋषयः वानप्रस्थाश्च' इत्यर्थं कृतवन्तो विद्वत्तोषिणीकाराः बालरामोदासीनमहाशयाः।

५—मृत्युं प्रेत्यभावाख्य पुनर्जन्मैव इत्यर्थः—विद्वत्तोषिणकाराः किरणावलीकाराश्च।

६—यथा तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः—'परम् कर्मभ्य इति कर्मपरित्यागमपवर्गसाधनं सूचयति। अमृतत्वमिति चापवर्गो दर्शितः'। कर्मकलापजन्यस्वर्गादिभ्य उत्कृष्टम् इति विद्वत्तोषिणीकाराः, 'कर्मभ्यः कर्मफलेभ्यः परम् उत्कृष्टम्' इति सुषमाकाराः, 'कर्मभ्यः कर्मलभ्यप्रेत्यभावाख्यपुनर्जन्मतः पर भिन्नम्, अथवा कर्मकलापलभ्यस्वर्गादिस्थानात् उत्कृष्टम्' इति च किरणावलीकाराः।

होने के कारण सत् है और साङ्ख्य मत में सत् का विनाश होता ही नहीं, तथापि 'प्रध्वंस' शब्द का तात्पर्य इस स्थल में दुःख की अतीतावस्था है और अतीतावस्था को प्राप्त वस्तु जिस प्रकार फिर स्थूल या वर्तमान अवस्था को नहीं प्राप्त होती, यह पहले 'यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखम्' के व्याख्यान में स्पष्ट कर चुके हैं। अतीत दुःख का फिर कभी भी उदित होकर अनुभव-गोचर या वेद्य न होना ही मोक्ष का नित्यत्व है। विद्वत्तोषिणीकार ने कहा है— 'यद्यपि सांख्यनये सत्कार्यवादाङ्गीकारेण दुःखप्रध्वंसस्य मोक्षत्वाभिधानं व्याहतं तथापि दुःखप्रध्वंसपदेनात्र दुःखातीतावस्थाया एव तात्पर्यविषयत्वेनाभिधानात् व्याहत्यभावोऽवसेयः।'

[माना कि अतीत दुःख फिर उदित होकर अनुभव-गोचर या वेद्य नहीं होगा, पर उससे भिन्न कोई अन्य दुःख उदित होकर वेद्य बन सकता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं:—]

न च दुःखान्तरोत्पादः, कारणाप्रवृत्तौ कार्यस्यानुत्पादात्, विवेकज्ञानोपजननपर्यन्तत्वाच्च कारणप्रवृत्तेः। एतच्चोपरिष्टादुपपादयिष्यते।

अर्थ—चूँकि कारण-व्यापार के विना कार्य उत्पन्न ही नहीं होता, और विवेक-ज्ञान होने तक ही कारण (प्रकृति) का व्यापार होता है, इसलिये विवेक-ज्ञान के अनन्तर (कोई प्रयोजन शेष न रहने से) कारण-रूप प्रकृति का व्यापार रुक जाने से कार्य-रूप किसी भी अन्य दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। इसे आगे की ६६ वीं कारिका की टीका में स्पष्ट करेंगे।

विशेष—सारे सुख, दुःख तथा मोह प्रकृति के ही विकार या कार्य हैं।

अक्षरार्थस्तु—तस्मात् आनुश्रविकात् दुःखापघातकात् हेतोः विपरीतः सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः (साक्षात्कारो) दुःखापघातको हेतुः, अतएव श्रेयान्। आनुश्रविको हि वेदविहितत्वात् मात्रया दुःखापघातकत्वाच्च प्रशस्यः। सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययोऽपि प्रशस्यः। तदनयोः प्रशस्ययोर्मध्ये सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः श्रेयान्।

अर्थ—'तद्विपरीतःश्रेयान्' का शब्दार्थ इस प्रकार है :—प्रकृति तथा पुरुष का साक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान जो कि दुःख के (आत्यन्तिक) विनाश का उपाय है, दुःख के (आंशिक) विनाश के वैदिक उपाय से विपरीत है, अतएव वह श्रेयस्कर हैं। वैदिक कर्मकांड वेद-विहित तथा अंशतः दुःख-नाशक होने के कारण अच्छा है, और प्रकृति तथा पुरुष का साक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान भी

अच्छा है। परन्तु इन दोनों अच्छे उपायों में प्रकृति तथा पुरुष का विवेक-ज्ञान अधिक अच्छा है।

कुतः पुनरस्योत्पत्तिः ? इत्यत आह—"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति। व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, तेषा विज्ञानं विवेकेन ज्ञानम्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम्। व्यक्तज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम्। तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायते, इति ज्ञानक्रमेणाभिधानम्।

अर्थ—फिर इस साक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान की उत्पत्ति किससे होती है, यह बताते हैं :—व्यक्त, अव्यक्त तथा चेतन पुरुष के पृथक् २ रूप में ज्ञात होने से। 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' पद का अर्थ है—व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष); उनका 'विज्ञान' अर्थात् विवेक या भेद के साथ ज्ञान। व्यक्त अर्थात् कार्य का ज्ञान पहले होता है, फिर उसके कारण-भूत अव्यक्त या प्रकृति का ज्ञान होता है इन दोनों के परार्थ (अर्थात् अपने से भिन्न के लिये) होने के कारण दोनों से भिन्न (पृथक्) आत्मा का ज्ञान होता है। इस प्रकार जिस क्रम से इनका ज्ञान होता है, उसी क्रम से इनका (यहाँ) कथन भी किया गया है।

एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालादेरनैरन्तर्यसत्कारासेवितात् भावनामयात् विज्ञानात्। तथा च वक्ष्यति—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्याद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ (का० ६४) इति।

अर्थ—तात्पर्य यह है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों से 'व्यक्त' इत्यादि को एक दूसरे से भिन्न जानकर तथा शास्त्रीय तर्कों द्वारा विनिश्चित करके दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अनुशीलन (अभ्यास) किए गए निदिध्यासन-रूप विज्ञान से (तत्त्वसाक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है)। इसे ६४ वीं कारिका में स्पष्ट रूप से कहेंगे :—"इस प्रकार तत्त्व-विषयक ज्ञान के संतत अभ्यास से 'न (मैं क्रियावान्) हूँ, न मैं (कर्त्ता) हूँ, और न मेरा (भोक्तृत्व) है'—इस प्रकार का सम्पूर्ण, संशय एवं विपर्यय से रहित होने के कारण विशुद्ध, एवं अमिश्रित विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है।"

विशेष—वस्तुतः ज्ञान दो प्रकार का होता है :—(१) परोक्ष या शाब्दिक ज्ञान (२) अपरोक्ष ज्ञान या साक्षात्कार। दूसरे प्रकार के ज्ञान से ही अज्ञान या मोह के नष्ट होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति

के तीन सोपान हैं:—(१) शाब्दिक ज्ञान अर्थात् शास्त्रों के श्रवण (अध्ययन) से परोक्ष रूप से प्राप्त तत्त्व-विषयक ज्ञान। इसे 'श्रवण' कहते हैं। (२) शास्त्रीय तर्कों द्वारा श्रवण-जन्य (शाब्दिक) ज्ञान की असम्भावनाओं का परिहार एवं उसके विषय में अविचल निश्चय। इसे ही 'मनन' कहते हैं। (३) श्रवण-जन्य ज्ञान की सत्यता के विषय में मनन द्वारा पूर्ण निश्चय होने पर भी साधक के मन में अवशिष्ट विपरीत भावनाओं ('मैं वृद्ध तथा दुखी हूँ, एवं कर्त्ता तथा भोक्ता हूँ' इत्यादि) के परिहार के लिये मनन द्वारा विनिश्चित तत्त्वज्ञान की ही सतत भावना या चिन्तन और तद्विपरीत या विजातीय ज्ञान का सर्वथा बहिष्कार। इसे ही निदिध्यासन कहते हैं। योग की भाषा में इसे ही ध्यान कहते हैं, जिसका लक्षण पातञ्जल योगसूत्र में इस प्रकार किया है :—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ योगसू० ३।२॥ इसी निदिध्यासन या तत्त्व-भावना से तत्त्व-साक्षात्कार होता है। पर इसके लिए निदिध्यासन का दृढ़ होना आवश्यक है। यह अभ्यास दृढ़ होगा दीर्घ काल तक, अबाध या अनवरत रूप से तथा श्रद्धा-पूर्वक किए जाने पर, जैसा कि योगसूत्र में कहा गया है—स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा-सेवितो दृढभूमिः ॥योग० १-१४॥

तदेवं प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन शास्त्रारम्भं समाधाय शास्त्रमारभमाणः श्रोतृबुद्धिसमवधानाय तदर्थं संक्षेपतः प्रतिजानीते—

अर्थ—इस प्रकार प्रकृत शास्त्र में आये हुए विषय को बुद्धिमानों के लिए उपयोगी बताकर (एवं शास्त्र-जिज्ञासा को सार्थक सिद्ध कर) शास्त्र का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार श्रोता (साधक) के चित्त की एकाग्रता के लिए उसके विषय को सङ्क्षेप में रखते हैं:—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ॥
षोडशकस्तु विकारा न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥

अर्थ—मूल प्रकृति किसी का विकार अथवा कार्य नहीं है, महत् इत्यादि (बाद के) सात तत्त्व कारण और कार्य दोनों ही हैं। १६ तत्त्वों का समुदाय तो केवल कार्य ही है, पुरुष न कारण ही है और न कार्य ही ॥

संक्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः।

तत्र का प्रकृतिः ? इत्यत उक्तम्—"मूलप्रकृतिरविकृतिः" इति। प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः,

प्रकृतिरेवेत्यर्थः। कुतः इत्युक्तम्—"मूलेति"। मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः। विश्वस्य कार्यसङ्घातस्य सा मूलम्, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात्। न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः।

अर्थ—संक्षेपतः प्रस्तुत सांख्यशास्त्र के अन्तर्गत चार प्रकार के पदार्थ हैं। कोई पदार्थ केवल कारण-रूप है, कोई केवल कार्य-रूप है, कोई कारण और कार्य दोनों है, कोई दोनों में से एक भी नहीं। अब इनमें से केवल कारण-रूप कौन हैं, यह कहते हैं :—"मूल प्रकृति कार्य से भिन्न अर्थात् केवल कारण है।" जो कार्यों को उत्पन्न करती है, वही प्रकृति है। इसे प्रधान भी कहते हैं जो कि सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था का नाम है। यह कारण ही है, कार्य नहीं। यह क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं:—क्योंकि यह सकल कार्यों की जड़ है, इसकी कोई जड़ नहीं है। इसकी भी जड़ मानने पर अनवस्था दोष होगा और प्रस्तुत स्थल में अनवस्था किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, (इसीलिए वह यहाँ दोष हैं)।

विशेष—बीजाङ्कुर-न्याय अनवस्था का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। बीज का कारण क्या है— वह अङ्कुर या पौधा जिसके फल में वह आया था। उस अङ्कुर या पौधे का कारण क्या है—वह बीज जिससे यह पौधा उत्पन्न हुआ था। उस बीज का भी कारण उसके पूर्व का पौधा एवं उस पौधे का भी कारण उसके पूर्व का बीज। इस प्रकार बीज और अङ्कुर दोनों ही एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। निश्चित रूप से इनमें से एक कारण और दूसरा उसका कार्य हो, ऐसी बात नहीं है; जैसा कि मिट्टी और उससे बने हुए घड़े में देखा जाता है। बीज और अङ्कुर के विषय में कारण और कार्य के सम्बन्ध की यह अनन्त परम्परा अनवस्था है, पर यह दोष नहीं है क्योंकि इसका बाध (निषेध) करके व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। अर्थात् प्रकृति-सिद्ध होने के कारण अनवस्था ही यहाँ वास्तविकता है—वस्तु-स्थिति है, व्यवस्था नहीं। परन्तु उपर्युक्त स्थल में प्रकृति का कारण, फिर उसका भी कारण, फिर उस कारण का भी कारण और इसी प्रकार आगे भी कारण मानते जाने पर जो अनवस्था होगी, वह प्रामाणिक नहीं है; क्योंकि 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति तथा 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इत्यादि स्मृति प्रकृति को अज और अनादि बताकर कारण-परम्परा का उसी में अन्त मानती हैं। इसलिए उक्त स्थल में वस्तु-स्थिति के भिन्न होने के कारण अनवस्था की कल्पना दोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती।

कतमाः पुनः प्रकृतिविकृतयः, कियत्यश्च ? इत्यत उक्तम्—"महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" इति। प्रकृतयश्च विकृतयश्च ता इति प्रकृतिविकृतयः सप्त।

तथा हि—महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः। एवम् अहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिः, विकृतिश्च महतः। एवं पञ्चतन्मात्राणि तत्त्वानि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयो विकृतयश्चाहङ्कारस्य।

अर्थ—अत्र कारण-कार्य कौन और कितने हैं, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'महत्', अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—ये सात कारण और कार्य दोनों हैं।' 'प्रकृतिविकृतयः' पद का अर्थ है—प्रकृति और विकृति अर्थात् कारण और कार्य, जो सात हैं। ये इस प्रकार हैं—महत् तत्त्व अहङ्कार का कारण और मूल प्रकृति का कार्य है, इसी प्रकार अहङ्कार तत्त्व पाँच तन्मात्रों और ग्यारह इन्द्रियों का कारण और महत् तत्त्व का कार्य है। इसी प्रकार पाँच तन्मात्र आकाश इत्यादि पाँच स्थूल भूतों के कारण तथा अहङ्कार के कार्य हैं।

अथ का विकृतिरेव कियती च? इत्यत उक्तम्—"षोडशकस्तु विकारः" इति। षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः। तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च। पञ्चमहाभूतानि एकादश इन्द्रियाणि चेति षोडशको गणो विकार एव, न प्रकृतिरिति। यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथाऽपि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्। तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वम् इहाभिप्रेतमिति न दोषः। सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरत्वम्।

अर्थ—अत्र कौन केवल कार्य हैं और वे कितने हैं, इसे कहते हैं—सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य ही है। 'षोडशक' का अर्थ है—सोलह का समुदाय। 'तु' शब्द निश्चय के अर्थ में भिन्न क्रम[1] से आया हुआ है, (अर्थात् इसे 'षोडशकः' पद के आगे न आकर वस्तुतः 'विकारः' के आगे आना चाहिए था)। इस प्रकार आकाश इत्यादि पाँच स्थूल भूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य ही है, कारण नहीं। यद्यपि पृथिवी इत्यादि

१—पाठस्थानादन्यः क्रमः निवेशस्थान यस्यासो भिन्नक्रमः, विकार इत्यस्याग्रेऽवधारणार्थकस्तुशब्दो निवेशनीय इत्यर्थः—विद्वत्तोषिणीकाराः।

के भी गो, घट, वृक्ष इत्यादि कार्य हैं, इसी प्रकार इन गो, वृक्ष आदि के दुग्ध, बीज आदि कार्य हैं, एवं उनके भी दधि और अङ्कुर इत्यादि कार्य हैं, तथापि ये सब पृथिवी इत्यादि से भिन्न तत्त्व नहीं हैं और अपने से भिन्न तत्त्व का उपादान कारण बनने वाली वस्तु ही यहाँ 'प्रकृति' शब्द से अभिप्रेत है। अतएव पृथिवी इत्यादि को 'प्रकृति' संज्ञा न देकर केवल 'विकृति' कहना दोष नहीं है। गो, घट इत्यादि पृथ्वी इत्यादि से पृथक् तत्त्व नहीं हैं, यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि ये गो, घट इत्यादि उसी प्रकार स्थूल तथा इन्द्रिय-गोचर हैं, जैसे पृथिवी।

अनुभयरूपमुक्तं, तदाह—"न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति। एतच्च सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते ॥३॥

अर्थ—जो दोनों में से एक भी नहीं है, उसे कहते हैं:—पुरुष न कारण ही है और न कार्य ही। इस सब का विवेचन आगे (१९-२२ कारिकाओं में) करेंगे।

तमिममर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदा लक्षणीयाः, न च सामान्यलक्षणमन्तरेण शक्यते विशेषलक्षणं कर्तुमिति प्रमाणसामान्यं तावल्लक्षयति—

अर्थ—अब इस उपर्युक्त शास्त्रार्थ को वास्तविक या सत्य सिद्ध करने के लिए सांख्य शास्त्र को मान्य विभिन्न प्रमाणों के लक्षण किए जाने चाहिए और चूँकि सामान्य लक्षण के बिना विशेष लक्षण हो ही नहीं सकता, इसलिए पहले प्रमाण का सामान्य लक्षण करते हैं—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधम्प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण में ही सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत होने के कारण सांख्य को ये तीन ही प्रमाण मान्य हैं। प्रमाण से ही प्रमेयों का ज्ञान होता है, (अतएव पहले प्रमाण का ही प्रतिपादन किया गया है, प्रमेयों का नहीं) ॥४॥

अत्र च 'प्रमाणम्' इति समाख्या लक्ष्यपदम्। तन्निर्वचनं च लक्षणम्। प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते। तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः।

अर्थ—यहाँ पर 'प्रमाण' पद लक्ष्य है, जिसका लक्षण करना है और उसका व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ ही उसका लक्षण (परिभाषा) है। जिसके द्वारा 'प्रमा'—यथार्थ ज्ञान—हो, वही 'प्रमाण' है। इस व्युत्पत्ति से यह ज्ञात होता है कि 'प्रमाण' प्रमा या यथार्थ ज्ञान का मुख्य साधन है। यह (प्रमाण) वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो। ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अतएव उसका फलभूत पुरुषवर्ती[१] बोध[२] प्रमा है। इसी के साधन को प्रमाण कहते हैं। इस कथन से संशय, भ्रम तथा स्मृति के साधनों में प्रमाण की प्रसक्ति नहीं हो सकती अर्थात् इन सबके साधन प्रमाण नहीं हो सकते।

विशेष—राजेश्वर शास्त्री, बालराम, वल्लभाचार्य तथा शिवनारायण शास्त्री ने 'तच्च असंदिग्धा...' इत्यादि से 'तच्च' को निकाल कर केवल 'असन्दिग्धा-विपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा' इतना ही पाठ रक्खा है। इन विद्वानों के अनुसार सांख्य शास्त्र में कोई अर्थ केवल प्रमाण ही होता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय इत्यादि ; कोई प्रमा और प्रमाण दोनों ही होता है, जैसे चित्त-वृत्ति ; यह सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण प्रमा भी है तथा पौरुषेय बोध का करण—मुख्य कारण—होने से प्रमाण भी है। कोई केवल प्रमा होता है, जैसे पौरुषेय बोध। कोई केवल प्रमाता ही होता है, जैसे बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसे व्यवहार में 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार चित्त-वृत्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न पौरुषेय बोध दोनों ही प्रमा हैं। इनमें से प्रथम का पर्यवसान दूसरे प्रकार की प्रमा में होता है। अतः उसका फल होने के कारण दूसरी ही मुख्य प्रमा है। प्रमा का साधन होने के कारण प्रमाण भी द्विविध होगा। एक प्रमाण तो चित्त-वृत्ति का मुख्य साधन होने के कारण अर्थ-सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ हैं और दूसरा प्रमाण पौरुषेय बोध का मुख्य साधन होने के कारण यह चित्त-वृत्ति ही है। राजेश्वरशास्त्री-कृत टिप्पणी, सारबोधिनी,

---

१—पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वमाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते एवं च चितिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यात्मक एव बोधो, न पुरुषधर्म इति ॥—विद्वत्तोषिणीकाराः

२—नैयायिकानामनुव्यवसायः—घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति पुरुषगतः—डा० झा

विद्वत्तोषिणी[१] (बालरामकृत) तथा किरणावली[२]-चारों ही टीकाओं में दिए गए व्याख्यान इसी उपर्युक्त अभिप्राय (द्विविध प्रमा) को दृष्टि में रखकर किए गए हैं। परन्तु यह अर्थ संगत इसलिए नहीं जान पड़ता कि अगली कारिका के व्याख्यान में स्वयं वाचस्पति मिश्र भी एक ही प्रमाण (चित्तवृत्ति-रूप) तथा एक ही प्रमा मानते हुए प्रतीत होते हैं। फिर इन्द्रियों को प्रमाण मानने पर न्याय से सांख्य का क्या भेद रह जायगा? सांख्य तो प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियों की उतनी ही आवश्यकता मानता है जितनी जलाशयस्थ जल के खेत तक पहुँचने में प्रणालिका (नाली) की होती है। तब फिर इन्द्रियाँ प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा का करण या मुख्य साधन कैसे हो सकती हैं? पाँचवीं कारिका के 'विशेष' में यह बात विशेष-रूप से स्पष्ट की गई है। अतः वहीं द्रष्टव्य है। स्वयं बालराम के द्वारा पञ्चम कारिका के अन्तर्गत किया गया विषयोपन्यास उपर्युक्त के साथ विरोध उपस्थित करता है, जैसा कि उल्लिखित 'विशेष' में दिए गए बालराम के उद्धरण से ज्ञात हो जायगा ॥

ओ० बु० एजेन्सी पूना से डा० गङ्गानाथ झा के अनुवाद के सहित प्रकाशित संस्करण में 'तच्च असंन्दिग्धा······' ही...पाठ है और इसी के अनुसार डा० झा का अनुवाद भी है। सांख्यतत्त्वविभाकर में पं० वंशीधर ने भी यही पाठ रक्खा है। पाठ के अनुसार 'तत्' पद के द्वारा पूर्व-प्रयुक्त 'प्रमाण' का परामर्श होता है, जैसा कि वंशीधरी में 'तच्च' के 'प्रमाणं च' अर्थ से स्पष्ट है। प्रस्तुत संस्करण में भी इस पंक्ति का अनुवाद इसके अनुसार ही दिया गया है :—

'और यह प्रमाण वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो। (इस

१—एव प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याः चित्तवृत्तेर्यत्साधनं सन्निकर्षरूपव्यापारवच्चक्षुरादि, यच्च पौरुषेयबोधकरणं चित्तवृत्तिरूपं तदुभयमपि प्रमाणमित्यर्थः—विद्वत्तोषिणीकाराः

२—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षं प्रमाणमिति बोध्यम्। एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यां चित्तवृत्त्यात्मिकाम् अमुख्यां प्रमामभिधाय मुख्यप्रमामाह—बोधश्चेत्यादि। चित्तवृत्तेः फलं य. पौरुषेयः पुरुषवर्ती बोधः—बुद्धिधर्मोऽपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यमाणः—सा मुख्या प्रमेत्यर्थः। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणमिति बोध्यम्। एव प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याश्चित्तवृत्तेः यत् साधनं पदार्थेन सह सन्निकृष्टं चक्षुरादि, एवं तस्य पौरुषेयबोधस्य यत् साधनं चित्तवृत्तिः, तदुभयमपि प्रमाणम्।—किरणावली

चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अतएव उसका फलभूत) पौरुषेय बोध प्रमा है।' यह कहने की आवश्यकता न होगी कि इस पाठ के अनुसार एक ही प्रमाण तथा एक ही प्रमा सांख्य को इष्ट ज्ञात होती है। यद्यपि 'द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः'—इस सांख्य सूत्र से प्रमा और उसके साधन द्विविध ज्ञात होते हैं, तथापि अगली कारिका तथा उसके वाचस्पति मिश्र-कृत व्याख्यान से तो चित्तवृत्ति ही एकमात्र प्रमाण तथा पुरुष-गत बोध ही एकमात्र प्रमा ज्ञात होती है। मूल के 'चित्तवृत्तिः' पर टीका करते हुए वंशीधर ने लिखा भी है—'सिद्धान्ते चक्षुरादेःकरणत्वाभावादाह--चित्तवृत्तिरिति। "तत्साधनं प्रमाणमि" त्यत्रान्वेति'।। इसीलिये प्रस्तुत संस्करण में भी यही पाठ लिया गया है।

राजेश्वर शास्त्री द्राविड ने अपनी टिप्पणी में इस विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत करते समय जो इस प्रकार लिखा है :—

"चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं वा फलपदार्थः, स एव मुख्यप्रमाशब्दवाच्यः। एतादृशप्रमाकरणत्वेन बुद्धिवृत्तेः प्रमाणत्वं व्यपदिश्यते, तत्करणत्वेन च इन्द्रियादीन्यपि प्रमाणशब्दवाच्यानि भवन्ति। तथा च एतन्मते प्रमा प्रमाणं च द्विविधम्। इन्द्रियादीनां प्रमाणत्वे बुद्धिवृत्तेः प्रमात्वं, तस्याः प्रमाणत्वे पौरुषेयबोधस्य प्रमात्वम्। अतः 'अयं घटः' इत्याद्याकारिका अन्तःकरणवृत्तिःप्रमाणम्, 'घटमहं जानामी' त्याद्यनुव्यवसायः, पुरुषे बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बरूपः पौरुषेयो बोधः इति यत् केषाञ्चित् व्यःख्यानं, तन्निरस्तम्।" —यह कितना अर्थवान् है, यह कहने की आवश्यकता नहीं, ऊपर किए गये प्रतिपादन से ही स्पष्ट है।

सङ्ख्याविप्रतिपत्तिं निराकरोति—"त्रिविधम्" इति। तिस्रो विधा अस्य प्रमाणसामान्यस्य तत् त्रिविधम्, न न्यूनं नाप्यधिकमित्यर्थः। विशेषलक्षणानन्तरञ्चैतदुपपादयिष्यामः।

अर्थ—अब प्रमाणों की संख्या के विषय में प्रचलित मत-भेद का निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रमाण के तीन प्रकार हैं, न कम और न अधिक। प्रमाणों के विशेष लक्षण के बाद ही इसका प्रतिपादन करेंगे।

कतमाः पुनस्ता विधाः? इत्यत आह—"दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च" इति। एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायं लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवात्राधिकारात्। आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसां न लोकव्युत्पादनायालमिति सदपि नाभिहितम्, अनधिकारात्।

अर्थ—ये तीन प्रकार कौन हैं, यह कहते हैं:—'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द' या 'आगम'। यह त्रिविधत्व-कथन लौकिक प्रमाणों के ही अभिप्राय से कहा गया है, (अर्थात् साधारण जनों के ज्ञानोत्पादन में उपयोगी प्रमाण तीन ही हैं) क्योंकि शास्त्र साधारण जनों के ही ज्ञानार्थ होता है और इस कारण लौकिक प्रमाण ही यहाँ निरूपण के विषय हैं। उर्ध्वरेता[1] योगियों का आर्ष प्रमाण तो साधारण जनों को ज्ञान कराने में उपयोगी नहीं है। इसलिए विद्यमान होने पर भी इसका यहाँ प्रकारण या विषय न होने के कारण कथन नहीं किया गया है।

स्यादेतत्–मा भूत्न्यूनम्, अधिकं तु कस्मान्न भवति ? सङ्गिरन्ते हि प्रतिवादिनः उपमानादीन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह—"सर्वप्रमाण-सिद्धत्वात्" इति। एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात् अन्तर्भावादित्यर्थः। एतच्चोपपादयिष्यत इत्युक्तम्।

अर्थ—तीन से कम प्रमाण न हों तो न सही, पर अधिक क्यों नहीं होते ? गौतम इत्यादि प्रतिवादी उपमान इत्यादि को भी प्रमाण मानते हैं। इसका उत्तर कारिकाकार यह देते हैं कि इन्हीं प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाणों में अन्य सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत हो जाने के कारण लौकिक प्रमाण तीन ही हैं। इसका प्रतिपादन आगे करेंगे—यह पूर्व ही कह चुके हैं।

विशेष—सांख्यचन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ ने 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' का "अन्य सारे प्रमाणों के इन्हीं तीन में अन्तर्भूत होने के कारण'—यह अर्थ न करके 'सभी प्रमाणभूत पतञ्जलि इत्यादि महर्षियों को प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ही स्वीकृत (सिद्ध) या मान्य होने के कारण उपमान आदि प्रमाण नहीं हैं'[2]—यह अर्थ किया है।

अथ प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात् प्रमाणं सामान्यतो विशेषतश्च लक्षयति ? इत्यत आह—"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" इति। सिद्धिः—प्रतीतिः। सेयमार्याऽर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैव व्याख्याता ॥ ४ ॥

१—उर्ध्वं विषयेभ्यो बहिः परे तत्त्वे सूरेतः वृत्तिप्रवाहो येषां तेषां योगिनाम्।

—विद्वत्तोषिणीकाराः

२—सर्वैः प्रमाणैः प्रमातृभिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः सिद्धत्वात् प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानीति स्वीकृतत्वात् उपमानादिकं तु न सर्वप्रमाणसिद्धम्।

—सांख्यचन्द्रिका

अर्थ—प्रमेयों का ज्ञान कराने के लिये आरम्भ किया गया शास्त्र 'प्रमाण' का सामान्य तथा विशेष लक्षण क्यों करने लगा ? इसका उत्तर देते हैं:— क्योंकि प्रमेयों की प्रतीति (ज्ञान) प्रमाणाधीन होती है (अतः प्रधान रूप से प्रमेयों के प्रतिपादन को लेकर चलने वाला भी यह शास्त्र उन के प्रतिपादन में उपयोगी प्रमाणों को भी सूक्ष्म रूप से प्रतिपादित कर दे रहा है)। 'सिद्धि' का अर्थ है—प्रतीति अर्थात् ज्ञान। इस आर्या का अर्थानुकूल[1] व्याख्यान पाठ-क्रम का अनादर करके किया गया है।

सम्प्रति प्रमाणविशेषलक्षणावसरे प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्चानुमानादीनां सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च तदेव तावल्लक्षयति—

अर्थ—अब प्रत्यक्षादि पृथक् २ प्रमाणों के लक्षण कहने के समय सर्व-प्रथम प्रत्यक्ष का ही लक्षण कहते हैं क्योंकि वह समस्त प्रमाणों में श्रेष्ठ (पूर्ववर्ती) है, अनुमान इत्यादि उसी पर आश्रित रहते हैं और सभी वादियों का उसके विषय में मतैक्य (अविरोध) है।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥

अर्थ—विषय से सम्बद्ध (सन्निकृष्ट) इन्द्रिय पर आश्रित बुद्धि-व्यापार या ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट रूप से तीन प्रकार का कहा गया है और वह 'व्याप्य' तथा 'व्यापक' के ज्ञान से उत्पन्न होता है। 'आप्तवचन' अर्थात् आगम प्रमाण युक्त श्रुति (अर्थात् युक्त वाक्य से उत्पन्न उसके अर्थ-ज्ञान) को कहते हैं।

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" इति। अत्र "दृष्टम्" इति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं तु लक्षणम्। समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः।

अवयवार्थस्तु—विसिन्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरुपणीयं कुर्वन्तीति यावत्। "विषयाः" पृथिव्यादयः सुखादयश्च। अस्मादादीनामविषयाः तन्मात्रलक्षणाः योगिनामूर्ध्वस्रोतसाञ्च विषयाः। विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम्। वृत्तिश्च सन्निकर्षः। अर्थ-

---

१—यथा च पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वं, तथा 'अर्थाच्च' इति सूत्रे जैमिनीये (५।१।२) व्यक्तमिति ततोऽवसेयम्——विद्वत्तोषिणीकाराः।

सन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः। तस्मिन् अध्यवसायः तदाश्रित इत्यर्थः। अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम्। उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत्प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः।

अर्थ—यहाँ 'दृष्ट' पद से लक्ष्य का कथन किया गया है, शेष लक्षण है। लक्षण का प्रयोजन है—सजातीय और विजातीय पदार्थों से लक्ष्य को पृथक् करना। प्रत्यक्ष के लक्षणमें आये हुये शब्दोंका अर्थ यह है:—जो विषयी अर्थात् बुद्धि को बाँधते हैं—अपने आकार से रंगकर उसे भी तद्रूप [1] बना देते हैं, वे विषय कहलाते हैं। पृथिवी आदि तथा सुख इत्यादि हमारे विषय हैं। हमारे ज्ञान के विषय न बनने वाले तन्मात्र इत्यादि सूक्ष्म भूत भी योगियों तथा ज्ञानियों के विषय हैं। जो प्रत्येक विषय में प्रवृत्त (व्यापृत) होती है, उसे 'प्रतिविषय' कहते हैं। 'वृत्ति' अर्थात् व्यापार केवल सन्निकर्ष या सम्बंध है, (अपने स्थान को छोड़ कर विषय-स्थान में गमन नहीं, अन्यथा श्रोत्र या चक्षुरिन्द्रिय के विषय-देश में चले जाने पर बधिरत्व या अन्धत्व का प्रसङ्ग होगा)। इस प्रकार 'प्रतिविषय' पद का अर्थ है—विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय। 'प्रतिविषयाध्यवसाय' का अर्थ है—विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान। 'अध्यवसाय' ज्ञान को कहते हैं जो बुद्धि[2] का व्यापार या परिणाम है, (इन्द्रियों का व्यापार नहीं, यद्यपि इन्द्रियों के व्यापार से ही बुद्धि का व्यापार संभव है)। वस्तुतः सन्निहित विषय वाली इन्द्रियों का (उन विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धि-गत तमोगुण के अभिभूत या न्यून होने के साथ साथ सत्त्व गुण की जो प्रबलता या अधिकता होती है, उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। यही वह (प्रत्यक्ष) प्रमाण है। इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाण-भूत बुद्धि-तत्त्व के द्वारा स्व-प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला (स्वगृहीत विषयों का समर्पण-रूप[3]) अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल, प्रत्यक्ष प्रमा या (पुरुषगत) ज्ञान कहलाता है।

१—घटादयो विषया हीन्द्रियसन्निकर्षादिना विषयिणं चित्तं स्वाकारेणोपरञ्जयन्ति, यदिदमुपरञ्जन विषयिणि चित्ते विषयाणां स्वाकारार्पणमेतदेव स्वेन रूपेण निरूपणीयत्वमिति तत्त्वम्।

२—अध्यवसायपदाभिधेयं ज्ञानं च बुद्धेरेव व्यापारो नेन्द्रियधर्म इत्यर्थः—विद्वत्तो०

३—अन्तःकरणस्याय स्वभावो यदिन्द्रियैरुपनीतान्विषयान् स्वस्वामिन आत्मने समर्पयति, यथाहुः—गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति। अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥ (वि० पु०, अंश १, अ० १४, श्लोक ३५) इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

अर्थ—जैसे न्याय में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष या निर्विकल्पक ज्ञान—ये त्रिविध प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और इनके फल क्रमशः निर्विकल्पक ज्ञान, सविकल्पक ज्ञान तथा हानोपादन-बुद्धि रूप से त्रिविध होते हैं जिससे प्रत्यक्ष या साक्षात्कारिणी प्रमा त्रिविध कही जाती है, वैसा सांख्यशास्त्र में नहीं है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष रूप सहकारी के कारण उत्पन्न 'यह घट है'—ऐसा विषयाकार बुद्धि-परिणाम या बुद्धि-निष्ठ ज्ञान ही एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है एवं उसके पीछे उत्पन्न हुआ 'मैं घट को जानता हूँ या घट-ज्ञान-युक्त हूँ'—ऐसा पुरुष-निष्ठ ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा (प्रत्यक्ष प्रमाण का फल) है। न्याय में इसे अनुव्यवसाय कहते हैं। विद्वत्तोषिणीकार ने 'इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानोऽयं घटः इत्यादि बौद्धो बोधः प्रमाणम्, तदनुरूपजायमानो घटमहं जानामीत्यादिपौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः' ऐसा लिखकर इसे सुस्पष्ट किया है। इससे स्पष्ट है कि सांख्य के अनुसार प्रमाण केवल बोध-रूप या ज्ञान-रूप है और यह ज्ञान विषयाकार परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एकमात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय इत्यादि का नहीं। विशेषता इतनी ही होती है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा बुद्धि-गत तमोगुण का अभिभव होने के साथ ही सत्त्व-प्राबल्य होने पर बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'प्रत्यक्ष', व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न हुआ बुद्धि का ('ततोऽयं पर्वतो वह्निमान्'—एतादृश) विषयाकार परिणाम 'अनुमान' तथा वाक्य से उत्पन्न हुआ बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'आगम' प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष में आया हुआ इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी न्याय का संयोगादि सन्निकर्ष नहीं, अपितु इन्द्रियों की सहकारिता-मात्र है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि बुद्धि के विषयाकार रूप में परिणत होने में इन्द्रियों का जो साहाय्य-विशेष आवश्यक होता है, वही सन्निकर्ष है। यह सहायता उतनी और वैसी ही है, जितनी और जैसी अनेक छिद्रों से युक्त घट में स्थित दीप के प्रकाश को बाहर निकलकर फैलने तथा उपस्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में छिद्रों द्वारा प्राप्त होती है[1] अथवा जलाशयस्थ सलिल को खेत तक पहुँचने में जो सहायता प्रणाली से प्राप्त होती है। जैसे घटस्थ दीप का प्रकाश छिद्र-जन्य न होने के कारण उसका धर्म या कार्य नहीं कहा जा सकता किन्तु दीप-जन्य होने के कारण उसका कार्य या धर्म होता है, उसी प्रकार तमोगुण से

१—न चैतादृशेन्द्रियेण अध्यवसायः इत्यर्थकप्रतिविपयेणाध्यवसाय इति तृतीयासमासः कुतो नाश्रितः इति वाच्यम्, एतन्मते नानाछिद्रघटान्तरवर्तिप्रदीपप्रकाशस्य छिद्रजन्यत्वाभाववता बुद्धिवृत्तिरूपाध्यवसायस्य इन्द्रियजन्यत्वाभावेनैतादृशसमासासम्भवात्।----सुषमाकारः

आवृत बुद्धि द्वारा विषय का प्रकाशन छिद्रस्थानीय इन्द्रियों का कार्य न होने के कारण उसका धर्म नहीं अपितु बुद्धि का ही धर्म है। परन्तु जैसे छिद्रों के अभाव में दीप का प्रकाश बाहर निकल कर वस्तु का प्रकाशन नहीं कर सकता, तदर्थ छिद्रों की सहायता आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों के अभाव में समस्त अर्थों का ग्रहण करने में समर्थ भी बुद्धि तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण बाहर निकल कर तथा विषय तक पहुँच कर उसका प्रकाशन नहीं कर सकती, उसमें इन्द्रियाँ आवश्यक हैं[1]। इन्हीं इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि को आवृत करने वाला उसका घटस्थानीय तमोगुण अति न्यून हो जाता है और फिर बुद्धि उस तमोगुण से मानो बाहर निकलकर, वस्तु तक प्राप्त होकर एवं तदाकार-रूप में परिणत होकर उसे प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय की तरह सांख्य में ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों का प्रधान या सक्रिय नहीं अपितु गौण ही योग रहता है, प्रधान भाग तो बुद्धि का होता है। अतः वह बोध जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं। यही बात अनुमान प्रमाण कहे जाने वाले लिङ्ग-लिङ्गि-ज्ञान तथा आगम प्रमाण कहे जाने वाले वाक्य-जन्य ज्ञान के विषय में भी सत्य है।

(ii) नारायण तीर्थ ने अपनी सांख्यचन्द्रिका में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है :—'प्रतिविषयो नियतविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयतेऽनेनेति प्रतिविषयाध्यवसाय इन्द्रियम्। चक्षुरादीनां रूपादिविषयकत्वनि-यमान्नियतविषयकत्वम्।' गौड़पाद ने इस पद का अर्थ इस प्रकार से किया है—'प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम् प्रत्यक्षमित्यर्थः।' गौडपाद का अर्थ वाचस्पति मिश्र के अर्थ के सदृश ही है क्योंकि दोनों के अनुसार इन्द्रिय-कृत अध्यवसाय या ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, न कि इन्द्रिय। चन्द्रिकाकार की उपर्युक्त पंक्तियों से तो उन्हें इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण अभिमत प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार आप्तश्रुति का भी अर्थ उन्होंने 'आप्तोक्त वाक्य' किया है, वाचस्पति मिश्र की भाँति 'वाक्य-जन्य वाक्यार्थ-ज्ञान' नहीं।

१—यथा स्वभावतश्चलनशीलमपि जलाशयस्थं सलिलं निर्गममार्गासत्त्वरूपप्रतिबन्धक-बलात् स्वगं क्षेत्रमनुपसर्पदपि छिद्रे सति तद्द्वारा निर्गत्य कुल्यात्मना क्षेत्रमुपसृत्य केदारा-कारेण परिणमते, तथा स्वभावतः सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि बुद्धितत्त्वं तमसा प्रतिबद्धं सत्स्वय विषयमनुपसर्पदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना तमोनिरासे इन्द्रियप्रणालिकया विषयमुपसृत्य तदा-कारेण परिणमते। योऽयं बुद्धितत्त्वस्य विषयाकारपरिणामः, स एव अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाभिधीयते—विद्वत्तोपिणीकाराः।

परन्तु प्रस्तुत कारिका की टीका के अन्तिम भाग में "कारिकार्थस्तु प्रतिविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयते विषयीक्रियतेऽनेनेतीन्द्रियजन्यवृत्तिरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं स्वज्ञानद्वारा हेतुपक्षजन्यसाध्यज्ञानमनुमानम्, आप्तश्रुतिः आप्तशब्देन शाब्दो बोध इति" लिखकर वे स्वयं उसका विरोध करते हुए प्रतीत होते हैं।

अब पूर्वोक्त 'अनुग्रह' पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं :—

बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वाचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनः, घटादिवत्। एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदा अचेतनाः। पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते। चितिच्छायापत्त्याऽचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद्भवतीति, तथा च वक्ष्यति॥

अर्थ—चूँकि बुद्धि-तत्त्व प्रकृति का परिणाम (कार्य) होने के कारण अचेतन है, इसलिये उसका ज्ञान-रूप परिणाम या कार्य भी घट इत्यादि के सदृश अचेतन ही है। इसी प्रकार बुद्धि के सुख, दुःख इत्यादि विभिन्न परिणाम या कार्य भी अचेतन हैं। इसके विपरीत पुरुष सुख दुःख इत्यादि से सम्बन्ध न रखने वाला चेतन है। इस प्रकार का यह पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ उसके साथ तादात्म्य (ऐक्य या अभेद) ग्रहण करके उसमें स्थित ज्ञान, सुख इत्यादि धर्मों के द्वारा स्वयं भी उनसे युक्त सा प्रतीत होता है। इस प्रकार चेतन पुरुष बुद्धि के द्वारा अनुगृहीत होता है और चेतन पुरुष के साथ तादात्म्य या अभेद को प्राप्त होने के कारण अचेतन बुद्धि तथा उसका अचेतन ज्ञान भी चेतन सा प्रतीत होता है, ऐसा आगे (२०वीं कारिका में) कहेंगे।

विशेष :—'छायापत्ति का अर्थ है—तादात्म्य-प्राप्ति अर्थात् चिति और चित्त का अभेद-ग्रहण। इसी को अस्मिता नामक अविवेक या मोह भी कहा है, जैसा योगसूत्र पा० २, सू० ६ में कहा गया है :—दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'। यही बात आचार्य पञ्चशिख ने भी इस प्रकार कही है—'बुद्धितः परमं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।' इस प्रकार वस्तुतः प्रमाख्य फल बुद्धिनिष्ठ ही होता है, पुरुष-निष्ठ नहीं क्योंकि वह तो असङ्ग होने के कारण प्रमा का आधार हो ही नहीं सकता। वस्तुतः होता यह है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा अर्थ (वस्तु) ग्रहण करते समय जब चित्त तदाकार हो जाता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित या सङ्क्रान्त हुआ चेतन पुरुष मोह-वश उसके

साथ अपना ऐक्य या तादात्म्य समझता हुआ स्वयं भी अर्थ-ग्रहण करता हुआ सा प्रतीत होता है। इस प्रकार केवल मोह या अविवेक से चित् और चित्त—पुरुष और बुद्धि—के अभेद-ग्रहण के कारण प्रमा या अर्थ-बोध का पुरुष में उपचार होता है। यही बात योग-सूत्रों में इस प्रकार कही गई है:—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। ||यो० २-२०|| विज्ञानभिक्षु के "न बुद्धौ प्रमाख्यं फलं जायते, तथा सति 'पौरुषेय' शब्दस्य यथाश्रुतार्थत्यागापत्तेः…… ……" इत्यादि कथन को इसी कारण असत् कहना पड़ता है ॥

अत्राऽध्यवसायग्रहणेन संशयं व्यवच्छिनत्ति, संशयस्याऽनवस्थितग्रहणत्वेनानिश्चितरूपत्वात्। निश्चयोऽध्यवसाय इति चानर्थान्तरम्। विषयग्रहणेन चासद्विषयं विपर्ययमपाकरोति। प्रतिग्रहणेन चेन्द्रियार्थसन्निकर्षसूचनादनुमानस्मृत्यादयश्च पराकृता भवन्ति। तदेवं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् "प्रतिविषयाध्यवसायः" इति दृष्टस्य सम्पूर्णं लक्षणम्। तन्त्रान्तरेषु लक्षणान्तराणि तैर्थिकानां न दूषितानि, विस्तरभयादिति।

अर्थ—यहाँ (प्रत्यक्ष) के लक्षण में 'अध्यवसाय' पद के ग्रहण द्वारा संशय का बहिष्कार किया है क्योंकि जहाँ संशय अनेक-कोटिक ज्ञान होने के कारण अनिश्चित होता है, वहाँ अध्यवसाय तो निश्चय का ही समानार्थक है। 'विषय' पद के ग्रहण से असत्य विषय वाले मिथ्या ज्ञान का बहिष्कार किया है और 'प्रति' पद के ग्रहण से इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष सूचित करके अनुमान, स्मृति इत्यादि का बहिष्कार किया है। इस प्रकार स्वजातीय अनुमान इत्यादि तथा विजातीय मिथ्या ज्ञान इत्यादि से 'दृष्ट' को पृथक् करने के कारण 'प्रतिविषयाध्यवसायः' उसका सम्पूर्ण लक्षण सिद्ध हुआ। अन्य शास्त्रों में दार्शनिकों[1] द्वारा किए गए लक्षणों का विस्तार के भय से खण्डन नहीं किया गया।

अनुमान

[अब अनुमान प्रमाण न मानने वाले चार्वाक इत्यादि भौतिकवादियों के प्रति उसकी अनिवार्यता प्रदर्शित करते हैं :—]

'नानुमानं प्रमाणम्' इति वदता लौकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत ? न च पुरुषान्तर्गता अज्ञानसन्देहवि-

१—'तीर्थं स्याद्दर्शनेष्वपि' इत्युक्तेस्तीर्थपदं दर्शनपरं, दर्शनं च गौतमादिप्रणीतं शास्त्रं, तदध्येतारो वेत्तारश्च दार्शनिकास्तैर्थिका वेत्यभिधीयन्ते—विद्वत्तो०

पर्यया: शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्। नाऽपि प्रमाणान्तरेण, अनभ्युपगमात्। अनवधृताज्ञानसंशयविपर्ययस्तु यं कञ्चन पुरुषं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्यते। तदनेनाज्ञानादयः परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद्वचनभेदाद्वा लिङ्गादनुमातव्याः, इत्यकामेनाऽप्यनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम्।

अर्थ—'अनुमान प्रमाण नहीं है'—ऐसा कहने वाले लौकायतिक (भौतिकवादी) के द्वारा अज्ञान, सन्देह अथवा मिथ्या ज्ञान वाला पुरुष कैसे जाना जायगा? अन्य पुरुष में स्थित अज्ञान, सन्देह और मिथ्या ज्ञान स्थूल एवं बाह्य दृष्टि वाले भौतिकवादी के द्वारा न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जाना जा सकता है और न किसी प्रमाण से ही क्योंकि प्रत्यक्ष से भिन्न कोई प्रमाण वह मानता ही नहीं। इस प्रकार पुरुष-निष्ठ अज्ञान, संशय या मिथ्या ज्ञान का बिना निश्चय किए जिस किसी पुरुष के बोध के लिए वचन में प्रवृत्त हुआ भौतिकवादी अपने वचनों के ध्यान देने योग्य न होने के कारण बुद्धिमानों के द्वारा उन्मत्त-सदृश उपेक्षित होगा। इसलिए भौतिकवादी को पर-पुरुष-वर्ती अज्ञान इत्यादि का अनुमान उसके तात्पर्य-विशेष या वचन-विशेष रूप लिङ्ग द्वारा करना होगा। इसलिए अनिच्छा होने पर भी लौकायतिक को अनुमान प्रमाण मानना ही होगा।

तत्र प्रत्यक्षकार्यत्वादनुमानं प्रत्यक्षानन्तरं लक्षणीयम्। तत्राऽपि सामान्यलक्षणपूर्वकत्वाद्विशेषलक्षणस्यानुमानसामान्यं तावल्लक्षयति—"तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्" इति। लिङ्गम्—व्याप्यम्। लिङ्गि—व्यापकम्। शङ्कितसमारोपितोपाधि[1]निराकरणेन च वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यम्, येन प्रतिबद्धं तद् व्यापकम्।

अर्थ—अब अनुमान के प्रत्यक्षाश्रित होने के कारण तदनन्तर उसी का लक्षण द्वारा निरूपण होना चाहिये। फिर सामान्य लक्षण के बाद ही विशेष लक्षण हो सकने के कारण पहले अनुमान-सामान्य का ही लक्षण करते

१—स चोपाधिः द्विविधः सन्दिग्धो निश्चितश्च। यत्र साध्यव्यापकत्वसाधनाव्यापकत्वयोः संशयः, तत्र सन्दिग्धोपाधिः, स च व्यभिचारसंशायकः। यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजन्यत्वं सन्दिग्धोपाधिरित्युच्यते, तत्र साध्यव्यापकत्वस्य सन्दिग्धत्वात् श्यामे मित्रातनये शाकपाकजन्यत्वस्य प्रत्यक्षाभावेन संदिग्धत्वादित्यर्थः। एवं यत्र साध्यव्यापकत्वसाधनाव्यापकत्वयोः निश्चयः, स निश्चितोपाधिः, यथा धूमवान् वह्नेरित्यत्रार्द्रेन्धनसंयोगः। तत्र साध्यव्यापकत्वस्य साधनाव्यापकत्वस्य च प्रत्यक्षेणैव निश्चयात्। —सुषमाकाराः

हैं। यह अनुमान लिङ्ग तथा लिङ्गी के ज्ञान से उत्पन्न होता है। 'लिङ्ग' का अर्थ है—'व्याप्य' अर्थात् अपेक्षाकृत कम स्थानों में प्राप्त होने वाला, तथा लिङ्गी' का अर्थ है—'व्यापक' अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक स्थानों में प्राप्त होने वाला। सन्दिग्ध तथा निश्चित इन दोनों में से किसी भी प्रकार की उपाधि के कारण नहीं, अपितु वस्तु-स्वभाव से ही जिसका साहचर्य (अविनाभाव) सम्बन्ध हो, उसे व्याप्य कहते हैं। जिसके साथ वह सम्बन्ध हो, उसे व्यापक कहते हैं।

विशेष—जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ साहचर्य-सम्बन्ध कार्य-कारण रूप या स्वाभाविक न होकर कल्पित हो, तब जिसके कारण वह सम्बन्ध कल्पित होता है, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' में धूम का वह्नि के साथ साहचर्य-सम्बन्ध स्वाभाविक है क्योंकि वह्नि का कार्य होने के कारण जहाँ भी धूम होगा वहाँ वह्नि के साथ होगा, उसके बिना नहीं। इसी को धूम का वह्नि के साथ अयिनाभाव सम्बन्ध भी कहेंगे। यही व्याप्ति है। परन्तु "यत्र वह्निस्तत्र धूमः" में वह्नि का धूम के साथ साहचर्य सर्वत्र न होकर वहीं होगा, जहाँ उसमें 'आर्द्रेन्धन-संयोग' होगा क्योंकि वह्नि धूम का कार्य न होने के कारण धूम के बिना भी रह सकता है, जैसे खूब तपाये हुए अयोगोलक (लोहे के गोले) में। इस प्रकार आर्द्रेन्धन-संयोग उपाधि है। यह उपाधि दो प्रकार की होती है—समारोपित या निश्चित और सन्दिग्ध। उपर्युक्त आर्द्रेन्धन-संयोग रूप उपाधि प्रत्यक्ष होने के कारण निश्चित है। "देवदत्तः श्यामो मित्रातनयत्वात्"—इस वाक्य में देवदत्त की श्यामता में मित्रा का पुत्र होना कारण नहीं है, क्यों उसके सभी पुत्र श्याम हों, ऐसी बात नहीं है। श्यामता में कारण देवदत्त के द्वारा खाये गये शाक इत्यादि का परिणाम-विशेष ही है। अतः उक्त वाक्य में यह उपाधि है। यह संदिग्धोपाधि है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष से निश्चय नहीं होता॥

लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन विषयवाचिना विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति। 'धूमादिर्व्याप्यो वह्न्यादिर्व्यापकः'इति यः प्रत्ययस्तत्पूर्वकम्। लिङ्गिग्रहणं चाऽवर्तनीयम्। तेन च लिङ्गमस्याऽस्तीति पक्षधर्मताज्ञानमपि दर्शितं भवति। तत् 'व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानम्' इत्यनुमानसामान्यं लक्षितम्।

अर्थः—ज्ञान के विषयभूत धूम, वह्नि इत्यादि के वाचक 'लिङ्ग' और 'लिङ्गी' शब्द उन विषयों या वस्तुओं के ज्ञान को सूचित करते हैं। इस प्रकार

धूमादि के दर्शन से पर्वतादि में वह्नि आदि का अनुमान "धूमादि व्याप्य है और वह्नि इत्यादि व्यापक है अर्थात् जहाँ-जहाँ धूप है, वहाँ-वहाँ वह्नि है"—इस ज्ञान से होता है। 'लिङ्गि' शब्द (जो पहले व्यापक के अर्थ में आया है) की पुनः आवृत्ति[१] होनी चाहिये। इससे 'लिङ्गी' शब्द की 'लिङ्ग हो वर्तमान जिसमें'—इस व्युत्पत्ति से अनुमान के लक्षण में इस ज्ञान की आवश्यकता भी प्रदर्शित हो जाती है कि धूमादि लिङ्ग पर्वतादि पक्ष में उसके धर्म रूप में विद्यमान है। इस प्रकार 'लिङ्ग और लिङ्गी के व्याप्ति-ज्ञान तथा लिङ्ग के पक्षधर्मता-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान प्रमाण कहलाता है'[२]। यह अनुमान-सामान्य का लक्षण हुआ।

अनुमानविशेषान् तन्त्रान्तरलक्षितान् अभिमतान् स्मारयति—"त्रिविधमनुमानमाख्यातम्" इति। तत् सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधं पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्चेति। तत्र प्रथमं तावत् द्विविधम्—वीतमवीतं च। अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। तत्रावीतं शेषवत्। शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः, स एव विशेषतया यस्याऽस्त्यनुमानज्ञानस्य, तच्छेषवत्। यदाहुः—"प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः" इति (न्यायभाष्यम्)। अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते।

अर्थ—अत्र दूसरे न्याय[३] इत्यादिशास्त्र में कहे गए अनुमान के भेदों को बतलाते हैं—वह अनुमान तीन प्रकार का है अर्थात् जिस अनुमान का सामान्य रूप से अभी लक्षण बताया गया है, वह पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट रूप से तीन प्रकार का होता है। सर्व प्रथम अनुमान दो प्रकार का होता है—वीत तथा अवीत। अन्वय व्याप्ति (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं, यथा यत्र

१—लिङ्गि च लिङ्गि चेति लिङ्गिनी, लिङ्गं च लिङ्गिनी चेति लिङ्गलिङ्गीनि, तानि पूर्वं यस्य तत् लिङ्गलिंगिपूर्वकम् इति समासाश्रयेण लिङ्गलिङ्गिलिङ्गिजन्यमित्यायातम्—सुषमाकाराः।

२—निर्गलितार्थमाह—तत् इति। यस्मादेवं तत्तस्माद् व्याप्यव्यापकभावज्ञानपुरःसरं यद् व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वज्ञानं तत्पूर्वकं यज्ज्ञानं तदनुमानमित्यनुमानसामान्यं लक्षितमित्यर्थः—विद्वत्तो०।

३—अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च (न्या० सू० १।१।५) [तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकमित्यर्थः।—वात्स्यायनभाष्यम्।]

धूमोऽस्ति, तत्र वह्निरस्ति) के द्वारा प्रवृत्त होकर वह्नि आदि 'व्यापक' की पर्वत इत्यादि पक्ष में सत्ता सिद्ध करने वाला अनुमान 'वीत' कहलाता है। व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा प्रवृत्त होकर व्यापक के निषेध द्वारा व्याप्य का पक्ष में निषेध करने वाला अनुमान 'अवीत' कहलाता है। इनमें 'अवीत' 'शेषवत्' कहलाता है। 'शेष' वह है जो बच जाय। वही शेष जिस अनुमान-ज्ञान का विषय हो, उसे 'शेषवत्' अनुमान कहते हैं। इसके विषय में (न्या० सू० १।१।५ के भाष्य में) इस प्रकार कहा गया है—परिशेष (शेषवत्) अनुमान उसे कहते हैं जिसमें किसी वस्तु की जहाँ कहीं सम्भावना हो, वहाँ सर्वत्र निषेध करके अन्यत्र सम्भावना न होने के कारण बचे हुए पदार्थ में उसका ज्ञान किया जाय। इस व्यतिरेकी अवीतानुमान का उदाहरण[1] आगे (नवीं कारिका में) दिया जाएगा।

विशेष—जैसे शब्द गुण होने के कारण द्रव्य में आश्रित होगा, द्रव्य-भिन्न गुण आदि में नहीं। वह पृथ्वी इत्यादि आठ द्रव्यों में आश्रित नहीं है, इसलिए वह इनसे भिन्न किसी नवम द्रव्य में आश्रित होगा। इस नवें द्रव्य को आकाश कहते हैं, जो शब्द गुण वाला है। इस प्रकार शब्द का आकाश में सम्प्रत्यय अर्थात् शब्द द्वारा आकाश रूप नौवें द्रव्य की सिद्धि इसी शेषवत् या परिशेषानुमान से हुई है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह व्यतिरेकी अनुमान है पर वात्स्यायन ने इसके उदाहरण में जो शब्द के गुणत्व का अनुमान दिया है, वह अन्वय-व्यतिरेकी है। इसीलिये अपनी "तात्पर्यटीका" में उन्होंने इसका प्रत्याख्यान किया है। ऊपर शेषवत् का जो उदाहरण दिया गया है, वह चित्सुखाचार्य के न्यायमकरन्द की व्याख्या में दिए गए उदाहरण के आधार पर है। इच्छादि गुणों के द्वारा आत्म-द्रव्य का अनुमान भी आचार्य वाचस्पति के मतानुकूल शेषवत् होगा, पर वात्स्यायन के अनुसार सामान्यतोदृष्ट होगा।

वीतं द्वेधा—पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च। तत्रैकं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत्, तत्पूर्ववत्; पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत्।

१—यथा 'आत्मा अपरिणामी निर्धर्मकत्वात्' इत्यत्र 'यत्र अपरिणामित्वाभावः (परिणामित्वं वा) तत्र निर्धर्मकत्वाभावः (सधर्मकत्वं वा) इति व्याप्त्या आत्मपक्षे सधर्मकत्वेतिव्यापकस्य निषेधेन तत्र परिणामित्वेतिव्याप्यस्य निषेधः (अपरिणामित्वकथनं वा) अवीतम्।

तदस्य विषयत्वेनाऽस्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्। यथा धूमाद्वह्नित्वसामान्यविशेषः[1] पर्वतेऽनुमीयते, तस्य वह्नित्वसामान्यविशेषस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम्।

अर्थ—वीतानुमान दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। इनमें से पूर्ववत् अनुमान का विषय ऐसी किसी वस्तु का सामान्य रूप होता है, जिसका विशिष्ट या वैयक्तिक रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका रहता है। 'पूर्व' का अर्थ है—प्रसिद्ध अर्थात् किसी वस्तु का सामान्य रूप, जिसका विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका है। ऐसा 'सामान्य' जिस अनुमान का विषय हो, उसे 'पूर्ववत्' अनुमान कहते हैं; जैसे धूम के द्वारा 'वह्नित्व' रूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) विशेष रूप अर्थात् पर्वतीय वह्नि का अनुमान होता है, जिसका वैयक्तिक रूप (individual form) अर्थात् वह्निविशेष रसोई में पहले देखा जा चुका है।

विशेष—पूर्ववत् के उदाहरण में आए हुए 'वह्निनत्वसामान्यविशेष' का दो प्रकार से विग्रह करके उसके दो अर्थ टीकाकारों ने किए हैं। विद्वत्तोषिणीकार श्री बालराम उदासीन ने 'वह्निनत्वं चासौ सामान्यविशेषश्च (सामान्यं चासौ विशेषश्चेति सामान्यविशेषः) इति वह्निनत्वसामान्यविशेषः' ऐसा विग्रह समझते हुए 'नात्र वह्निनत्वसामान्यस्य विशेषोऽनुमेय इति विवक्षितं किन्तर्हि वह्निनत्वरूपः सामान्यविशेषोऽनुमीयते इत्यभिप्रेतमिति गृहाण'—यह अर्थ किया है। उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'वह्निनत्व' रूप सामान्य से अवच्छिन्न वह्नि-व्यक्ति का अनुमान होता है, ऐसी बात नहीं अपितु वह्निनत्व का

१—वह्निनत्वसामान्यविशेषः—वह्निनत्वाच्छिन्नपर्वतीयवह्निनव्यक्तिविशेषः—वंशीधरी।

(i) वह्निनत्वसामान्यविशेषः—वह्निनत्वात्मकःसामान्यविशेषोऽनुमीयते पर्वते इत्यर्थः। ननु कथं वह्निनत्वस्य सामान्यविशेषोभयात्मकत्वमिति चेत्, इत्थम् :—जातेः द्विधा प्रयोजनम्—एक स्वाश्रयस्य अनुवृत्तिजननं, द्वितीयं स्वाश्रयस्य व्यावृत्तिजननम्, तत्र सत्ताया इव वह्निनत्वस्य यदा सर्वेषां वह्नीनामनुगतप्रतीतिजनकत्वं, तदा 'सामान्य' धर्म इत्याख्या, यदा च वह्निः इतरभिन्नः वह्निनत्वात् इति स्वार्थानुमानेन इतरभेदजनकत्वं, तदा 'विशेष' धर्म इत्याख्या भवति। "अनुवृत्तेः हेतुत्वात् सामान्यं, व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषख्यां लभते' इति कणादसूत्रभाष्यकाराः प्रशस्तपादाः।—किरणावली

(ii) अत्र वह्निनत्वसामान्यस्य विशेष इति नार्थः, येन व्यक्तिविशेषस्यानुमेयत्वं स्यात्, किन्तु वह्निनत्वरूपः सामान्यविशेषोऽनुमीयते इत्येवाभिप्रेतमिति बोध्यम्। एतेन 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' इति योगभाष्याद् वह्निनत्वरूपसामान्यस्यैवानुमेयत्वावगतेः 'वह्निनत्वसामान्यविशेषोऽनुमीयते' इति व्यक्तिरूपविशेषस्यानुमेयत्वप्रतिपादनमयुक्तमित्यपास्तम्।

—सारबोधिनी

ही अनुमान होता है जो सामान्य रूप होते हुए भी विशेष रूप होता है। फिर वह्नित्व की उभयरूपता सिद्ध करने के लिए उन्होंने पदार्थ-धर्म-संग्रह (वैशेषिक भाष्य) के कर्ता प्रशस्तपाद की 'सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्, सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव। द्रव्यत्वाद्य-परमल्पविषयत्वात्, तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात्सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते इति'—इन पंक्तियों को उद्धृत करके इनका अर्थ करते हुए 'अत्यन्त-व्यावृत्तानां तत्त्वानां यतः कारणादन्योन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते तत्सामान्यमभिधी-यते,तच्च द्विविधमेकं द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ताख्यं परम्; एतच्च स्वाश्रयस्यानुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमित्येव कीर्त्यते; अपरं च द्रव्यत्वपृथिवीत्वगोत्वादिरूपमपर-सामान्यम्; एतच्च स्वाश्रयस्य विजातीयेभ्योऽपि व्यावृत्तेरपि हेतुत्वाद्विशेष इत्यपि व्यवह्रियते तथा च सिद्धं वह्नित्वादेः सामान्यविशेषरूपत्वमिति'—ऐसा लिखा है। 'अनुमान का विषय वह्नित्व इत्यादि सामान्य ही होता है, विशेष अर्थात् व्यक्ति-रूप वह्नि नहीं'—विद्वत्तोषिणीकार ने अपना यह मत योग-भाष्य की 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' (अर्थात् अनुमान वह वृत्ति या ज्ञान है जिसमें वह्नित्व इत्यादि सामान्य का ही निश्चय होता है)—इस पंक्ति के आधार पर स्थापित किया है। किरणावलीकार तथा सरबोधिनीकार ने बालराम के ही मत का सर्वथा अनुसरण किया है। इस मत का खण्डन करते हुए पं० हरिराम शुक्ल ने अपनी सुषमा नामक टीका में "केचित्तु 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' इति योगभाष्यानुसारेण वह्नित्वस्यैवानु-मेयत्वं वदन्तः वह्नित्वसामान्यविशेषः इत्यस्य वह्नित्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नो विशेष इति नार्थः, अपितु वह्नित्वरूपो यः सामान्यविशेषः इत्यर्थः, न च वह्नित्वस्य कथं सामान्यविशेषत्वमिति चेत्, तस्य जातिरूपतया सामान्यत्वं घटादिभ्यो व्यावर्तकतया विशेषत्वमपि सम्भवतीति वदन्ति। तदेतत् 'पर्वते वह्निमनु-मिनोमि' इति सर्वजनप्रतीत्या वह्नेरेव अनुमितिविधेयत्वरूपानुमेयत्वावगत्या वह्नित्वस्यानुमेयत्वानङ्गीकारेण उपेक्षितम्"—ऐसा लिखा है। खण्डन का अभिप्राय इतना ही है कि चूँकि सर्व-साधारण को 'मैं पर्वत में वह्नि का अनुमान करता हूँ'—ऐसी ही प्रतीति होती है, 'मैं पर्वत में वह्नित्व का अनुमान करता हूँ'—ऐसी नहीं, इसलिए अनुमान का विषय वह्नि ही होगा, वह्नित्व नहीं। सुषमाकार ने अपना यह मत सर्व-साधारण की अनुभूति के आधार पर स्थापित किया है। रही ऊपर उद्धृत योग-भाष्यकार के मत के साथ इस मत के विरोध की बात, इसका परिहार सुषमाकार ने आगे की

पंक्तियों में इस प्रकार किया है:—'न च भवन्मते पूर्वोक्तसामान्यावधारण-प्रधाना वृत्तिरनुमानमिति योगभाष्यविरोध इति वाच्यम्, सामान्यावधारणप्रधाना इत्यस्य सामान्यरूपेण वह्नित्वादिना यदवधारणं वह्नेः निश्चियः स एव प्रधानं फलं यस्य तथाभूतं यत्तदनुमानमनुमितिकरणमित्यर्थकत्वात्; एतच्च "गृहीत-व्याप्तिकेन हेतुना साध्यवति पक्षे ज्ञायमानेन साध्यस्य सामान्यात्मनाऽध्यवसायो-ऽनुमानम्" इति योगसूत्रटीकायां नारायणतीर्थकृतायां स्पष्टम्'। उनका अभिप्राय यह है कि योगभाष्य की 'सामान्यावधारणप्रधाना' पंक्ति का 'सामान्य रूप से वह्नि आदि का निश्चय'—ऐसा ही अर्थ है, 'वह्नित्व इत्यादि सामान्य का निश्चय'—ऐसा अर्थ नहीं है। अपने मत का समर्थन उन्हें नारायण तीर्थ की 'साध्यस्य सामान्यात्मना अध्यवसायोऽनुमानम्' इस पंक्ति में स्पष्ट मिला है। अब रहा इस अनुमान के प्रत्यक्ष से भिन्न होने का प्रश्न क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष से इसी रूप में भिन्न माना जाता है कि जहाँ प्रत्यक्ष के द्वारा विशेष का ज्ञान होता है, वहाँ अनुमान के द्वारा सामान्य का ही'—इसका समाधान सुषमाकार ने इस प्रकार किया है:—"तथा च प्रत्यक्षे यथा परिमाणरूपादिना घटादेः ज्ञानं भवति, न तथा अनुमितौ अशेषविशेषाकारेण ज्ञानं भवतीत्येव सामान्यावधारणेत्यादेः तात्पर्यं बोध्यम्' अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय बनने वाले घटादि का उसके परिमाण, रूप इत्यादि विशेषों के सहित ही ज्ञान होता है परन्तु अनुमान का विषय बनने वाले पर्वतस्थ वह्नि आदि का केवल वह्नि रूप में ही ज्ञान होता है, रसोई में प्रत्यक्ष हुए वह्नि के समान विशिष्ट-स्वरूपादि-युक्त रूप में नहीं। इतने व्याख्यान से ही सुषमाकार के मत की उपयुक्तता स्पष्ट है। पं० वंशीधर ने यही पक्ष बहुत संक्षेप में, तथापि निश्चयात्मक शब्दों ग्रहण किया है—वह्नित्वसामान्यविशेषः वह्नित्वावच्छिन्नपर्वतीयवह्निव्यक्तिविशेषः।' इसी के अनुसार 'वह्नित्वसामान्यविशेषः पर्वतऽनुमीयते······'इत्यादि पंक्ति का अनुवाद वहाँ प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः 'अनुमान का विषय वस्तु का सामान्य रूप ही होता है, विशिष्ट रूप नहीं'—इसमें एक मत होने पर भी उस सामान्यरूपता के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा है। इसीलिए इतनी बड़ी टिप्पणी की आवश्यकता जान पड़ी।

अपरं च वीतं सामान्यतोदृष्टं अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्। यथेन्द्रियविषयमनुमानम्। अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्व-मनुमीयते। यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदादौ वास्यादिस्वलक्षणमुपलब्धं, तथाऽपि यज्जातीयं रूपादिज्ञाने करणवत्त्वमनुमीयते, तज्जातीयस्य

करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण। इन्द्रियजातीयं हि तत्करणम्। न चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशाम्, यथा वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः। सोऽयं पूर्ववतः सामान्यतोदृष्टात् सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेषः। अत्र च दृष्टं दर्शनम्, सामान्यत इति सामान्यस्य, सार्वविभक्तिकस्तसिः। अदृष्टस्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनं सामान्यतोदृष्टमनुमानमित्यर्थः। सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्।

अर्थ—सामान्यतोदृष्ट नामक दूसरे प्रकार के वीतानुमान का विषय ऐसी सामान्य वस्तु होती है जिसका अपना असाधारण या विशिष्ट रूप पहले न देखा गया हो। जैसे इन्द्रिय-विषयक अनुमान। इसमें 'रूपरसादि-विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञान क्रिया होने के कारण अवश्य ही 'करण' के द्वारा उत्पन्न होंगे' क्योंकि जो क्रिया होती है, वह अवश्य ही किसी करण या साधन-विशेष से उत्पन्न होती है (जैसे छिदा अर्थात् कटाई इत्यादि क्रिया बसूले, कुल्हाड़ी इत्यादि से सम्पन्न होती है)—इतना भर अनुमान होता है। यद्यपि कटाई इत्यादि के विषय में 'करणत्व' सामान्य का अपना विशिष्ट प्रकार बसूला आदि पहले प्रत्यक्ष हुआ रहता है, तथापि रूप, रस इत्यादि के ज्ञान के विषय में जिस प्रकार के करण का अनुमान होता है, उस प्रकार के करण का अपना विशिष्ट रूप कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ। क्योंकि वह करण इन्द्रियत्व-विशिष्ट है और 'इन्द्रियत्व' सामान्य का अपना विशिष्ट रूप अर्थात् कोई इन्द्रिय-विशेष स्थूल दृष्टि वालों को कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके विपरीत 'वह्नित्व' सामान्य के अपने विशिष्ट रूप—रसोई वाले वह्नि—का प्रत्यक्ष होता है। 'वीत' रूप से समानता होने पर भी सामान्यतोदृष्ट से पूर्ववत् का यही भेद है। यहाँ पर 'दृष्ट' का अर्थ है—दर्शन या ज्ञान। सामान्यतः का अर्थ है—'सामान्य का' क्योंकि 'तसिः' प्रत्यय सभी विभक्तियों का अर्थ प्रकट करता है। इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण उस ज्ञान को कहते हैं जिसका विषय सामान्य-विशिष्ट वह व्यक्ति होता है जिसका अपना विशिष्ट रूप प्रत्यक्ष होता हो। यह सब हमने अपनी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में विशेष रूप से प्रतिपादित किया है, इसलिये यहाँ विस्तार के डर से उसे दोहराया नहीं।

आप्त-वचन या आगम प्रमाण

प्रयोजकवृद्धशब्दश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्वकत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धग्रहणस्य, स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च

शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वादनुमानपूर्वकत्वमित्यनुमानानन्तरं शब्दं लक्षयति—"आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" इति। अत्र आप्तवचनमिति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं लक्षणम्। आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। श्रुतिः—वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्।

अर्थ—जब कोई प्रेरक व्युत्पन्न पुरुष (आचार्य इत्यादि) किसी व्युत्पन्न शिष्यादि को कार्य-विशेष का आदेश करने के लिये शब्दों (जैसे 'गामानय' इत्यादि) का प्रयोग करता है और आज्ञा-पालक व्युत्पन्न शिष्य तदनुकूल प्रवृत्त होता है तो उसे देखने वाला पास में बैठा हुआ अव्युत्पन्न बालक प्रथम गाय को लाने आदि के विषय में होने वाली प्रवृत्ति के कारण-भूत ज्ञान का अनुमान करके फिर शब्द सुनने के अनंतर उत्पन्न होने के कारण उस ज्ञान की शब्द-जन्यता का अनुमान करता है, जिससे उसे शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध विशेष (अर्थात् अमुक शब्द अमुक अर्थ प्रकट करने में समर्थ है—इस शब्द शक्ति) का ज्ञान होता है और चूँकि शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध-विशेष का ज्ञान होने पर ही शब्द अपने अर्थ की प्रतीति कराता है, इसलिये शब्द-ज्ञान की अनुमान-पूर्वकता सिद्ध है। इसी कारण अनुमान के बाद ही शब्द का लक्षण करते हैं:—'आप्तवचन या आगम प्रमाण युक्त श्रुति को कहते हैं।' यहाँ 'आप्तवचन' पद से लक्ष्य (जिसका लक्षण करना है) का कथन किया गया है, शेष लक्षण है। लक्षण के 'आप्त' शब्द का अर्थ है—प्राप्त (प्रकृष्ट या निर्दोष ढंग से होने वाला) या युक्त। 'श्रुति'[1] का अर्थ है—वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ-ज्ञान।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में कारिकाओं के टीकाकार ने केवल यह बात स्पष्ट की है कि शाब्द बोध 'शक्ति' अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्ध के ज्ञान के बिना असम्भव है, और यह शक्ति-ज्ञान अनुमान के बिना असम्भव है। इस प्रकार अनुमान शब्द प्रमाण में परम्परया कारण है। इसीलिये शब्द प्रमाण के पूर्व

१—'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नाय' इत्यभिधानाद्वेदवाक्ये शक्तमपि श्रुतिपदमत्र अनभिप्रेतभागत्यागरूपया जहदजहल्लक्षणया सामान्यवाक्यपरं तन्नीत्वा पुनरुपचाराद् वाक्यजन्यबोधपरत्वेन व्याख्येयमित्यर्थः।

यद्वा श्रूयते इति श्रुतिः श्रोत्रग्राह्यं वाक्यमिति व्युत्पत्त्या श्रुतिपदस्य वाक्यमिति वाच्योऽर्थः तज्जन्यं ज्ञानं च लाक्षणिकोऽर्थः इति पन्था अत्र आश्रयणीयः। सर्वथापि श्रुतिपदमत्र वाक्यजन्यज्ञानपरम् इति ग्राह्यमिति तत्त्वम्—विद्वत्तोषिणीकाराः

गौडपादाचार्यास्तु आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः तदुक्तमाप्तवचनमित्यर्थं कृतवन्तः॥

अनुमान का लक्षण करके ही उसका लक्षण करना सम्भव हो सका। अब जहाँ तक शक्ति-ज्ञान के अभाव में शब्द बोध की असम्भवता की बात है, वह तो स्पष्ट है क्योंकि जब तक श्रोता को यह ज्ञात नहीं कि अमुक-अमुक शब्द में अमुक-अमुक अर्थ प्रकट करने की शक्ति है अर्थात् अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, तब तक उसे 'गामानय' इत्यादि वाक्य से 'गाय ले आओ' इत्यादि अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है? रही इस शक्ति-ज्ञान में अनुमान प्रमाण की सहायता, वह इस प्रकार सिद्ध है। शक्ति-ज्ञान की दृष्टि से सारे मनुष्य दो कोटि में बाँटे जा सकते हैं। जिन्हें शब्दों की शक्ति का ज्ञान है, वे व्युत्पन्न या वृद्ध कहलाते हैं। जिन्हें शब्दों की शक्ति का ज्ञान नहीं है, वे अव्युत्पन्न या कनीयान् कहलाते हैं। यों तो शब्द असंख्य हैं और सब का अर्थ विरले ही जनों को ज्ञात रहता है। इस दृष्टि से विद्वज्जन भी अन्त तक कुछ न कुछ अंश में अव्यत्पन्न रहते ही हैं, अज्ञ प्राकृत जनों की तो बात ही क्या? पर ये दो कोटियाँ सामान्य लोक व्यवहार की दृष्टि से की गई हैं। जिन्हें सामान्य व्यवहार में आने वाले प्रायः सभी शब्दों का अर्थ ज्ञात रहता है, वे व्युत्पन्न ही माने जाते हैं। इस दृष्टि से अज्ञ बालक ही मुख्य रूप से अव्युत्पन्न की कोटि में आते हैं। व्युत्पन्न भी दो प्रकार के हैं—एक वे जो वक्ता हैं अर्थात् शब्दों द्वारा अपने से छोटे व्यवहारज्ञ शिष्य, पुत्र इत्यादि को कार्यों में प्रेरित करते हैं। दूसरे श्रोता अर्थात् वे व्यवहारज्ञ शिष्य, पुत्र इत्यादि जो अपने पिता या आचार्य आदि गुरु-जनों के शब्द सुनकर तदनुसार कार्य में प्रवृत्त होते हैं। पहले प्रकार के व्युत्पन्न पुरुष प्रयोजक या प्रेरक वृद्ध तथा दूसरे प्रकार के व्युत्पन्न पुरुष छोटे होते हुए भी बालकादि अव्युत्पन्न की अपेक्षा वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध होने के कारण प्रयोज्य या आज्ञापालक वृद्ध कहे जाते हैं। जब किसी प्रयोजक वृद्ध ने किसी प्रयोज्य वृद्ध से 'घटमानय' कहा तो प्रयोज्य वृद्ध ने घट लाने की चेष्टा की। इस चेष्टा को देखने वाला समीप-स्थित अव्युत्पन्न बालक सर्व-प्रथम प्रयोज्य वृद्ध की घट-विषयक प्रवृत्ति का अनुमान करता है क्योंकि किसी वस्तु के विषय में प्रवृत्ति होने पर ही चेष्टा होती है। फिर इस प्रवृत्ति से भी उस वस्तु के भूतपूर्व ज्ञान का अनुमान करता है क्योंकि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उसके विषय में प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। फिर वह बालक 'ज्ञान भी उत्पाद्य होता है, अतः उसका भी कोई उत्पादक कारण अवश्य होगा'—ऐसा अनुमान करता है। फिर इस ज्ञान को प्रयोजक वृद्ध द्वारा उच्चारित शब्द-समूह के श्रवण के अनन्तर ही उत्पन्न देखकर यह अनुमान करता है कि 'घटमानय' इन शब्दों

से ही एतद्वस्तु (घट)-विषयक वह ज्ञान हुआ है जिससे उसके विषय में प्रवृत्ति और फिर उसे लाने की चेष्टा हुई है। इस प्रकार उसे पहले सामूहिक शब्द-शक्ति का ज्ञान होता है—'अयं प्रयोजकवृद्धप्रयुक्तः घटमानयेति शब्दसमूहः घटानयनरूपार्थे शक्तः।' फिर 'घटं नय, गामानय' इत्यादि वाक्यों से घट, गो, आनय, नय इत्यादि पदों की क्रमशः अलग-अलग अर्थों को प्रकट करने की शक्ति का ज्ञान होता है। इस प्रकार व्यवहार देखकर अनुमान के द्वारा क्रमशः शक्ति-ज्ञान प्राप्त करके अव्युत्पन्न बालक भी व्युत्पन्न हो जाता है। व्युत्पन्न होने पर ही शब्द-श्रवण से उसे शाब्द ज्ञान होता है।

तच्च स्वतः प्रमाणम् अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति। एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति।

अथ—और यह वाक्यार्थ-ज्ञान, जो अन्य-निरपेक्ष या स्वतन्त्र रूप से प्रमाण होता है, अपौरुषेय[1] वेद-वाक्यों से उत्पन्न होने से भ्रम, प्रमाद आदि समस्त पुरुष-दोषों से रहित होने के कारण युक्त या अबाधित-विषय होता है। इसी प्रकार वेद का आधार लेकर लिखे गये स्मृति, इतिहास और पुराणों के वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान भी युक्त होता है।

विशेष—ऊपर की इन दो पंक्तियों का अर्थ विवादास्पद है। जो अर्थ यहाँ किया गया है, वह श्री स्वामी बालराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी के अनुसार है। यही अर्थ उपयुक्त और उचित जान पड़ा। इसके अनुसार वाक्यार्थ-ज्ञान-स्वरूप 'शब्द' प्रमाण दो प्रकार का होता है। एक वेदवाक्य-जन्य-ज्ञानस्वरूप जो प्रमाणिक या युक्त होने के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही रखता और दूसरा स्मृति-पुराणादि-वाक्य-जन्य-स्वरूप जो वेदादि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखता है। जो लोग इन पंक्तियों को प्रमाण-विशेष ('शब्द') के विषय में स्वतःप्रामाण्य-परक लेते हैं, वे इसका अर्थ भिन्न रूप से करते हैं। डा० गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद इसी भाव का पोषक है। उनके अनुसार इनका अर्थ यह होगा—"यह वाक्यार्थ-ज्ञान-स्वरूप 'शब्द' प्रमाण स्वतः या स्वतन्त्र रूप से प्रमाण है। इसका स्वतः प्रामाण्य या इसकी युक्तता अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होने पर समस्त पुरुष-दोषों से रहित होने के कारण है। इसी प्रकार स्मृति, इतिहास और पुराणादि के वाक्यों से उत्पन्न होने पर इसकी युक्तता वेदमूलक होने के कारण है।' परन्तु यह अर्थ

१—कपिलनये जैमिनीयनये चेश्वरानङ्गीकाराद्वेदस्य पुरुषविशेषेश्वरप्रणीतत्वाभावेनापौरुषेयत्वं ज्ञेयम्। तथा च सूत्रम्—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्॥ सां० अ० ५ सू० ४६॥ विद्वत्तोषिणी।

कई कारणों से कम ठीक लगता है। स्वयं विद्वत्तोषिणीकार ने तीन कारण बताए हैं, वे ये हैं:—(१) यदि इन पंक्तियों में प्रामाण्यवाद का विचार समझते हुए 'तच्च स्वतः प्रमाणम्' को पृथक् वाक्य मानकर अर्थ किया जाय तो दूसरे वाक्य में 'भवति' का कर्ता कौन पद होगा? (२) वाक्यार्थ-ज्ञान ही स्वतः प्रमाण हो, ऐसी बात नहीं; अपितु 'स्वतः प्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्' के अनुसार ज्ञानमात्र ही स्वतःप्रमाण होता है। ऐसी स्थिति में केवल आगम-ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा कथन कदापि उचित नहीं लगता; इतना ही नहीं बल्कि 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः' इस उक्ति के अनुसार तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः होता है। फिर केवल प्रामाण्य के विषय में स्वतस्त्व-कथन सर्वथा असमीचीन है। (३) और फिर वाक्यार्थ-ज्ञान को 'स्वतः प्रमाण' मान लेने पर बुद्ध इत्यादि के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी स्वतः प्रमाण हो जायगा जिसका अप्रामाण्य सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने ही आगेकी 'आप्तग्रहणेनायुक्ताः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनाम् आगमाभासाः परिहृता भवन्ति'—इन पंक्तियों में स्पष्ट कहा है॥

आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीतश्रुतिस्मरणसम्भवः, सुप्तप्रबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः। तथा च आवट्यजैगीषव्यसंवादे भगवान् जैगीषव्यो दशमहाकल्पवर्तिजन्मस्मरणमात्मन उवाच 'दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्तमानेन मया" इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण।

अर्थ—प्रथम ज्ञानी कपिल को पूर्व कल्प में अध्ययन किए गए वेद का इस कल्प के आरम्भ में स्मरण होना सम्भव है, जैसे सो कर उठे हुए पुरुष को पहले दिन जाने गए विषयों का दूसरे दिन स्मरण होता है। जैसा कि आवट्य और जैगीषव्य के संवाद में भगवान् जैगीषव्य ने 'दश महाकल्पों में जन्म-परिणाम अनुभव करते हुए मैंने ....[१]' इत्यादि वचनों द्वारा दश महाकल्पों में होने वाले अपने जन्मों का स्मरण कहा है।

१—एवमनुश्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्म-परिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्। अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु विपरिवर्तमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति। भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महाकल्पेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु विपरिवर्तमानेन यत्किंचिदनुभूतं, तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि॥—योग० ३।१७ के व्यास-भाष्य में उद्धृत।

[उपर्युक्त रीति से पौरुषेय वाक्यों का भी प्रमाण अङ्गीकार कर लेने पर 'आप्त' पद का ग्रहण किस लिए किया गया? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं:—

आप्तग्रहणेनायुक्ताः शाक्यभिक्षु निर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति। अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात्, विच्छिन्नमूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च, कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्वा बोद्धव्यम्।

अर्थ—'आप्त' पद के ग्रहण से बौद्ध भिक्षु,[१] जैन,[२] चार्वाक्[३] आदि अनाप्तों के आपाततः आगम-सदृश प्रतीत होने वाले असत् वचनों का परित्याग या बहिष्कार हो जाता है। इन वचनों की असत्यता इनके परस्पर विरोधी होने, वेदादि-मूलक न होने, प्रमाण-विरुद्ध कथन करने तथा अल्पसंख्यक कुछ ही म्लेच्छादि नीच पुरुषों के द्वारा माने जाने से समझ लेनी चाहिए।

विशेष—ऊपर बौद्ध, जैन आदि के वचनों को आगमाभास कहा गया है। आगमाभास का अर्थ है—आगमवत् आभासन्त इति। अर्थात् जो ऊपर से तो आगम-सदृश लगते हों, पर हों वस्तुतः आगम-विरुद्ध। इनका आगम-सादृश्य इस बात में है कि जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले स्वर्गादि पदार्थोंका ज्ञान वेदशास्त्रादि आगम 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचनों से कराते हैं, वैसे ही बौद्धों और जैनों के आगम-ग्रंथ भी चैत्यवन्दन इत्यादि के द्वारा स्वर्गादि-प्राप्ति की बात कहते हैं परन्तु वेद-शास्त्रादि सत् आगमों में इस प्रकार के कथनों के न प्राप्त होने से इनका आगम विरोध स्पष्ट है। पर बौद्धों और जैनों आदि के ग्रन्थों को अवेदमूलक तथा वेद-विरुद्ध कहने भर से तो इनकी असत्यता या अयुक्तता नहीं सिद्ध हो जाती। इसीलिए पण्डित-प्रकाण्ड सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने दो तीन अन्य कारण भी दिए हैं। परस्पर विरोधी बात कहने वाले के वचन असत्य और अश्रद्धेय ही माने जाएँगे। जैसे बौद्धों में ही जहाँ सौत्रान्तिक और वैभाषिक समस्त पदार्थों की सत्ता ज्ञान से पृथक् मानते हैं, वहाँ योगाचार

१—कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्। सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः॥ (सर्वदर्शनसंग्रहः) इत्युक्तवृत्तिमन्तो बौद्धसंन्यासिनस्ते शाक्याभिक्षव इत्यभिधीयन्ते—बालरामोदासीनाः।

२—वेदादिसद्ग्रन्थेभ्यो निष्क्रान्ता त्रयीबाह्या निर्ग्रन्थका जैनविशेषाः।

३—'संसारमोचकादेश्च हिंसापुण्यत्वसम्भ्यताम् (जैमिनीय (सू० ५, श्लोक ५) इत्यभिहिता हिंसादिपरायणा 'घटभङ्गे तदन्तर्वर्तिसलिलविलयवद्देहभङ्गे तदन्तर्गतजीवभङ्ग एव मोक्ष इत्येवं ब्रुवाणाश्चार्वाकविशेषाः—बालरामः

७

मत वाले उसे ज्ञान-रूप ही मानते हैं (इसी से वे विज्ञानवादी कहे जाते हैं) और माध्यमिक तो ज्ञान-रूप भी नहीं, शून्य-मात्र मानते हैं (इसी लिए शून्यवादी कहे जाते हैं)। एक बुद्ध को मानकर चलने वाले चारों चार विरुद्ध बातें कहते हैं। तब फिर ये बातें अयुक्त नहीं तो और क्या कही जाएँगी। अब कोई यह कह सकता है कि जैसे वेद-शास्त्र इत्यादि में आए हुए विरुद्ध वचनों के विरोध को केवल आपाततः बतलाकर उसका परिहार कर देते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी विरोध का परिहार हो जाएगा। इसलिए इनकी अयुक्तता में इससे प्रबलतर प्रमाण दिया है। यह प्रमाण है—इनका प्रमाण-विरुद्ध बात कहना। जैसे, विज्ञानवादी बौद्ध 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' कहकर घटादि समस्त सत्पदार्थों की क्षणिकता प्रतिपादित करते हैं। परन्तु आज से पूर्व देखे हुए घट को फिर देखने पर प्रत्यभिज्ञा (पूर्वानुभव-जन्य संस्कार) के बल से 'सोऽयं घटः' अर्थात् 'यह वही घट है' ऐसा ज्ञान सब को होता है। इससे स्पष्ट है कि अनुदिन के अनुभव से घट क्षणिक नहीं सिद्ध होता। फिर क्षणिकत्व-कथन तो प्रमाण-विरुद्ध ही हुआ। फिर वह अयुक्त नहीं तो क्या होगा? अन्त में प्रबलतम प्रमाण यह दिया कि इनके क्षणभङ्गवाद और अनात्मवाद आदि सिद्धान्त बहुत कम लोगों को मान्य हैं। जो मत अनुभव की कसौटी पर जितना ही सत्य उतरेगा वह अनुदिन उतना ही सर्व-मान्य होता जाएगा। इसके विपरीत यदि कोई मत अल्पसंख्यक लोगों को ही मान्य है तो निश्चित ही वह मत अयुक्त माना जाएगा और उसके अनुयायी अज्ञ। इस प्रकार इन मतों की अयुक्तता स्पष्ट है।

[कुछ बौद्ध और वैशेषिक 'आगम' प्रमाण नहीं मानते, वे उसका अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं; उसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं :—]

तुशब्देनानुमानाद्व्यवच्छिनत्ति । वाक्यार्थो हि प्रमेयः, न तु तद्धर्मो वाक्यम्, येन तत्र लिङ्गं भवेत्। न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत् सम्बन्धग्रहणमपेक्षते, अभिनवकविरचितस्य वाक्यस्यादृष्टपूर्वस्याननुभूतचरवाक्यार्थबोधकत्वादिति ।

अर्थ—मूल का 'तु' पद आगम प्रमाण को अनुमान से पृथक् करता है। वाक्यार्थ प्रमेय होता है और वाक्य (उस अर्थ को जानने का साधन होता है) उसका धर्म नहीं होता जिससे उसका लिङ्ग हो सके। (जैसे अग्नि के अनुमान में लिङ्ग बनने वाला धूम उसका धर्म होता है। धर्म और धर्मी में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है और धर्म या लिङ्ग द्वारा धर्मी का अनुमान होने के पूर्व इस व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध या व्याप्ति का ज्ञान आवश्यक एवं अनिवार्य

है)। और फिर अपने अर्थ का ज्ञान कराता हुआ वाक्य अपने और अपने अर्थ के बीच के सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता (केवल अमुक-अमुक शब्द अमुक-अमुक अर्थ प्रकट करने में शक्त हैं'—इसी 'शक्ति' नामक पद-पदार्थ सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है), क्योंकि अभिनव कवि द्वारा रचित पहले कभी न सुना गया वाक्य सर्वथा नूतन अर्थ का ज्ञान कराता हुआ पाया जाता है। (इससे स्पष्ट है कि इन दोनों का सम्बन्ध पहले कभी गृहीत नहीं हुआ जिससे कि वाक्य से होने वाले वाक्यार्थ ज्ञान को अनुमान प्रमाण से होने वाली अनुमिति कहा जा सके) ॥

एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु तद्विशेषलक्षणेषु च सत्सु यानि प्रमाणान्तराण्युपमानादीनि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तान्युक्तलक्षणेष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भवन्ति।

तथा हि—उपमानं तावत् 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यम्, तज्जनिता धीरागम एव।

अर्थ—इस प्रकार सामान्य प्रमाण और उसके इन विशिष्ट भेदों के लक्षण हो जाने पर अवशिष्ट उपमान इत्यादि जो अन्य प्रमाण मीमांसक इत्यादि को अभिमत हैं, वे इन्हीं के अन्तर्भूत होंगे। जैसे 'गाय' के सदृश ही गवय होता है'—यह वाक्य उपमान प्रमाण है। इससे उत्पन्न ज्ञान (वाक्य-जन्य होने के कारण) आगम प्रमाण ही है, (क्योंकि पूर्व में आप्तवाक्य-जन्य ज्ञान ही को आगम प्रमाण कहा है)।

विशेष—ऊपर उपमान प्रमाण की जो परिभाषा दी गई है, वह न्यायशास्त्र के कर्ता गौतम के "प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" सूत्र के अनुसार है। इसका अर्थ यह है कि प्रसिद्ध या ज्ञात गो आदि पदार्थ के साथ सादृश्य का कथन करके साध्य अर्थात् अप्रसिद्ध गवय इत्यादि पदार्थ का बोध जिस वाक्य के द्वारा कराया जाता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। इसके अनुसार 'गो-सदृशो गवयः' यह वाक्य ही उपमान प्रमाण है। परन्तु वार्तिककार की "समाख्या-सम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः" पंक्ति के अनुयायी नैयायिक उपर्युक्त वाक्य को अतिदेश वाक्य कहते हैं, उपमान प्रमाण नहीं। इसका अर्थ यह है कि समाख्या या शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् 'यह पदार्थ या पिण्ड इस पद का वाच्य है'—यह ज्ञान उपमान का फल है। जैसे किसी आरण्यक से 'गोसदृशो गवयः'—यह वाक्य सुनकर वन में जाकर गो-सदृश पिण्ड देखने पर 'गोसदृशो गवयः' वाक्य को स्मरण करते हुए नागरिक को पहले 'गोसदृशश्चायं पिण्डः' यह

ज्ञान और फिर 'अतोऽयं गोसदृशः पिण्डः गवयशब्दवाच्यः' ऐसा ज्ञान होता है। वार्तिककार की उपर्युक्त पंक्ति के अनुसार दूसरा ज्ञान उपमान का फल या उपमिति है। अतः स्पष्ट है कि नागरिक के इस उपमिति-ज्ञान का साधनभूत 'गोसदृशश्चायं पिण्डः' अर्थात् 'यह अदृष्टपूर्व पिंण्ड गोसदृश है'—यह ज्ञान ही उपमान प्रमाण है। इस मत के अनुसार 'गोसदृशो गवयः' यह वाक्य अतिदेश वाक्य है, उपमान नहीं।

वार्तिकमतानुयायी कहेंगे कि 'अयं गोसदृशः पिंडः गवयशब्दवाच्यः' या दूसरे शब्दों में "अयं गवयशब्दो गोसदृशस्य पिंडस्य वाचकः" इस प्रत्यय या उपमिति-ज्ञान के लिये उपमान प्रमाण, अर्थात् 'गोसदृशश्चायं पिण्डः' ऐसा ज्ञान अलग से मानना ही पड़ेगा। इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

योऽप्ययं 'गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः'इति प्रत्ययः,सोऽप्यनुमानमेव। यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते, सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य। प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे, इति तस्यैव वाचक इति तत् ज्ञानमनुमानमेव।

अर्थ—"गवय शब्द गो-सदृश पिंड का वाचक है"—यह प्रतीति या ज्ञान भी अनुमान[1] ही का फल है। (वह इस प्रकार है—) गवय शब्द गो-सदृश पिंड का वाचक है (प्रतिज्ञा); क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषों के द्वारा जो शब्द जिस पदार्थ या वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है, वह अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि अन्य वृत्ति के न होने पर उसी का वाचक होता है (हेतु); जैसे गो शब्द गोत्व का (उदाहरण); और गवय शब्द गो-सदृश पिण्ड के लिए प्रयुक्त होता है (उपनय); इसलिये गवय शब्द गो-सदृश पिंड का ही वाचक है (निगमन)। इस प्रकार यह ज्ञान तो अनुमान-ज्ञान ही है।

[शबर मुनि ने अपने पूर्वमीमांसा-भाष्य में उपमान प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार दी है:—'उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टार्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य[2]।' इसका अर्थ न्यायरत्नाकरकार ने इस प्रकार किया है:—'यत्सादृश्यं दृश्यमानसन्निकृष्टार्थे बुद्धिमुत्पादयति तदुपमानं प्रमेयबुद्धिजनकमेव। सादृश्यमिन्द्रियप्रत्यक्षमुपमानं यथा गवयदर्शनं सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनं गोस्मरणस्य जनकम् इति भाष्यार्थः'। अर्थात् अप्रत्यक्ष

१—अत्र 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानरूपोपमानफलस्यानुमानेनैव निष्पन्नत्वान्न तदर्थं पृथगुपमानं मानान्तरमुपेयमिति भावः'—इति विद्वत्तो०

२—गवयनिष्ठं गोसादृश्यज्ञानमुपमानं, गोनिष्ठं च गवयसादृश्यज्ञानमुपमानफलमिति हि मीमांसकाभिमतम्—विद्वत्तोषिणीकाराः।

पदार्थ की प्रतीत कराने वाला प्रत्यक्ष-दृष्ट सादृश्य 'उपमान' प्रमाण कहलाता है; जैसे अप्रत्यक्ष गाय का 'अनेन सदृशी मदीया गौः' अर्थात् इस गवय के सदृश मेरी गाय है—ऐसा स्मरण-ज्ञान कराने वाला गो-सदृश गवय का प्रत्यक्ष। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जब गाय से पूर्ण परिचित कोई ग्रामीण वन में जाने पर गवय को प्रत्यक्ष देखता है और उस गवय में विद्यमान गो-सादृश्य के प्रत्यक्ष से उसे 'इस गवय के सदृश मेरी गाय है' ऐसा स्मरण होता है, तब गाय के स्मरण के साथ ही गो-निष्ठ गवय-सादृश्य का ज्ञान पूर्व मीमांसकों के अनुसार उपमान का फल या उपमिति है और प्रत्यक्ष-भूत गवय में रहने वाले गो-सादृश्य का ज्ञान जो इसका कारण है, उपमान है। इस मत की अयुक्तता बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—]

यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव। अतएव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम्। नत्वन्यद् गवि सादृश्यम् अन्यच्च गवये। भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते। सामान्ययोगश्चैकः। स चेद् गवये प्रत्यक्षः गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यत्र प्रमाणान्तरमुपमानं भवेत्, इति न प्रमाणान्तरमुपमानम्।

अर्थ—गवय का प्रत्यक्ष होने पर उसमें रहने वाले गो-सादृश्य का 'यह गो-सदृश है'—यह ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है, उपमिति नहीं; (क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रिय-विशेष से वस्तु-विशेष का प्रत्यक्ष होने पर उसी के द्वारा उसके सामान्य का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी प्रकार उसी इन्द्रिय के द्वारा तद्गत सादृश्य का भी प्रत्यक्ष हो जायगा। ऐसा क्यों होता है, इसे स्वयं कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में उपमान-परिच्छेद के ३५ वें श्लोक द्वारा स्पष्ट किया है:—

सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते ॥

अर्थात् जैसे सामान्य अपने व्यक्तियों में से प्रत्येक में सम्पूर्ण रूप से रहता है, उसी तरह दो वस्तुओं में रहने वाला सादृश्य भी दोनों में पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण रूप से रहता है, संयोग की तरह दोनों में स्थित नहीं रहता। हाथ और वृक्ष का संयोग केवल हाथ में या केवल वृक्ष में नहीं देखा जा सकता। पर सादृश्य के विषय में ऐसी बात नहीं है। इसीलिये गवय-स्थित सादृश्य गो पिंड के अप्रत्यक्ष रहने पर भी गवय के प्रत्यक्ष होते ही सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है)। और इस सादृश्य के प्रत्यक्ष होने के कारण ही होने वाले गो-स्मरण से उत्पन्न गो-निष्ठ गवय-सादृश्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष-ज्ञान ही है, उपमिति नहीं। इसका कारण यह

है कि गो-गत गवय-सादृश्य गवय-गत गो-सादृश्य से भिन्न है, ऐसी बात नहीं क्योंकि दूसरी जाति में प्राप्त खुर, लाङ्गूल इत्यादि अनेक अवयवों की समानता[1] या तुल्यता ही अन्य जाति में सादृश्य कहलाती है और यह समानता एक है इसलिये यदि वह गवय में प्रत्यक्ष है तो 'गो' में भी प्रत्यक्ष होगी। इस प्रकार उपमान का कोई पृथक् विषय ही नहीं रह जाता जिसमें उपमान पृथक् प्रमाण बने। इस लिये उपमान कोई पृथक् प्रमाण नहीं है।

एवमर्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम्। तथा हि जीवतश्चैत्रस्य गृहाभाव-दर्शनेन बहिर्भावस्याऽदृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानाम्। साप्य-नुमानमेव। यदा खल्वव्यापकः सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति। यदाऽ व्यापक एकत्रास्ति तदाऽयत्र नास्ति, इति सुकरः स्वशरीरे व्याप्तिग्रहः। तथा च सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानमेव।

अर्थ—इसी प्रकार अर्थापत्ति भी पृथक् प्रमाण नहीं है। जैसे जीवित चैत्र के घर में न दीख पड़ने पर उसके अप्रत्यक्ष बहिर्भाव की कल्पना को ही पूर्व मीमांसकों ने अर्थापत्ति प्रमाण माना है परन्तु यह अर्थापत्ति भी अनुमान ही है, क्योंकि जब कोई एकदेशीय सत् पदार्थ किसी एक जगह पर नहीं रहता तो अन्यत्र अवश्य रहता है और यदि उस जगह पर रहता है तो अन्यत्र नहीं रहता'—ऐसी व्याप्ति अपने शरीर के ही दृष्टान्त से सरलता-पूर्वक समझी जा सकती है। और इस प्रकार 'चूँकि जीवित चैत्र घर में नहीं दीख पड़ता, इस कारण (लिंग) से वह बाहर होगा'—ऐसा अनुमान होता है।

विशेष—यद्यपि सत् वस्तु के किसी एक जगह में न होने से ही उसकी अव्यापकता स्पष्ट है, अतः 'यदाखल्वव्यापकः सन्' इत्यादि पंक्ति में 'अव्यापकः' अनपेक्षित है, तथापि सर्वत्र ऐसा ही पाठ प्राप्त होने से यहाँ भी उसी का ग्रहण किया गया है। अनपेक्षित होने के कारण ही श्री बालराम उदासीन ने 'अव्यापक' शब्द को छोड़ दिया है। "यदा खल्वव्यापकः इति पाठः सर्वत्रो-पलभ्यमानोऽपि तात्पर्यटीकानुरोधादसम्बद्धत्वाच्चात्रोपेक्षित इति ज्ञेयम्"—उनकी इस टिप्पणी से यह बात स्पष्ट है। "यद्भावे यद्भावः इत्यन्वयो, यदभावे यद-भावः इति च व्यतिरेकः'—इस नियम के अनुसार 'यदा सतः एकत्र (गृहे)

१—यद्यपि विद्वत्तोषिणीकारैः सुषमाकारैश्चोभयैरेव भूयोवयवसामान्ययोग इति पदं भूयसामवयवानां यानि सामान्यानि खुरलाङ्गूलत्वादीनि तेषां योगः सम्बन्ध इति व्याख्यातम्। एवं च सामान्यस्य जातिरेवार्थः कृतस्तथापि समानानां भावः सामान्यं समानता तुल्यता, तद्योगस्तत्सम्बन्ध : इत्येवार्थः कृतोऽस्माभिः सारल्यादुपयुक्ततरत्वाच्च।

अभावः अस्ति तदा अन्यत्र (बहिः) भावः स्याद्'—ऐसी अन्वय - व्याप्ति होने पर 'यदा सतः अन्यत्र (बहिः) अभावः अस्ति, तदा एकत्र (गृहे) भावः स्याद्'—ऐसी व्यतिरेक-व्याप्ति होनी चाहिये थी। ऐसा होने पर व्यतिरेक-व्याप्ति में भी 'अव्यापक' पद अनपेक्षित हो जाता क्योंकि तब फिर यहाँ भी सत् वस्तु के बाहर होने से उसकी अव्यापकता स्वतः स्पष्ट हो जाती। अथवा यदि यह कहा जाय कि स्पष्टता के लिये 'अव्यापक' का ग्रहण यहाँ आवश्यक है तो उसी कारण वहाँ भी है। परन्तु 'यदा एकत्रास्ति तदा अन्यत्र नास्ति' में क्रम विपरीत कर देने से 'अव्यापक' का ग्रहण आवश्यक इसलिये हो गया कि 'जो वस्तु एकत्र है, वह अन्यत्र नहीं होगी'—ऐसा तभी कह सकते हैं जब वह भाव-वस्तु अव्यापक होगी। व्यापक होने पर ऐसा कथन अयुक्त है क्योंकि व्यापक वस्तु एकत्र रहते हुए भी अन्यत्र सर्वत्र होगी, जैसे ब्रह्म। इसीलिये मूल में आई हुई अन्वय-व्याप्ति से बनने वाली व्यतिरेक-व्याप्ति का ठीक स्वरूप दिखाने के लिये ही विद्वत्तोषिणी में श्री बालराम ने 'तथा च यत्रान्यत्र बहिर्नास्ति तथा एकत्र गृहेऽस्तीत्येवं योजनयाऽत्र व्यतिरेक-व्याप्तिर्ज्ञेया।' ऐसा लिखा है।

न च चैत्रस्य क्वचित्सत्त्वेन गृहाभावः शक्योऽपह्नोतुम्, येनाऽसिद्धो गृहाभावो बहिर्भावे न हेतुः स्यात्। न च गृहाभावेन वा सत्त्वमपह्नूयते, येन सत्त्वमेवाऽनुपपद्यमानमात्मानं न बहिरवस्थापयेत्।

अर्थ—यह कहना ठीक नहीं कि चैत्र के कहीं बाहर होने के कारण उसका घर में न होना ही असिद्ध है। इसलिए चैत्र के बाहर होने के अनुमान में लिङ्ग बनने वाला उसका गृहाभाव उसमें हेतु ही न होगा क्योंकि चैत्र के न होने से प्रत्यक्ष-सिद्ध 'उसका घर में न होना' अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और न घर में उसके अभाव के कारण उसका होना ही स्वीकार किया जा सकता है, जिससे यह कहा जा सके कि जब चैत्र का होना (सत्त्व) ही असिद्ध है तो उसका बाहर रहना कैसे सिद्ध हो सकता है? [तात्पर्य यह है कि गृहाभाव-रूप हेतु न तो स्वरूपासिद्ध ही है कि असिद्ध हेत्वाभास कहा जा सके और न उसके हेतु से सिद्ध किए जाने वाले बहिर्भाव-रूप साध्य का अभाव ही प्रमाणान्तर से निश्चित है, जिससे वह बाधितविषय हेत्वाभास हो।]

[सत्त्व और असत्त्व का विरोध सर्वलोक-प्रसिद्ध होने के कारण ऊपर के कथन-मात्र से गृहासत्त्व और बहिरसत्त्व के विरोध का परिहार नहीं किया जा

सकता। अतः दोनों का पारस्परिक अविरोध प्रतिपादित करते हुए कहते हैं:—]

तथा हि—चैत्रस्य गृहासत्त्वेन सत्त्वमात्रं विरुध्यते, गृहसत्त्वं वा। न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोधो गृहासत्त्वेन, भिन्नविषयत्वात्। देशसामान्येन गृहविशेषाक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानविषयतया विरोध इति चेत् न प्रमाणविनिश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगात्। नाऽपि प्रमाणविनिश्चितो गृहाभावः पाक्षिकमस्य गृहसत्त्वं प्रतिक्षिपन् सत्त्वमपि प्रतिक्षेप्तुं सांशयिकत्वं च व्यपनेतुमर्हतीति युक्तम्। गृहावच्छिन्नेन चैत्राभावेन गृहसत्त्वं विरुद्ध्यते, न तु सत्त्वमात्रम्, तस्य तत्रौदासीन्यात्। तस्माद् गृहाभावेन लिङ्गेन सिद्धेन सतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम्।

अर्थः—'चैत्र घर में नही है' इस कथन से उसके 'जहाँ कहीं होने' (सत्त्व-सामान्य) का विरोध होता है या केवल 'घर में होने' का? वस्तुतः 'घर में न होने' के साथ 'जहाँ कही होने' का विरोध नहीं है ('घर में होने' का ही विरोध है) क्योंकि 'घर में न होने' और 'जहाँ कहीं होने' के विषय क्रमशः घर और बाह्य प्रदेश होने के कारण भिन्न-भिन्न हैं। "जीवित चैत्र कहीं है"—इस आप्त वाक्य से स्थान-सामान्य की प्राप्ति होने पर स्थान-विशेष (गृह) के भी उसके अन्तर्गत होने के कारण पक्षतः (परोक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से) उस (गृह) की भी प्राप्ति होती है [अर्थात् 'जीवित चैत्र कहीं है'—इस कथन से 'वह घर में भी हो सकता है' ऐसी बुद्धि होती है]। इसलिए दोनों का एक ही विषय होने के कारण परस्पर विरोध है, ऐसा कहना युक्त नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध 'घर में नहीं है'—यह बुद्धि पक्षतः प्राप्त हुई 'घर में हो सकता है'—इस सन्देहात्मक बुद्धि से दूर नहीं हो सकती। न यही कहना युक्त है कि चैत्र का प्रमाण-प्राप्त गृहाभाव अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुए उसके गृह-भाव को दूर करता हुआ उसके भाव-मात्र और गृह-भाव की सन्दिग्धता को भी दूर करने में समर्थ है। गृह-मात्र में मर्यादित चैत्र का अभाव विरोध होने के कारण उसके गृहान्तर्गत भाव का ही निराकरण करता है, उसके भाव-मात्र का नहीं; क्योंकि चैत्र के गृहाभाव का उसके भाव-मात्र के साथ कोई विरोध नहीं है। इसलिए सिद्ध हुए गृहाभाव-रूप लिङ्ग के द्वारा जीवित चैत्र के बहिर्भाव का अनुमान होता है—यह कथन युक्त है।

एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषय इति निरस्तम्, अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात्। उदाहरण-

न्तराणि चार्थापत्तेरेवमेवानुमानेऽन्तर्भावनीयानि । तस्मान्नानुमानात्प्रमाणान्तरमर्थापत्तिरिति सिद्धम् ।

अर्थ—इसी से कुछ लोगों के इस कथन का भी निराकरण हो गया कि 'प्रत्यक्ष और आगम प्रमाणों द्वारा प्राप्त हुए (चैत्र के गृहाभाव तथा बहिर्भाव के) ज्ञान में विरोध होने पर विषय की व्यवस्था (जैसे चैत्र का गृहाभाव प्रत्यक्ष का और बहिर्भाव आगम प्रमाण का विषय है) करके विरोध का परिहार करना अर्थापत्ति का विषय है', क्योंकि वस्तुतः विशिष्ट (गृहाभाव) और सामान्य (बहिर्भाव) में कोई विरोध है ही नहीं ।

अर्थापत्ति के अन्य उदाहरणों का भी इसी प्रकार अनुमान के अन्तर्गत समावेश कर लेना चाहिए । इसलिए अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है ।

एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव । न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम । प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः, ऋते चितिशक्तेः । स च परिणामभेद ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धो विषयो यत्राभावाह्वयं प्रमाणान्तरमभ्युपेयेतेति ।

अर्थ—इसी प्रकार अभाव भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, उससे भिन्न नहीं । घट का अभाव भूतल के घटरहितत्व-रूप[1] परिणाम-विशेष से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि एक चिति शक्ति को छोड़कर शेष सभी पदार्थों का प्रतिक्षण परिणाम (धर्मान्तरोत्पाद) होता है । और यह घटरहितत्व-रूप भूतल का परिणाम-विशेष इन्द्रिय-ग्राह्य (प्रत्यक्ष) ही है । इसलिए प्रत्यक्ष का विषय न बनने वाला 'अभाव' नामक ऐसा कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं जिसके ज्ञान के लिए 'अभाव' नामक पृथक् प्रमाण माना जाय ।

विशेष—सांख्य और योग में मुख्य रूप से निर्गुण चित् अर्थात् पुरुष और त्रिगुणात्मक अचित् अर्थात् प्रकृति-ये दो ही तत्त्व माने गए हैं । इनमें पुरुष निर्गुण

१—कैवल्यं भावान्तरासंसृष्टत्वरूपं सद्वितीयत्वरूपधर्मापेक्षया धर्मान्तरं तदेव लक्षण-स्वरूपं यस्य तत् कैवल्यलक्षणं तस्मादिति—विद्वत्तोषिणीकाराः ।

अत्र कैवल्यं घटसत्त्वरूपापादनेनापत्तियोग्यघटोपलम्भकत्वरूपम् ।...परे तु कैवल्यं घट-रहितत्वं तल्लक्षणात् तत्स्वरूपादित्यर्थमाहुः। केचित्तु कैवल्यं भावान्तरसंसृष्टत्वरूपं सद्वितीयत्वरूपधर्मापेक्षया धर्मान्तरं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तस्मादित्यर्थः इति वदन्ति ।तत्तु भूतले घटसत्त्वे भूतलस्य भावान्तरासंसृष्टत्वाभावेन घटाभावरूपत्वस्यासम्भवापत्त्योपेक्षितमिति—

सुषमाकारः

होने के कारण अपरिणामी है परन्तु प्रकृति गुणात्मक होने के कारण सदा परिणामिनी है क्योंकि गुण स्वभावतः प्रति क्षण परिणामी हैं। इसीलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही परिणाम होने के कारण जगत् के सभी पदार्थ परिणामी होते हैं। 'परिणाम' की परिभाषा व्यासदेव ने योग-भाष्य में इस प्रकार की है—'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः'। अर्थात् द्रव्य के रहते हुए उसके पूर्व धर्म की निवृत्ति हो जाने पर दूसरे अर्थात् अभिनव धर्म की उत्पत्ति को परिणाम कहते हैं। सांख्य अभाव को अधिकरण या आश्रय रूप ही मानता है, वैशेषिक की भाँति कोई भिन्न पदार्थ नहीं। इस प्रकार भूतल में रहने वाला घटाभाव घट की भाँति भूतल का परिणाम-विशेष ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ घट भूतल से भिन्न आकार का है, वहाँ घटाभाव उसके आकार का अर्थात् उससे अभिन्न ही है। इसी को सांख्य-योग की पारिभाषिक पदावली में क्रमशः 'सद्वितीय-धर्म' परिणाम एवं 'अद्वितीय-धर्म परिणाम कहते हैं क्योंकि भूतल में विद्यमान होने पर घट उसका दूसरा धर्म है पर घटाभाव हो जाने पर खाली भूतल रह जाने से वह घटाभाव भूतल से अद्वितीय या अभिन्न ही है, भूतल का उससे भिन्न कोई धर्म नहीं। इस प्रकार घटाभाव के भूतल से पृथक् न होकर तद्रूप ही होने के कारण भूतल के साथ चक्षुरिन्द्रिय के जिस सन्निकर्ष से उसका प्रत्यक्ष होता है, उसी सन्निकर्ष से उसमें स्थित घट के अभाव का भी प्रत्यक्ष होगा, किसी भिन्न सन्निकर्ष की आवश्यकता न होगी। अभाव को भिन्न पदार्थ मानने के कारण ही उसके प्रत्यक्ष में न्याय-वैशेषिक को संयोग के अतिरिक्त विशेषण-विशेष्यभाव नामक एक अभिनव सन्निकर्ष मानना पड़ता है। अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय मानते हुए भी सांख्य का न्याय-वैशेषिक से यही भेद है। इसी प्रकार जगत् के सभी भावों को बौद्धों के समान प्रति क्षण परिणामी मानता हुआ भी सांख्य-योग उन क्षणभङ्गवादियों की भाँति उन-उन भावों का प्रति क्षण विनाश नहीं मानता जैसा कि परिणाम की व्यासदेव-कृत परिभाषा में आए हुए 'अवस्थितस्य' पद से स्पष्ट ज्ञात होता है। सांख्यों का वैनाशिक बौद्धों से यह महान् मत-भेद है। इस सांख्य-मत की सत्यता एवं तदाधारित श्रेष्ठता इसी से स्पष्ट है कि सुवर्ण-पिण्ड में उत्पन्न होने वाले कटक, कुण्डल आदि भिन्न धर्म उस पिण्ड के विद्यमान रहते हुए ही उसमें अन्वित होकर उत्पन्न होते हैं। यह प्रतीति तो सर्वानुभव-सिद्ध है।

सम्भवस्तु यथा खार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः, स चानुमानमेव। खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतं खार्यां द्रोणादिसत्त्वमवगमयति ॥

अर्थ—'खारी' में द्रोण; आढक,प्रस्थ इत्यादि अल्प परिमाण (तौल) सम्भव (विद्यमान) हैं—यह ज्ञान करने वाला 'सम्भव' नामक जो पृथक् प्रमाण (पौराणिकों को मान्य) है, वह भी अनुमान ही है; क्योंकि द्रोण इत्यादि के बिना न होने वाली अर्थात् उनसे व्याप्त 'खारी' अपने में द्रोण, आढक इत्यादि अल्प परिणाम की सत्ता का अनुमान कराती है (जैसे अग्नि से व्याप्त धूम व्यापक अग्नि की सत्ता का अनुमान कराता है)।

यच्चानिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपरम्परामात्रम्—'इति होचुर्वृद्धाः'-इत्यैतिह्यम्, यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति, न तत् प्रमाणान्तरम्, अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्। आप्तवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम एव। इत्युपपन्नं "त्रिविधं प्रमाणम्" इति।

अर्थ—'इस वृक्ष पर यक्ष रहता है' 'ऐसा वृद्ध जन कहते हैं, इत्यादि प्रकार की परम्परागत जनश्रुति जो (ऐतिहासिकों के लिए) ऐतिह्य प्रमाण है, वह तो मूल वक्ता का कोई पता न होने से प्रमाण है ही नहीं; क्योंकि वक्ता के ज्ञात न होने के कारण यह 'ऐतिह्य' सन्दिग्ध रहता है (और सन्दिग्ध ज्ञान कभी प्रमाण नहीं होता)। यदि यह निश्चित रूप से ज्ञात हो कि इसका वक्ता कोई आप्त पुरुष है, तब तो यह आगम प्रमाण ही है। इस प्रकार 'तीन ही प्रमाण हैं,' यह सिद्ध है ॥५॥

एवं तावद् व्यक्ताव्यक्तज्ञलक्षणप्रमेयसिद्ध्यर्थं प्रमाणानि लक्षितानि। तत्र व्यक्तं पृथिव्यादि स्वरूपतः पांसुलपादो हालिकोऽपि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पूर्ववता चाऽनुमानेन धूमादिदर्शनात् वह्न्यादीनि चेति, तद्व्युत्पादनाय मन्दप्रयोजनं शास्त्रमिति दुरधिगममनेन व्युत्पाद्यम्। तत्र यत्प्रमाणं यत्र शक्तं, तदुक्तलक्षणेभ्यः प्रमाणेभ्यो निष्कृष्य दर्शयति।

अर्थ—इस प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और चेतन पुरुष—इन प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों के लक्षण किए गए। उनमें पृथ्वी इत्यादि व्यक्त को धूल-धूसरित हल चलाने वाला भी प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् रूप में जानता है, और धूमादि के दर्शन से(व्यवहित या अदृश्य) अग्नि इत्यादि को भी वह पूर्ववत् नामक अनुमान प्रमाण के द्वारा सहज ही जानता है। इसलिए इन प्रकार के प्रमेयों का ज्ञान कराने लिए प्रवृत्त होने वाले शास्त्र का कुछ बहुत प्रयोजन या महत्त्व नहीं होगा। अतः (अव्यक्त इत्यादि) दुर्बोध प्रमेयों का ही ज्ञान इसका प्रयोजन होना चाहिए। अब ऊपर कहे गए प्रमाणों में से जो प्रमाण जिस प्रमेय को सिद्ध करने में समर्थ है, उसे विभक्त करके स्पष्टतया बतलाते हैं:—

सामान्यतस्तु दृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ।।६।।

अर्थ—अतीन्द्रिय या परोक्ष पदार्थ 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान से सिद्ध होते हैं और उससे भी असिद्ध परोक्ष पदार्थ आगम प्रमाण से सिद्ध होते हैं।

"सामान्यतः" इति। 'तु' शब्दः प्रत्यक्षपूर्ववद्भ्यां विशिनष्टि। सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः, चितिच्छायापत्तेर्बुद्धेरध्यवसायादित्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्, शेषवत् इत्यपि द्रष्टव्यम्।

अर्थ—'तु' शब्द सामान्यतोदृष्ट अनुमान को प्रत्यक्ष और पूर्ववत् अनुमान से पृथक् करता है। बुद्धि-कृत अध्यवसाय के विशिष्ट प्रकार 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान से प्रधान, पुरुष इत्यादि परोक्ष तत्त्वों का ज्ञान होता है। बुद्धि का यह अध्यवसाय या ज्ञान-रूप व्यापार चित् या पुरुष के साथ तादात्म्य-प्राप्ति है। यहाँ 'सामान्यतोदृष्ट' का कथन दिग्दर्शन-मात्र के लिए है। अतः प्रत्यक्ष-रूप से कथित न होने पर भी 'शेषवत्' का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

विशेष—(1) विद्वत्तोषिणीकार को छोड़कर प्रायः अन्य सभी व्याख्याकारों ने 'चितिच्छायापत्तेर्बुद्धेरध्यवसायात्' के स्थान में चितिच्छायापत्तिर्बुद्धेर-ध्यवसायः' पाठ मानकर उसे 'प्रतीतिः' का व्याख्यान माना है। पर ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि अनुमान से होने वाली अनुमिति-रूप प्रमा बुद्धि का व्यवसाय कैसे हो सकती है ? क्योंकि जैसा पहले पञ्चम कारिका के व्याख्यान के अवसर पर कह चुके हैं, बुद्धि का व्यवसाय या ज्ञान-रूप व्यापार ही तो प्रमाण है; चाहे वह प्रत्यक्ष प्रमाण हो अथवा अनुमान या आगम। और प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि प्रमा प्रमाणभूत उस बुद्धि-व्यवसाय से उत्पन्न होने वाली पौरुषेय प्रतीति ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में ऊपर दिए गए अर्थ के अनुसार यह पंक्ति अनुमान प्रमाण होने वाले अध्यवसाय का ही व्याख्यान है, ऐसा समझना चाहिए। विद्वत्तोषिणी में यह बात इस प्रकार स्पष्ट की गई है:—'अध्यवसायात् इति। लिङ्गज्ञानजन्यबौद्धबोधात्मकादनुमानादित्यर्थः। प्रतीतिः पौरुषेयबोधात्मकफलरूपानुमितिरित्यर्थः।' सच तो यह है कि यह पाठ ही निर्मूल एवं अयुक्त लगता है, इसीलिए उदासीन जी ने इसे कोष्ठ में रक्खा है। टिप्पणी में उन्होंने लिखा है:—'( ) एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः

कथञ्चिद्योजितोऽपि न स्वान्तं रञ्जयति, न च प्रतीतेर्विवरणमिदमिति भ्रमितव्यं प्रतीतेरनुमितिरूपायाः पौरुषेयत्वेन बुद्ध्यध्यवसायत्वाभावात् ; टिप्पणादापतितो वायं पाठः।'

(ii) चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ ने प्रस्तुत कारिका का व्याख्यान अन्य प्रकार से किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'सर्वसामान्य (इन्द्रियग्राह्य) विषयों का ज्ञान 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से, प्रकृति इत्यादि अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से, तथा इससे भी न ज्ञात होने वाले स्वर्ग के साधन-भूत यागादि विषयों का ज्ञान आगम या शब्द प्रमाण से होता है।'—(द्रष्टव्य सां० का० ६ पर नारायणकृत चन्द्रिका)। इस अर्थ को असत् ठहराते हुए पं० वंशीधर मिश्र ने अपने सांख्यतत्त्वविभाकर में इस प्रकार लिखा है—'यत्तु सामान्यतः इति षष्ठ्यन्तात्तसिः, तथा चेन्द्रियोग्यस्य सर्वस्यापेक्षितस्यानपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेव' इति, तन्न; क्लिष्टकल्पनापत्तेः, पूर्ववद्व्यावृत्त्यर्थमनुमानपदस्य सामान्यतोदृष्टानुमानपरत्वकल्पनापत्तेश्च, शास्त्रस्य मन्दप्रयोजनतापत्तेश्च, पूर्ववदनुमानस्य विषयाप्रदर्शनेन न्यूनतापत्तेश्च ॥' (पृ० १८३)

तत्किं सर्वेषु अतीन्द्रियेषु सामान्यतोदृष्टमेव प्रवर्तते ? तथा च यत्र तन्नास्ति, महदाद्यारम्भक्रमे स्वर्गापूर्वदेवतादौ च, तत्र तेषामभावः प्राप्त इत्यत आह—"तस्मादपि" इति। तस्मादपीत्येतावतैव सिद्धे चकारेण शेषवत इत्यपि समुच्चितम् ॥६॥

अर्थ—तो क्या सभी अतीन्द्रिय विषयों में समान्यतोदृष्ट की ही प्रवृत्ति होती है ? वैसा मानने पर तो महत् आदि तत्त्वों के आरम्भ-क्रम, स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि जिन विषयों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, उनका तो अभाव मानना होगा। इसीलिए मूल में कहा—उससे भी असिद्ध अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि आगम से होती है। 'तस्मादपि' पद से ही विवक्षित की सिद्धि हो जाने पर 'च' का प्रयोग 'शेषवत्' अनुमान का भी समुच्चय करने के लिए किया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

स्यादेतत्, यथा गगनकुसुमकूर्मरोमशशविषाणादिषु प्रत्यक्षमप्रवर्तमानं तदभावमवगमयति, एवं प्रधानादिष्वपि। तत्कथं तेषां सामान्यतोदृष्टादिभ्यः सिद्धिः ? इत्यत आह—

अर्थ—पर यह भी तो हो सकता है कि जैसे आकाश के फूल, कछुए के रोम तथा खरगोश की सींग आदि के विषय में प्रवृत्त न होता हुआ प्रत्यक्ष उनका अभाव सूचित करता है, उसी प्रकार वह प्रकृति आदि के विषय में भी

प्रवृत्त न होने के कारण उसका भी अभाव सूचित करता है। तब सामान्यतोदृष्ट आदि से उनकी सिद्धि कैसे कही जा सकती है? इसी के उत्तर में कहते हैं—

अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ॥
सौक्ष्म्याद् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥

अर्थ—अत्यधिक दूर अथवा समीप होने से, इन्द्रियों के नाश या चित्त की अस्थिरता से, सूक्ष्म होने से, बीच में किसी रुकावट के आ जाने से, आक्रान्त (तिरस्कृत) हो जाने से और सदृश वस्तु में मिल जाने इत्यादि से (भी) वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता।

"अतिदूरात्" इति। अनुपलब्धिरिति वक्ष्यमाणं (का० ८) सिंहावलोकनन्यायेनानुषञ्जनीयम्। यथा उत्पतन् वियति पतत्री अतिदूरतया सन्नपि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते। सामीप्यादित्यत्राप्यतिरनुवर्तनीयः। यथा लोचनस्थमञ्जनमतिसामीप्यान्न दृश्यते। इन्द्रियघातोऽन्धत्वबधिरत्वादिः। मनोऽनवस्थानात्—यथा कामाद्युपहतमनाः स्फीतालोकमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमप्यर्थं न पश्यति। सौक्ष्म्यात्—यथेन्द्रियसन्निकृष्टं परमाण्वादि प्रणिहितमना अपि न पश्यति। व्यवधानात्—यथा कुड्यादिव्यवहितं राजदारादिकं न पश्यति। अभिभवात्—यथाऽहनि सौरीभिर्भाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमण्डलं न पश्यति। समानाभिहारात्—यथा तोयदविमुक्तानुदबिन्दून् जलाशये न पश्यति।

अर्थ—अगली कारिका में आये हुए 'अनुपलब्धि' पद का सिंहावलोकन-न्याय से यहाँ भी अन्वय होना चाहिये। आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अत्यधिक दूर होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता। 'सामीप्यात्' पद के साथ भी 'अति' को जोड़ना चाहिये; जैसे आँख का अञ्जन अत्यधिक समीप होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता। इन्द्रियों का घात अर्थात् अपने-अपने कार्य करने की शक्ति का नाश जैसे अन्धा या बहरा होना। मन की अस्थिरता या विक्षिप्तता के कारण; जैसे काम-वासना इत्यादि से विक्षिप्त चित्त वाला पुरुष स्पष्ट प्रकाश में पड़े हुए इन्द्रिय-गोचर पदार्थ को भी नहीं देखता। सूक्ष्मता के कारण—जैसे स्थिर चित्त वाला पुरुष भी इन्द्रिय-सम्बद्ध परमाणु इत्यादि को नहीं देखता। आड़ के कारण—जैसे दीवार इत्यादि की आड़ में छिपी हुई राज-महिषियों को कोई नहीं देख पाता। आक्रान्त या तिरस्कृत होने के कारण—जैसे दिन में सूर्य

के प्रकाश से आक्रान्त या दबे हुए ग्रह और नक्षत्रों को कोई नहीं देख पाता। सदृश वस्तु के साथ मिश्रित हो जाने से—जैसे सरोवर में बादलों से गिरे हुए जल-बिन्दुओं को कोई नहीं देख पाता।

चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेनानुद्भवोऽपि संगृहीतः। तद्यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्याद्यनुद्भवान्न पश्यति।

अर्थ—मूलकारिका में आया हुआ 'च' न कहे गए कारणों का भी संग्रह करने के लिए है। इससे 'प्रकट न होना' भी कारणों के अन्दर आ गया—जैसे दूध इत्यादि की अवस्था में प्रकट न हुआ दही इत्यादि भी नहीं दिखाई पड़ता।

एतदुक्तं भवति। न प्रत्यक्षनिवृत्तिमात्राद्वस्त्वभावो भवति, अतिप्रसङ्गात्। तथा हि—गृहाद्विनिर्गतो गृहजनमपश्यंस्तदभावं विनिश्चिनुयात्, न त्वेवम्। अपितु योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेरयमभावं विनिश्चिनोति। न च प्रधानपुरुषादीनामस्ति प्रत्यक्षयोग्यता, इति न तन्निवृत्तिमात्रात्तदभावनिश्चयो युक्तः प्रामाणिकानामिति ॥७॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष का विषय न होने भर से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता क्योंकि ऐसा होने से अतिप्रसङ्ग दोष आ जाएगा। जैसे घर से बाहर गए हुए पुरुष को घर के व्यक्ति के न दिखाई पड़ने पर उसके अभाव का निश्चय हो जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता, अपितु प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु के प्रत्यक्ष न होने पर ही उसके अभाव का उसे निश्चय होता है। प्रकृति, पुरुष इत्यदि प्रत्यक्ष-योग्य नहीं हैं, इसलिए प्रत्यक्ष का विषय न होने से ही उसके अभाव का निश्चय कर लेना प्रामाणिक पुरुषों को उचित नहीं ॥७॥

कतमत्पुनरेतेषु कारणं प्रधानादीनामनुपलब्धौ? इत्यत आह—

अर्थ—अच्छा, प्रकृति इत्यादि के प्रत्यक्ष न होने में इनमें से कौन सा कारण है? इसके उत्तर में कहते हैं:—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धेः ॥
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥८॥

अर्थ—सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति, पुरुष इत्यादि का प्रत्यक्ष नहीं होता अभाव के कारण नहीं; क्योंकि उसके कार्यों से उसकी प्राप्ति होती है। ये कार्य महत्तत्त्व इत्यादि हैं जो प्रकृति के समान भी हैं और उससे विलक्षण भी हैं।

"सौक्ष्म्यादिति"। अथाभावादेव सप्तमरसवदेतेषामनुपलब्धिः कस्मान्न भवति? इत्यत आह—"नाभावात्" इति। कुतः? "कार्यतस्तदुपलब्धेः"

'तत्' इति प्रधानं परामृशति । पुरुषोपलब्धौ तु प्रमाणं वक्ष्यति, 'सङ्घात-परार्थत्वात्' (का० १७) इति ।

अर्थ—जैसे अभाव के कारण (खाद्यों में) सातवें रस का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार इन प्रकृति, पुरुष इत्यादि तत्त्वों का भी अभाव होने के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते ? इसके उत्तर में कहते हैः—अभाव के कारण ऐसा नहीं है । क्यों ? क्योंकि कार्यों से उसका ज्ञान होता है । 'तत्' पद प्रकृति के लिए आया है । पुरुष के ज्ञान में प्रवृत्त होने वाला प्रमाण आगे १७वीं कारिका में बताएँगे ।

विशेष—यद्यपि पुरुष का ज्ञान भी अनुमान से ही होता है और यह अनुमान १७ वीं कारिका में दिया गया है; पर यह उस अनुमान से भिन्न है जिससे प्रकृति का ज्ञान होता है । मूल कारण होने से प्रकृति के महत् तत्त्व आदि विकार उसके अनुमान में लिङ्ग होते हैं परन्तु अकर्ता और अकारण होने से पुरुष का कोई विकार है ही नहीं जो उसके अनुमान में लिङ्ग बने । इसी कारण प्रकृति का अनुमान उसके कार्यों से होता है, पुरुष का अन्य हेतुओं से ।

दृढतरप्रमाणावधारिते हि प्रत्यक्षमप्रवर्तमानमयोग्यत्वान्न प्रवर्तते इति कल्प्यते । सप्तमस्तु रसो न प्रमाणेनावधारित इति न तत्र प्रत्यक्ष-स्यायोग्यता शक्याऽध्यवसितुमित्यभिप्रायः ।

अर्थ—(अनुमानादि) अत्यन्त प्रबल प्रमाण के द्वारा निश्चित पदार्थ का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता तो यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष उसमें अयोग्य या असमर्थ है । परन्तु सातवाँ रस तो किसी प्रमाण से निश्चित होता नहीं । इसलिए उसके विषय में प्रत्यक्ष की असमर्थता नहीं मानी जा सकती, यह कारिकाकार का अभिप्राय है ।

किं पुनस्तत्कार्यं यतः प्रधानानुमानम् ? इत्यत आह—"महदादि तच्च कार्यम्" इति । एतच्च यथा गमकं तथोपरिष्टादुपपादयिष्यते । तस्य च कार्यस्य विवेकज्ञानोपयोगिनी सारूप्यवैरूप्ये आह—"प्रकृतिसरूपं विरूपं च" इति । एते तूपरिष्टाद्विभजनीये इति ।।८।।

अर्थ—अच्छा वे कौन से कार्य हैं जिनसे प्रकृति का अनुमान होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'वे कार्य महत् तत्त्व आदि हैं' । ये महत् आदि कार्य जिस प्रकार प्रकृति के अनुमापक हैं, इसका आगे (१४ तथा १५ कारिकाओं में)

विवेचन होगा। इन कार्यों के साधर्म्य और वैधर्म्य विवेक-ज्ञान में उपयोगी हैं। इसलिए उन्हें कहते हैं :—इनमें कुछ कार्य प्रकृति के सदृश और कुछ उससे भिन्न या विलक्षण होते हैं। इनका विवेचन (१० तथा ११ कारिकाओं में) आगे होगा ॥६॥

कार्यात् कारणमात्रं गम्यते। सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः। तथा हि केचिदाहुः—'असतः सत् जायते' इति। 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं, न वस्तु सत्' इत्यपरे। अन्ये तु 'सतः असत् जायते' इति। 'सतः सत् जायते' इति वृद्धाः।

अर्थ—किसी कार्य को देखने से केवल इतना ही अनुमान होता है कि उसका कोई कारण अवश्य होगा, परन्तु उस कारण के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। (अतः 'अमुक कार्य का अमुक ही कारण है'—इस प्रकार किसी कार्य से उसके कारण-विशेष का निश्चित रूप से अनुमान नहीं हो पाता)। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि असत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न होता है। दूसरे लोग कहते हैं कि समस्त कार्य एक ही [ब्रह्मरूप] सत् के कल्पित या अतात्त्विक परिणाम हैं, तात्त्विक या वास्तविक नहीं। कुछ और लोग कहते हैं कि सत् कारण से असत् कार्य उत्पन्न होता है। वृद्धों (सयानों) का कहना है कि सत् कारण से सत् ही कार्य उत्पन्न होता है।

विशेष—पहला मत शून्यवादी बौद्धों का है, जिनका कहना है कि कारण वस्तु से कार्य वस्तु तभी उत्पन्न होती है जब कारण वस्तु असत् अर्थात् विनष्ट हो जाती है। जब तक वह वस्तु सत् अर्थात् विद्यमान रहती है, तब तक कोई कार्य वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं। बीज से अंकुर तभी उत्पन्न होता है जब कि बीज नष्ट हो जाता है। मृत्पिण्ड से घट तभी निकलता है, जब कि मृत्पिण्ड नष्ट हो जाता है। इससे अनुमान होता है कि कारण के नष्ट हो जाने पर ही कार्य उत्पन्न हो पाता है। दूसरा मत अद्वैत-वेदान्तियों का है जिनके अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, शेष जगत्-रूप सभी कुछ अज्ञान-वश उसमें उसी प्रकार आरोपित या कल्पित है, जैसे शुक्ति में रजत अथवा रज्जु-खण्ड में सर्प। जैसे शुक्ति और रज्जु का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें रजत और सर्प की पूर्व प्रतीति मिथ्या या भ्रमात्मक लगती है, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान के द्वारा माया का बन्धन अथवा आवरण हट जाने पर तत्त्व 'ब्रह्म' में ज्ञानावस्था के पूर्व प्रतीत होने वाला समस्त जगत् नहीं प्रतीत होता। तीसरा मत न्याय-वैशेषिक का है। इसके अनुसार

९

परमाणु आदि में पूर्वतः अविद्यमान द्व्यणुक इत्यादि अभिनव कार्य उत्पन्न होते हैं। चौथा मत सांख्यों का है जिनके लिए सांख्य दर्शन के ग्रन्थ में वृद्ध (सज्ञान या सयान) शब्द का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक ही है। इनके अनुसार 'सत्' कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, और वह कार्य भी सत् ही उत्पन्न होता है। अर्थात् कारणों में उसके व्यापार के पूर्व अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान कार्य ही कारण-व्यापार के पश्चात् अभिव्यक्त-रूप में उत्पन्न होता है, जैसे प्रकृति से उत्पन्न होने वाले महत्, अहङ्कार आदि तत्त्व उसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं अथवा दुग्ध से उत्पन्न होने वाला दधि कारण-व्यापार के पूर्व भी दुग्ध में अनभिव्यक्त-रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार इस मत में कारण से कार्य की उत्पत्ति अव्यक्त वस्तु की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

तत्र पूर्वस्मिन् कल्पत्रये प्रधानं न सिध्यति। सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकं[१] हि जगत् कारणस्य प्रधानत्वं सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वमवगमयति।

यदि पुनरसतः सञ्जायेत, असत् निरुपाख्यं[२] कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात्? सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः।

अथैकस्य सतो विवर्तः शब्दादिप्रपञ्चः, तथापि सतः सञ्जायेत इति न स्यात। न चास्याद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपि त्वप्रपञ्चस्य प्रपञ्चात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव।

येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत एव कारणादसतो जन्म, तेषामपि सदसतोरेकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणमिति न तन्मते-प्रधानसिद्धिः।

अर्थ—इनमें से प्रथम तीन पक्षों में यह सिद्ध नहीं होता कि जगत् का कारण 'प्रधान'[३] अर्थात् सत्त्वरजस्तमोरूप है। सांख्यमत में तो जगत् रूप कार्य से

१—सुखदुःखमोहस्वरूपा ये भेदविशेषास्ते विद्यन्ते यत्र तत्सुखदुःखमोहभेदवत्, तादृशं यत्स्वरूप तेन रूपेण परिणामो येषां ते, एवम्भूताः शब्दादय एव आत्मा स्वरूपं यस्य तत्तादृशं जगत्। —विद्वत्तोषिणीकाराः

२—उपाख्या उपाख्यानम् 'इदमेतादृगि'ति वर्णनं, ततो निष्क्रान्तं निरुपाख्यम् अलक्षणत्वेन निःस्वभावत्वेन चेदन्तया वक्तुमशक्यमित्यर्थः। —विद्वत्तोषिणीकाराः।

३—'प्र' प्रकर्षेण वैषम्यावस्थापरिहारेण धीयन्ते निधीयन्ते विद्यन्ते सत्त्वादिगुणाः यस्मिंस्तत्प्रधानं सत्त्वरजस्तमोरूपम्—विद्वत्तोषिणीकाराः।

कारण के 'प्रधान' अर्थात् त्रिगुणात्मक (सत्वरजस्तमोरूप) होने का अवश्यमेव अनुमान होता है क्योंकि जगत् वस्तुतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के स्वरूप का ही है और ये शब्द,स्पर्श इत्यादि सर्वदा सुख,दुःख या मोह को उत्पन्न करने के कारण सत्वरजस्तमोरूप या त्रिगुणात्मक ही होते हैं (और सांख्यों के सत्यकार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य में अभेद होने से 'जिस प्रकार का कार्य है, उसी प्रकार का कारण भी होगा' यह अनुमान हो जाएगा)। परन्तु यदि 'असत् से सत् की उत्पत्ति होती है'—यह बौद्ध सिद्धान्त मान लिया जाय तो 'असत् एवं धर्म-शून्य कारण सुख, दुःख इत्यादि उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श आदि कार्यों के रूप का होगा अर्थात् सत्वरजस्तमोरूप प्रधान होगा'— यह कैसे कहा जा सकता है क्योंकि सत् और असत् में अभेद असम्भव है। वेदान्त के अनुसार शब्दादि प्रपञ्च को एक ही सत्—ब्रह्म का विवर्त (अतात्त्विक परिणाम) अर्थात् उसमें किया गया अध्यारोप मान लेने पर भी उक्त मत में सत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह अद्वय सत्ता—ब्रह्म प्रपञ्चात्मक नहीं है अपितु (अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् इत्यादि श्रुति के कथनानुसार) इस प्रपञ्च-विहीन ब्रह्म की प्रपञ्चात्मक प्रतीति भ्रम ही है।

[इस प्रकार इस मत में भी शब्दादि प्रपञ्च के मिथ्यात्मक होने एवं सत्कार्यवाद के अमान्य होने से यह नहीं कहा जा सकता कि 'कारण' त्रिगुणात्मक प्रधान ही है।] जो कणाद और गौतम आदि सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, उनके भी मत में सत् और असत् में अभेद असम्भव होने से कारण शब्द इत्यादि कार्य के स्वरूप का नहीं हो सकता। अतः उनके भी मत में 'प्रधान' रूप से कारण की सिद्धि नहीं होती।

अतः प्रधानसिद्धयर्थं प्रथमं तावत्सत्कार्यं प्रतिजानीते।

अर्थ—इसलिए प्रधान की सिद्धि के लिए कारिकाकार सर्वप्रथम सत्कार्यवाद की प्रतिज्ञा करते हैं:—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥९॥

अर्थ—कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य (कारण में) विद्यमान रहता है क्योंकि (१) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती (२) (कार्य की उत्पत्ति के लिए) उसके उपादान कारण का ग्रहण अवश्य करना

पड़ता है' अर्थात् कार्य अपने उपादन कारण से नियत-रूप से सम्बद्ध होता है, (३) सभी कार्य सभी कारण से उत्पन्न नहीं होते, (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है; और (५) कार्य कारणात्मक अर्थात् कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता है।

"असदकरणात्" इति। "सत् कार्यम्" कारणव्यापारात् प्रागपीति शेषः। तथा च न सिद्धसाधनं नैयायिकतनयैरुद्भावनीयम्।

अर्थ—कारिका के अन्त में आए हुए 'कार्य सत् है'—इन शब्दों में 'कारणव्यापार के पूर्व भी'—इन शब्दों को जोड़ देना चाहिए। इस प्रकार से नैयायिक हमारे मत को 'सिद्धसाधन' का दोष नहीं दे सकते।

विशेष—दूसरों के द्वारा मानी गई बात को असिद्ध समझ कर फिर से सिद्ध करना सिद्ध-साधन दोष माना जाता है। 'कार्य सत् है'—केवल इतना ही प्रतिपाद्य विषय होने पर सांख्य में सिद्ध-साधन दोष हो सकता है, क्योंकि सांख्य की ही भाँति न्याय भी कार्य को सत् ही मानता है। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि जहाँ न्याय की दृष्टि में कारण-व्यापार हो चुकने पर ही कार्य सत् होता है और उसके पूर्व कार्य असत् रहता है, वहाँ सांख्य मत में 'कारण-व्यापार के पूर्व भी' कार्य कारण में अव्यक्त रूप से रहता है जो कि कारण-व्यापार के हो चुकने पर व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार 'कारण व्यापार के पूर्व भी'—ये शब्द जुड़ जाने से दोनों मतों में महान् अन्तर हो जाता है, और फिर नैयायिक सांख्य को यह दोष नहीं दे सकते कि सांख्य तो हमारे द्वारा मानी गई बात को ही फिर से सिद्ध करने की मूर्खता कर रहा है।

यद्यपि बीजमृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तरमङ्कुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते, तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपितु भावस्यैव बीजाद्यवयवस्य। अभावात्तु भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्योत्पाद-प्रसङ्ग इत्यादि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः प्रतिपादितम्।

अर्थ—यद्यपि बीज और मृत्तिका-पिण्ड इत्यादि के नष्ट हो जाने पर ही उनसे क्रमशः अङ्कुर और घट इत्यादि उत्पन्न होते पाए जाते हैं; तथापि अङ्कुर आदि की उत्पत्ति का कारण बीज इत्यादि का विनाश या अभाव नहीं, अपितु उनके भाव-रूप अवयव ही हैं; क्योंकि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानेंगे तो अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सभी कार्यों के उत्पन्न होने का दोष आ जायगा। इसे हमने अपनी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में स्पष्ट किया है।

विशेष — 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका' में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने लिखा है :—"नह्यनन्वयविनष्टयोः शालियवबीजयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति येनैकस्माच्छाल्यङ्कुरो, नान्यस्मात्"। 'भामती' में यह बात और भी स्पष्ट ढंग से कही गई है। वह इस प्रकार है:—'यद्येनानन्वितं, न तत्तस्य विकारो यथा घटशरावोदञ्चनादयो हेम्नाऽनन्विता न हेमविकारा, अनन्विताश्चैते विकारा अभावेन, तस्मान्नाभावविकाराः, भावविकारास्तु ते, भावस्य तेनाऽनन्वितत्वात्'। इन पंक्तियों का तात्पर्य यह है कि जो जिससे सम्बद्ध होता है, वह उसी का परिणाम या कार्य होता है और जिससे सम्बद्ध नहीं होता, उसका कदापि कार्य नहीं होता। जैसे मृत्पिण्ड से सम्बद्ध घट, शराव (सकोरा) आदि मृत्पिण्ड के ही कार्य होंगे, सुवर्ण-पिण्ड से अन्वित या सम्बद्ध न होने के कारण सुवर्ण के कार्य नहीं होंगे। अभाव से तो कभी कोई वस्तु सम्बद्ध होती ही नहीं, इसीलिए उसका कभी कोई कार्य भी नहीं होता। इस प्रकार किसी भी कार्य को उत्पन्न करने की दृष्टि से सारे अभाव समान रूप से व्यर्थ हैं। धान का पौधा न धान के बीज के अभाव से सम्बद्ध दीख पड़ता है और न उससे भिन्न जौ आदि के बीज के अभाव से सम्बद्ध। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि धान का पौधा धान के बीज के अभाव से ही निकलेगा, जौ के बीज के अभाव से नहीं। इससे स्पष्ट है कि अभाव से नहीं, अपितु भाव से ही उत्पत्ति होती है। अतः वैनाशिक बौद्धों का अभाव (शून्य) से भाव या असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

[अब अत्यन्त संक्षेप में मायावादी अद्वैत वेदान्त के विवर्तवाद का खण्डन करते हुए टीकाकार कहते हैं :—]

प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम् इति।

अर्थ—शब्दादि-प्रपञ्चात्मक जगत् की प्रतीति मिथ्या है—यह बात उस प्रतीति में बिना कोई बाधक उपस्थित हुए कैसे कही जा सकती है?

विशेष—जैसे सीपी में रजत या रस्सी के टुकड़े में सर्प की प्रतीति का उनके अनन्तर होने वाली 'यह रजत (चाँदी) नहीं, केवल सीपी है' या 'यह सर्प नहीं, केवल रस्सी का टुकड़ा है' इत्यादि प्रतीति (ज्ञान) से बाध होने पर उनका मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म में विद्यमान जगत् की प्रतीति का कोई बाधक दीख पड़ने पर ही उसे मिथ्या कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। आचार्य वाचस्पति के कहने का तात्पर्य यह लगता है कि मायावादियों का विवर्त या मिथ्या प्रतीति का सिद्धान्त ठीक नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है क्योंकि

आचार्य वाचस्पति स्वयं भी वस्तुतः अद्वैत वेदान्त या मायावाद के ही पोषक या अनुयायी हैं। यहाँ सांख्यशास्त्र के टीकाकार होने के नाते उन पर सत्कार्यवाद की रक्षा का भार है। अतएव जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित करने के लिए आवश्यक जागतिक प्रतीति के बाधक प्रमाणों को न उपस्थित करके इतना ही कहकर उन्होंने बात छोड़ दी कि जगत की प्रतीति का बाध करने वाली प्रतीति के बिना 'जगत् मिथ्या है, ब्रह्म का विवर्त-मात्र है'—यह कैसे कहा जाय ? वस्तुतः उनके मत में इस प्रतीति के बाधक अनेक प्रमाण हैं। इससे जगत मिथ्या ही है—ब्रह्म में अध्यारोपमात्र है, अन्य कुछ नहीं

कणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते। तत्रेदं प्रतिज्ञातम्, "सत् कार्यम्" इति। अत्र हेतुमाह "असदकरणात्" इति। असत् चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यम्, नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यम्। न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। 'सदसत्त्वे घटस्य धर्मौ' इति चेत्, तथापि असति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्त्वं तदवस्थमेव, तथा च नासत्त्वम्। असम्बद्धेनातदात्मना चासत्त्वेन कथमसन् घटः ? तस्मात् कारण-व्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति।

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त दो मतों का निराकरण हो जाने पर न्याय-वैशेषिक मत बच रहा जिसका खंडन करने के लिये ही कारिकाकार कहते हैं—'कार्यं सत्'; और इस कथन के समर्थन में सर्वप्रथम हेतु देते हैं:—असद-करणात्। अर्थात् यदि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य असत् होता तो उसे कोई भी सत् नहीं बना सकता था। नीला रंग (जिसमें पीला रंग नहीं है) हजारों कुशल कारीगरों से भी पीला नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि [जैसे एक ही घट कच्चा रहने पर नीला और पक जाने पर लाल होने के कारण अवस्था-भेद से दो विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनता है, उसी प्रकार] एक ही घट कारण-व्यापार के पूर्व असत् और कारण-व्यापार के अनन्तर सत् हो सकता है, तो यह युक्ति युक्त नहीं लगती क्योंकि उस समय धर्मी 'घट' के अविद्यमान रहने पर 'असत्त्व' धर्म उसमें आधेय-रूप से कैसे रहेगा और आधेय धर्म तो आधार-भूत धर्मी में ही रहता है। इसलिए कारण-व्यापार से पूर्व भी घट सत् हीं रहता है, असत् नहीं। जिस 'असत्त्व' का न तो धर्मी 'घट' से कोई सम्बन्ध ही है और न वह तद्रूप ही है, उसके आधार पर घट असत् कैसे कहा जा सकता है ? इसलिये जैसे कारण-व्यापार के अनन्तर कार्य सत् होता है, वैसे ही उसके पूर्व भी।

विशेष—मूल में 'असम्बद्ध' पद न्याय-मत को दृष्टि में रखकर तथा 'अतदात्मना' पद सांख्य-मत को दृष्टि में रखकर कहा गया है। न्याय-मत के अनुयायी 'नीलं कमलम्' अर्थात् 'कमल नीला है' इत्यादि वाक्य में धर्मी 'कमल' में नील वर्ण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय मानकर आश्रयाश्रयिभाव से दोनों की प्रतीति मानते हैं। सांख्य-मत के अनुयायी धर्म तथा धर्मी में अभेद मानने के कारण गुण या धर्म की गुणी या धर्मी के रूप से अर्थात् दोनों की तादात्म्य-रूप से प्रतीति मानते हैं।

दी गई युक्ति का अभिप्राय यह है कि जब 'असत्त्व' धर्म धर्मी 'घट' में समवाय आदि सम्बन्ध से भी नहीं है और तद्रूप भी नहीं है, तब घट को असत् कैसे कह सकते हैं। जैसे 'नील' कमलम्' का अर्थ या तो 'नील गुण का आश्रय कमल' या 'नील गुण से अभिन्न कमल' है, उसी प्रकार 'असन् घटः' का अर्थ भी या तो 'असत्त्व धर्म का आश्रय घट' या 'असत्त्व धर्म से अभिन्न घट' है। पहला अर्थ तो इसलिए उपपन्न या घटित नहीं होता कि जब तक कमल के समान घट को विद्यमान नहीं मानते, तब तक 'असत्त्व' धर्म को समवाय सम्बन्ध से घट में आश्रित या विद्यमान कैसे कहेंगे? दूसरा अर्थ भी इसलिए उपपन्न नहीं होता कि 'असत्' अभाव का तथा 'घट' भाव का द्योतक है और भाव तथा अभाव में तादात्म्य तो स्पष्ट ही असम्भव है। अतः 'असन् घटः'—यह वाक्य ही निरर्थक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कारण-व्यापार के बाद की ही तरह उसके पहले भी कार्य सत् रहता है।

कारणाच्चास्य सतोऽभिव्यक्तिरेवावशिष्यते। सतश्चाभिव्यक्ति-रुपपन्ना। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानाम्, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः करणे तु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति। न खल्वभिव्यज्यमानं चोत्पद्यमानं वा कचिदसत् दृष्टम्।

अर्थ—इस प्रकार सत् कार्य का कारण से केवल अभिव्यक्त होना भर बाकी (शेष) रहता है, और सत् की अभिव्यक्ति तो अनुभव-सिद्ध है। जैसे तिलों के पेरे जाने से उनमें पहले से ही अनभिव्यक्त-रूप से विद्यमान तेल, धान के कूटे जाने से उनमें पूर्वतः स्थित चावल, एवं गायों के दुहने से उनमें अदृश्य-रूप से विद्यमान दूध अभिव्यक्त अथवा प्रकट हो जाता है। परन्तु असत् वस्तु के उत्पन्न होने में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। वस्तुतः असत् वस्तु कभी प्रकट या उत्पन्न होती हुई नहीं देखी गई।

इतश्च कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यम्—"उपादानग्रहणात्" उपादानानि—कारणानि; तेषां ग्रहणं—कार्येण सम्बन्धः। उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धादिति यावत्।

एतदुक्तं भवति—कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवति, तस्मादिति।

अर्थ—कारण-व्यापार होने के पहले से ही कार्य के विद्यमान होने का एक हेतु यह भी है कि कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध रहता है। 'उपादान' का अर्थ है—कारण और उसके 'ग्रहण' का अर्थ है—कार्य के साथ उसका सम्बन्ध। इस प्रकार 'उपादान-ग्रहण' का अर्थ है—कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध। तात्पर्य यह है कि कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है और यदि कार्य पूर्वतः असत् है तो उसका कारण के साथ सम्बन्ध असम्भव है। इसलिये वह कारण-व्यापार से पूर्व भी अवश्य ही सत् होगा। [इस उक्ति से यह अनुमान सूचित होता है कि 'उत्पत्ति' के पूर्व कार्य अपने कारण से सम्बद्ध रहता है क्योंकि उससे उत्पन्न होता है और जो कार्य जिससे सम्बद्ध नहीं होता, वह उससे नहीं उत्पन्न होगा, जैसे मिट्टी से पट इत्यादि सम्बद्ध न होने के कारण उससे नहीं पैदा होते—उसके कार्य नहीं होते।]

स्यादेतत्—असम्बद्धमेव कारणैः कार्यं कस्मान्न जन्यते? तथा चासदेवोत्पत्स्यत इत्यत आह—"सर्वसम्भवाभावात्" इति। असम्बद्धस्य जन्यत्वे असम्बद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद्भवेत्। न चैतदस्ति। तस्मान्नासम्बद्धमसम्बद्धेन जन्यते, अपि तु सम्बद्धं सम्बद्धेन जन्यत इति। यथाहुः सांख्यवृद्धाः—

"असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥" इति।

अर्थ—यह ठीक भी हो तो भी कारण से असम्बद्ध ही कार्य को क्यों नहीं उत्पन्न मानते और ऐसा मान लेने पर यह सिद्ध हो जायगा कि असत् ही कार्य उत्पन्न होता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'सभी कार्यों की सभी कारणों से उत्पत्ति न होने के कारण' उक्त शङ्का निर्मूल है। तात्पर्य यह है कि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर असम्बद्धता के सर्वत्र समान रूप से प्राप्त होने के कारण सभी कार्य सभी कारणों से अनियन्त्रित रूप से उत्पन्न होने लगेंगे; परन्तु बात ऐसी नहीं है। अतः असम्बद्ध कार्य असम्बद्ध कारण से नहीं

उत्पन्न होता, अपितु सम्बद्ध कार्य ही सम्बद्ध कारण से उत्पन्न होता है; जैसा सांख्याचार्यों ने कहा है—'उत्पत्ति के पूर्व कार्य को असत् मानने पर सत् कारण के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता और कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर 'अमुक कारण से ही अमुक कार्य की उत्पत्ति होती है'—ऐसी व्यवस्था न रहेगी (अर्थात् सभी प्रकार के कारणों से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होने लगेगी और इस प्रकार बड़ी अव्यवस्था हो जायगी—मिट्टी से कपड़ा, जल से घड़ा और ईख से नमक आदि पैदा होने लगेंगे)।

स्यादेतत्—असम्बद्धमपि सत् तदेव करोति यत्र यत्कारणं शक्तं, शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते। तेन नाव्यवस्थेत्यत आह—"शक्तस्य शक्यकरणात्" इति सा। शक्तिः शक्तकारणाश्रया सर्वत्र वा स्यात्, शक्ये एव वा? सर्वत्र चेत्, तदवस्थैवाव्यवस्था। शक्ये चेत्कथमसति शक्ये तत्र इति वक्तव्यम्। शक्तिभेद एव एतादृशो यतः किञ्चिदेव कार्यं जनयेत् न सर्वमिति चेत्, हन्त भोः! शक्तिविशेषः कार्यसम्बद्धो वाऽसम्बद्धो वा? सम्बद्धत्वे नाऽसता सम्बन्ध इति सत् कार्यम्। असम्बद्धत्वे सैवाव्यवस्था, इति सुष्ठूक्तं "शक्तस्य शक्यकरणात्" इति।

अर्थ—यह ठीक भी हो तो भी कार्य से असम्बद्ध भी सत् कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है जिसमें उसकी शक्ति या सामर्थ्य है, (सभी कार्य को नहीं); और कारण की कार्य-विशेष कोउत्पन्न करने की यह शक्ति या क्षमता अतीन्द्रिय या अगोचर होने के कारण उस कार्य-विशेष को देखकर अनुमान[1] की जाती है। एवं इसीलिए कारण और कार्य के परस्पर असम्बद्ध होने पर भी किसी भी कारण से किसी भी कार्य के होने की अव्यवस्था नहीं होगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि—'शक्तस्य शक्यकरणात्' अर्थात् जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में शक्त या समर्थ है, उस शक्त कारण से उसी शक्य अर्थात् उत्पाद्य कार्य के उत्पन्न होने से कारण और कार्य परस्पर असम्बद्ध नहीं हो सकते और असम्बद्ध न होने पर कार्य का सत् होना अनिवार्य है। प्रश्न यह है कि शक्त

१—जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है, उस कारण में उस कार्य-विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति है—जैसे मिट्टी से घट तथा तन्तुओं से वस्त्र को उत्पन्न होते देखकर यह अनुमान होता है कि मिट्टी की उत्पादक शक्ति घट ही में है, वस्त्रादि में नहीं, तन्तुओं की उत्पादक शक्ति वस्त्र में है, घटादि में नहीं।

१०

कारण में वर्तमान उक्त शक्ति सभी कार्यों के विषय में प्रसृत होती है या केवल उसके द्वारा उत्पाद्य कार्य-विशेष के ही विषय में। यदि सभी कार्यों के विषय में हो, तब तो उपर्युक्त अव्यवस्था ज्यों की त्यों ही बनी रही और यदि उत्पाद्य कार्य-विशेष के ही विषय में हो तो उसके अविद्यमान होने पर 'उस (कार्य) के विषय में ही कारण-शक्ति प्रसृत होती है'—यह कैसे कह सकते हैं ? यदि यह कहा जाय कि कारण-शक्ति ही इस प्रकार की होती है कि वह कार्य-विशेष को ही उत्पन्न करती है, सभी कार्यों को नहीं, तो प्रश्न यह है कि यह विशिष्ट शक्ति कार्य-विशेष से सम्बद्ध है या नहीं ? यदि सम्बद्ध है तो असत् कार्य से कैसे सम्बद्ध होगी ? इसलिए कार्य सत् होगा। यदि नहीं सम्बद्ध है तो उपर्युक्त अव्यवस्था ही बनी रहेगी। इसलिए कारिकाकार ने कार्य को सत् सिद्ध करने के लिए जो 'शक्तस्य शक्यकरणात्' कहा, वह सर्वथा ठीक ही है।

इतश्च सत् कार्यमित्याह—"कारणभावाच्च", कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। न हि कारणाद्भिन्नं कार्यम्, कारणं च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद्भवेत् ?

अर्थ—कार्य इसलिए भी उत्पत्ति के पहले सत् सिद्ध होता है कि वह कारण-रूप ही होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता और कारण तो सत् है। तब उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे होगा ?

कार्यस्य कारणाभेदसाधनानि च प्रमाणानि—

न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्; इह यद्यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति, यथा गौरश्वस्य। धर्मश्च पटस्तन्तूनां, तस्मान्नार्थान्तरम्।

अर्थ—कार्य का कारण से अभेद या अपृथक्त्व सिद्ध करने वाले प्रमाण ये हैं :—पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं की अवस्था-विशेष है, (अत एव उस में समवेत है)। दृष्ट जागतिक पदार्थों में जो जिससे भिन्न होता है, वह उसकी अवस्था-विशेष (धर्म) नहीं होता, (इसलिए वह उसमें नहीं रहता); जैसे गाय घोड़े से भिन्न होने के कारण उसकी अवस्था-विशेष नहीं है, (और इसी कारण से तन्तुओं में पट की भाँति उस घोड़े में समवेत नहीं है)। पट तो तन्तुओं में समवेत होने से उसका धर्म है, अतएव उससे भिन्न नहीं है।

उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः, ययोरर्थान्तरत्व न तयोरुपादानोपादेयभावः, यथा घटपटयोः। उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः, तस्मान्नार्थान्तरत्वम्।

अर्थ—तन्तु और पट में इसलिए भी भेद नहीं है कि बिना उपकरण-भूत तन्तुओं का ग्रहण किए पट की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। जो भी दो पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं, उनमें इस प्रकार उपादानोपादेय-भाव होता ही नहीं; जैसे घट और पट में। तन्तु और पट में उपादानोपादेय-भाव है, इसलिए दोनों में भेद नहीं है।

इतश्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः—संयोगाप्राप्त्यभावात्। अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः, अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययोः। न चेह संयोगाप्राप्ती, तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति।

अर्थ—तन्तु और पट में परस्पर संयोग या विभाग (विप्रकृष्टत्व) का अभाव होने से भी दोनों में भेद नहीं है। एक वस्तु के दूसरी से भिन्न होने पर परस्पर संयोग सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे पात्र और बेर फलों का; अथवा परस्पर विभाग देखा जाता है, जैसे हिमालय और विन्ध्य का। तन्तु और पट में संयोग और विभाग दोनों ही का अभाव होने से अभेद ही सिद्ध होता है।

इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्। इह यद्यस्माद्भिन्नं, तस्मात् तस्य गुरुत्वान्तरं कार्यं गृह्यते, यथैकपलिकस्य स्वस्तिकस्य यो गुरुत्वकार्योऽवनतिविशेषस्तस्माद्द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्वकार्योऽवनतिभेदोऽधिकः। न च तथा तन्तुगुरुत्वकार्यात् पटगुरुत्वकार्यान्तरं दृश्यते। तस्मादभिन्नस्तन्तुभ्यः पट इति।

तान्येतान्यभेदसाधनान्यवीतानि।

अर्थ—पट के तन्तुओं से भिन्न न होने का यह भी एक कारण है कि उपादान-भूत तन्तुओं के भार से भिन्न भार (तौल) का कार्य (पलड़े का अधिक अवनत होना या नीचे गिर जाना) पट में नहीं प्राप्त होता। दृश्य पदार्थों में जो जिससे भिन्न होता है, उसकी अपेक्षा उसमें भिन्न भार (तौल) का कार्य प्राप्त होता है, जैसे एक पल सुवर्ण के बने हुए स्वस्तिक नामक अलङ्कार के भार का कार्य-भूत जो अवनति-विशेष होगा, उसकी अपेक्षा दो पलों के बने हुए स्वस्तिक के भार का कार्य-भूत अवनति-विशेष अधिक होगा। परन्तु तन्तुओं के भार के कार्य (पतन-विशेष) से (उन्हीं तन्तुओं से निर्मित) पट के भार का भिन्न कार्य नहीं दीख पड़ता। इसलिए तन्तुओं से पट भिन्न नहीं है।

अभेद सिद्ध करने वाले ये हेतु पूर्वोक्त[1] अवीत या व्यतिरेकी के उदाहरण हैं।

१—"अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिणः उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते" इत्यादिना ग्रन्थेन निरूप्यत्वेन प्रतिज्ञातस्य अवीतस्योदाहरणमिदमेवेत्याह—'तान्येतानीति"।—सुषमा०

विशेष—यद्यपि 'गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्' के स्थान में 'गुरुत्वान्तराग्रहणात्' या 'समानगुरुत्वात्' भी हेतु हो सकता था। परन्तु चूँकि 'अप्रत्यक्षं पतन-कार्यानुमेयम्' अर्थात् गुरुत्व अप्रत्यक्ष या अतीन्द्रिय होने के कारण स्वकार्यभूत पतन-विशेष या अवनति-विशेष से अनुमान किया जाता है'—इस प्रशस्तपादीय वचन के अनुसार अतीन्द्रिय गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता किन्तु गुरुत्व के पतन-विशेष इत्यादि कार्य का प्रत्यक्ष होने के कारण उस कार्य के द्वारा उसका अनुमान हो सकता है, इसलिए मूल में 'गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्' ऐसा हेतु दिया है।

एवमभेदे सिद्धे तन्तव एव तेन तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटः, न तन्तुभ्योऽर्थान्तरं पटः। स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रिया-व्यवस्थाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति। एकस्मिन्नपि तत्तद्वि-शेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधात्।

अर्थ—इस प्रकार अभेद सिद्ध होने से स्पष्ट है कि तन्तु ही आतान-वितान रूप विशिष्ट अवयव सन्निवेश के द्वारा भिन्न अवस्था को प्राप्त होने पर पट हो जाते हैं। उनसे भिन्न पट नामक कोई वस्तु नहीं है। और न तो इन तर्कों से ही कारण और कार्य में भेद सिद्ध होता है कि यदि कार्य—पट अपने कारण—तन्तुओं से अभिन्न है तो पट के उत्पन्न या विनष्ट होने पर भी तन्तु के विषय में तद्वत् बुद्धि न होने से दोनों के उत्पाद और विनाश के सम्बन्ध में होने वाला बुद्धि-भेद,[१] 'तन्तु में विद्यमान यह पट'—इस प्रकार का नाम-भेद, 'इन तन्तुओं से सिलाई इत्यादि होती है और इस पट से शरीर ढका जाता है'—इत्यादि कार्य या प्रयोजन का भेद, एवं 'तन्तु से रस्सी पट इत्यादि ही उत्पन्न होते हैं, शरीर नहीं ढँका जाता है परन्तु पट से शरीरादि ही ढका जाता है, रस्सी

१—'क्रिया उत्पत्तिः, निरोधः विनाशः तयोर्या बुद्धिः 'पट उत्पद्यते पटो विनश्यति' इत्यादि-रूपा, व्यपदेशः तन्तुषु पटः इत्याकारको व्यवहारः, अर्थ-क्रिया तत्तत्कार्यकारित्वम्, तेषां भेदाः द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य 'भेद'शब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् क्रियानिरोधबुद्धिभेदः व्यपदेशभेदः अर्थक्रियाभेदश्च इति लभ्यते'—इति सुषमाकाराः।

विद्वत्तोषिणीकाराश्च पुनः 'क्रिया उत्पत्तिरूपा जनिक्रिया, निरोधः प्रध्वंसरूपो नाशः बुद्धिः इमे तन्तवोऽयं च पट इति ज्ञानं, व्यपदेशः तन्तुषु पट इति शाब्दो व्यवहारः, अर्थक्रिया सामर्थ्यम्, व्यवस्था सामर्थ्यनियमः, तेषां भेदा बुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाभेदाः, क्रियानिरोधौ च बुद्धिव्यपदेशार्थ-क्रियाव्यवस्थाभेदाश्चेति क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदाः इति विग्रहः' इति व्याख्यातवन्तः।

पट इत्यादि नहीं उत्पन्न होते'—इत्यादि प्रकार से दोनों के प्रयोजन या कार्य के विषय में नियम-सम्बन्धी भेद असंगत या अनुपपन्न होंगे, क्योंकि कारण तथा कार्य के एक होने पर भी कार्य के कभी प्रकट तथा कभी विलीन रहने से पूर्वोक्त सभी भेद सङ्गत या घटित हो जायँगे।

विशेष—उपर्युक्त पाठ बालराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी व्याख्या के अनुसार रक्खा गया है। किन्तु डा० गंगानाथ झा ने 'क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेश' के स्थान में 'क्रियाविरोधसम्बन्धबुद्धिव्यपदेश' पाठ ग्रहण किया है। वंशीधरी भी इसी पाठ का अनुसरण करती है। ऐसा होने पर इस प्रकार अर्थ होगाः— कारण और कार्य के एक होने पर दोनों में क्रिया-विरोध होगा; जैसे पट के फटकर तन्तुओं में परिवर्तित होने पर पट की विनाश-क्रिया और तन्तुओं की उत्पत्ति-क्रिया एक साथ होंगी जो दोनों के एक होने पर असंगत है। फिर कारण और कार्य के एक होने पर दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान भी असंगत होगा क्योंकि सम्बन्ध दो के बीच होता है। एक ही वस्तु का अपने से ही सम्बन्ध असंगत है। तन्तु और पट के पृथक् होने पर ही घट और पट के सम्बन्ध की तरह दोनों का सम्बन्ध भी संगत होगा।

यथा हि कूर्मस्याऽङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति, न तु कूर्मतस्तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा। एवमेकस्याः मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते। न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः। यथाह भगवान् कृष्णद्वैपायनः—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"।—(गी० २—१६)

इति।

यथा कूर्मः स्वावयवेभ्यः सङ्कोचविकासिभ्यो न भिन्नः, एवं घटमुकुटादयोऽपि मृत्सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः।

अर्थ—जैसे कछुए के अंग उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर गुप्त हो जाते हैं एवं बाहर निकल आने पर प्रकट हो जाते हैं, न कि वे (अंग) उस (कछुए) से उत्पन्न और उनमें विलीन होते हैं। वैसे ही मिट्टी या सोने से घट, मुकुट इत्यादि निकलने या प्रकट होने पर 'उत्पन्न हुए' कहे जाते हैं, एवं (फूट तथा गल कर) उसी मिट्टी तथा सोने में मिल जाने पर 'विनष्ट हुए' कहे जाते हैं, न कि वस्तुतः असत् घट, मुकुट इत्यादि की उत्पत्ति होती है अथवा

वस्तुतः सत् उन घट आदि का विनाश होता है जैसा कि भगवान् वेदव्यास ने भी गीता में कहा है कि—'न तो असत् कभी उत्पन्न होता है और न सत् कभी विनष्ट होता है।' और जैसे कछुआ अपने सिकुड़ने तथा फैलने वाले अंगों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार घट, मुकुट इत्यादि भी मिट्टी, सोने इत्यादि से भिन्न नहीं हैं।

एवञ्च 'इह तन्तुषु पटः' इति व्यपदेशो यथा 'इह वने तिलकाः' इत्युपपन्नः। न चार्थक्रियाभेदोऽपि भेदमापादयति, एकस्यापि नानार्थक्रियादर्शनात्। यथैक एव वह्निर्दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति। नाप्यर्थक्रियाव्यवस्था वस्तुभेदे हेतुः, तेषामेव समस्तव्यस्तानामर्थक्रियाव्यवस्थादर्शनात्। यथा प्रत्येकं विष्टयो वर्त्मदर्शनलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति, न तु शिविकावहनम्, मिलितास्तु शिविकामुद्वहन्ति, एवं तन्तवः प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपि मिलिता आविर्भूतपटभावाः प्रावरिष्यन्ति।

अर्थ—इस प्रकार (कारण और कार्य दोनों के एक होने पर भी) 'इन तन्तुओं में यह पट (बुना गया) है'—यह कथन ठीक उसी प्रकार संगत है, जैसे तिलक नामक वृक्षों के वन के विषय में यह कथन कि 'इस वन में ये तिलक के वृक्ष हैं'। कारण तथा कार्य की प्रयोजन-भिन्नता से भी दोनों का भेद नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि एक ही पदार्थ के अनेक कार्य देखे जाते हैं, जैसे एक ही अग्नि जलाने, भोजन पकाने, तथा वस्तु को प्रकाशित करने का कार्य करता है। उसके विभिन्न प्रयोजनों के विषय में दीख पड़ने वाला नियम भी दोनों के परस्पर भिन्न होने में हेतु नहीं हो सकता क्योंकि उन्हीं वस्तुओं के मिलकर एवं पृथक्-पृथक् कार्य करने से नियत-रूप से प्रयोजन-भिन्नता आ जाती है। जैसे कई ढोने वाले नौकर पृथक्-पृथक् अपना-अपना मार्ग देखने भर का कार्य करते हैं, पालकी ढोने का नहीं परन्तु मिलकर वे सब पालकी ढोते हैं, उसी प्रकार अनेक तन्तु पृथक्-पृथक् शरीर आदि को न ढकते हुए भी मिल जाने से अपने पट रूप धर्म (कार्य) के प्रकट हो जाने पर ढकने लगेंगे।

स्यादेतत्—आविर्भावः पटस्य कारणव्यापारात् प्राक् सन् असन् वा? असंश्चेत्, प्राप्तं तर्ह्यसदुत्पादनम्। अथ सन्, कृतं तर्हि कारणव्यापारेण। न हि सति कार्ये कारणव्यापारप्रयोजनं पश्यामः। आविर्भावे चाविर्भावान्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः। तस्मादाविर्भूतपटभावास्तन्तवः क्रियन्त इति रिक्तं वचः।

अर्थ—(तार्किक की शङ्का—) कारण और कार्य में अभेद कथञ्चित् मान भी लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि पट का आविर्भाव तन्तुओं के कारण-व्यापार के पूर्व सत् था या असत् ? यदि असत् था तो असत् की ही उत्पत्ति सिद्ध होती है और यदि सत् था तो कारण-व्यापार व्यर्थ हुआ क्योंकि (आविर्भाव-रूप) कार्य के विद्यमान होने पर कारण-व्यापार का तो कोई भी प्रयोजन नहीं दीख पड़ता। यदि यह कहें कि पट के अप्रकट आविर्भाव के आविर्भाव के लिए कारण-व्यापार की आवश्यकता है; तब तो इस दूसरे भी अप्रकट आविर्भाव के लिए एक तीसरे आविर्भाव की आवश्यकता होगी और इसको भी प्रकट या व्यक्त करने के लिए एक चौथे की और इसी प्रकार चलते जाने पर अव्यवस्था होगी। इसलिए 'तन्तुओं में पूर्व से ही विद्यमान किन्तु अप्रकट पट कारण-व्यापार से प्रकट किया जाता है'—यह कथन निस्सार लगता है।

नैवम्। अथासदुत्पद्यत इति मते केयमसदुत्पत्तिः ? सती असती वा ? सती चेत्, कृतं तर्हि कारणैः। असती चेत्, तस्या अप्युत्पत्त्यन्तरमित्यनवस्था।

अर्थ—(सिद्धान्ती सांख्य का उत्तर—) ऐसा कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि असत् कार्य उत्पन्न होता है'—इस (तार्किक) मत के विषय में भी यह प्रश्न उठता है कि असत् कार्य की उत्पत्ति कैसी है ?—सत् या असत् ? यदि सत् है तो उसके लिए कारणों की क्या आवश्यकता है और यदि असत् है तो इस असत् उत्पत्ति की भी एक दूसरी उत्पत्ति होगी और यह स्वयं भी पूर्व में असत् होगी तो इसकी भी तीसरी उत्पति माननी होगी और इस प्रकार यहाँ भी वही अव्यवस्था[1] आ जाएगी।

अथ उत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरम्, अपि तु पट एवासौ, तथापि यावदुक्तं भवति 'पटः' इति, तावदुक्तं भवति 'उत्पद्यते' इति। ततश्च 'पटः' इत्युक्ते 'उत्पद्यते' इति न वाच्यं, पौनरुक्त्यात्; 'विनश्यति' इत्यपि न वाच्यम्, उत्पत्तिविनाशयोर्युगपदेकत्र विरोधात्।

अर्थ—यदि (तार्किक की ओर से) यह कहा जाय कि पट की उत्पत्ति[2] पट से भिन्न कोई वस्तु नहीं अपितु पट ही है (और चूंकि हमारे मत में पट

१—एतादृश्यनवस्थापरिहारार्थं यदि किञ्चिदुत्तरमुपलभ्यते तर्हि तदेव ममाप्युत्तरम्। यदि नोपलभ्यते, तदा द्वयोस्तूष्णीभाव इति भावः—किरणावलीकाराः।

२—उत्पत्तिर्नामाद्यक्षणसम्बन्धः, स च स्वरूपसम्बन्धविशेषः, न तु संयोगः प्रध्वंसादावसम्भवात् ('उत्पत्तिमानभावः प्रध्वंसाभावः' इति तार्किकमते ध्वंसस्योत्पत्तिमत्त्वेन ध्वंसाभावेन

कारण-व्यापार से पूर्व अनुत्पन्न है, अतः पट से अभिन्न उसकी उत्पत्ति भी अनुत्पन्न हुई और फिर इस अनुत्पन्न पट से अभिन्न उसकी अनुत्पन्न उत्पत्ति को उत्पन्न करने के लिये कारण-व्यापार की आवश्यकता होगी ही), तब फिर पुनरुक्ति दोष आ जाने से 'पट उत्पन्न होता है' ऐसा नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि 'पट' और 'उत्पत्ति' के पर्याय होने से 'पट' कहने से ही 'उत्पन्न होता है'—यह कह उठता है। 'पट नष्ट होता है'—यह भी नहीं कहा जाना चाहिये क्योंकि ऐसा कहने से एक ही वस्तु में एक ही काल में (युगपत्[1]) उत्पत्ति और विनाश—इन दो विरोधी धर्मों का आरोप होगा।

तस्मादियं पटोत्पत्तिः स्वाकारणसमवायो वा, स्वसत्तासमवायो वा। उभयथापि नोत्पद्यते, अथ च तदर्थानि कारणानि व्यापार्यन्ते। एवं सत एव पटादेराविर्भावाय कारणापेक्षेत्युपपन्नम्।

अर्थ—इस लिए पट की यह उत्पत्ति या तो 'स्व (अर्थात् पट) का अपने कारण-भूत तन्तुओं में समवाय' है या 'स्व (अर्थात् पट) में सत्ता नामक पर-सामान्य का समवाय' है। दोनों ही प्रकार से 'उत्पत्ति' उत्पन्न हो ही नहीं सकती (क्योंकि 'उत्पत्ति' हुई समवाय-रूप और 'समवाय' नित्य होने के कारण उत्पन्न हो ही नहीं सकता, अतः उसके कारण या साधन व्यर्थ हुए); तथापि उसके लिए कारण-व्यापार (तार्किक मत में) अभीष्ट है। उसी प्रकार कारण-व्यापार के पूर्व विद्यमान होने पर भी पट आदि की उत्पत्ति—अभिव्यक्ति—के लिए (हमारे मत में भी) कारण अपेक्षित है, ऐसा कथन सर्वथा सम्भव है।

विशेष—न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' या 'जाति' नामक पदार्थ के दो प्रकार या भेद माने जाते हैं; एक तो 'पर' और दूसरा 'अपर'। द्रव्य गुण कर्म सभी पदार्थ सत् हैं, अतः इन सब में सत्ता (सत् का भाव) पाई जाती है। अर्थात् इन सब में सत्ता नामक जाति हुई। यही पर-जाति या पर-सामान्य है

सहाद्यवयसम्बन्धस्य संयोगादिरूपत्वासंभवेन तत्र स्वरूपसम्बन्धस्यैव वक्तव्यत्वादित्यर्थः। गुणक्रिययोरुत्पत्तिस्थलेऽपि स्वरूपसम्बन्धस्यैव सम्भवः) स्वरूपसम्बन्धश्चानुयोगिरूपः, अनुयोगी चात्र पटः, पटश्च कारणव्यापारात्प्रागनुत्पन्न इति तदनतिरेकिण्युत्पत्तिरपि अनुत्पन्ना, तथा चानुत्पन्नपटानतिरेकि इत्युत्पत्तये कारणव्यापारः सार्थक इत्याशयेन तार्किकः प्राह—"अथोत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरमिति"—विद्वत्तोषिणीकाराः

१—पटो विनशिष्यति इत्येवं कालान्तर उत्पत्तिविनाशयोरेकस्मिन्नविरोधेऽपि समसमययोस्तयोः (उत्पत्तिविनाशयोः) सहावस्थानस्य न सम्भव इति बोधयितुं 'युगपत्' इति।—विद्वतो०

क्योंकि इससे बड़ी जाति कोई नहीं है। पृथ्वी, जल आदि द्रव्यों में होने वाली द्रव्यत्व जाति, शब्द, रूप रस, गन्ध आदि में होने वाली गुणत्व जाति एवं इसी प्रकार अन्य पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियाँ 'सत्ता' से कम व्यापक होने के कारण अपर-सामान्य है। जब पट उत्पन्न होता है, तो वह अपने उपादान (न्याय की शब्दावली में 'समवायि') कारण तन्तुओं में समवेत—अनुस्यूत—होकर ही उत्पन्न होता है, उनसे पृथक् नहीं। इसलिये पट की उत्पत्ति का लक्षण 'तन्तुओं में समवाय' कहा गया। फिर पट उत्पन्न होने के पूर्व (नैयायिकों के अनुसार) 'असत्' था, उत्पन्न होने पर 'सत्' हुआ अर्थात् सत्ता नामक पर-सामान्य से युक्त हुआ। इसलिए पट की उत्पत्ति का दूसरा लक्षण 'स्वसत्तासमवायः अर्थात् पट में सत्ता नामक पर-सामान्य का समवाय कहा गया॥ डाक्टर गंगानाथ झा का 'The inherence of the cloth in its being' अनुवाद ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'जाति' या सामान्य' व्यक्तियों में समवेत होता है, व्यक्ति-विशेष 'जाति' या 'सामान्य' में नहीं। डा० झा के अनुवाद के साथ पुस्तक के अन्त में इस पंक्ति पर दिये गये डा० हरप्रसाद शास्त्री के नोट से उपर्युक्त विवेचन नितान्त स्पष्ट हो जाता है। वह इस प्रकार है—

"Now, what is your उत्पत्ति ? Is it the समवाय of the effect in its cause ? That is, is it the समवाय which is produced ? If you say yes, then your उत्पत्ति produces only the समवाय and not the effect. Or, do you mean to say that उत्पत्ति is the समवाय of सत्ता (existence) in the effect ? That is, सत्ता is the genus presiding over the effect. It is by means of this सत्ता (genus), that we call an existing object as existent. Just as गो is गो, because she is related to गोत्व; similarly, a सत् पदार्थ is सत्, because it is related to सत्ता. So the other alternative of the नैयायिक is that what is originated is the समवाय of सत्ता in the effect. Here also, as above, what is originated is समवाय and not the effect.

[पट की उत्पत्ति को समवाय मानकर तथा उस उत्पत्ति की नित्यता अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व भी सत्ता बतला कर तर्किक मत में उसके लिए जो कारण-व्यापार को अभी अनावश्यक सिद्ध किया गया, उस पर यदि कोई तार्किक

यह कहे कि पहले से अविद्यमान पट के रूप के साथ कारणों का सम्बन्ध ही पट की उत्पत्ति है, न कि अपने कारण-भूत तन्तुओं में पट का या पट में अपनी सत्ता का समवाय, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि :—]

न च पटरूपेण कारणानां सम्बन्धः, तद्रूपस्याऽक्रियात्वात्, क्रिया-सम्बन्धित्वाच्च कारणानां, अन्यथा कारणत्वाभावात्।

तस्मात् सत्कार्यमिति पुष्कलम्।

अर्थ—और न पट के रूप के साथ कारणों का सम्बन्ध ही उत्पत्ति है क्योंकि पट का 'रूप' गुण है, क्रिया नहीं और 'कारण[१]' क्रिया से ही अन्वित होता है। अन्यथा वह कारण कारण होगा ही नहीं। अतएव 'कार्य कारण व्यापार के पूर्व उपादान कारण में विद्यमान रहता है'—यह प्रमाण-सिद्ध हुआ।

विशेष—तार्किक ने सांख्य के सत्कार्यवाद के विरुद्ध जो यह आक्षेप उठाया कि 'यदि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य विद्यमान रहता है तो कारण व्यर्थ हो जायेंगे, और यदि कार्य उसके पूर्व अविद्यमान या असत् रहता है तो एकमात्र यही निष्कर्ष निकलता है कि असत् ही कार्य कारणों से उत्पन्न होता है,' इसका कोई समुचित उत्तर उपर्युक्त पंक्तियों में नहीं दिया गया है। तार्किक मत में भी यथा-कथञ्चित् वही कारण-व्यर्थता का दोष लगाकर तार्किक को मौन कर दिया गया। अतः सांख्य के सत्कार्यवाद के विरुद्ध उठाये गए आक्षेप का परिहार होना आवश्यक है। किरणावलीकार के शब्दों में यह परिहार इस प्रकार है :—

"सर्ववस्तुषु सत्त्वं द्विविधं सूक्ष्मं स्थूलं चाविरुद्धम्, तत्र कारण-व्यापारैः सूक्ष्ममाव्रियते स्थूलं च प्रकाश्यते, तमसाऽऽवृतघटस्य तेजसा प्रकाशनवत्। अतो न कारणव्यापारः निष्प्रयोजनः। अतएव नानवस्थापि, अभिव्यक्तेरेव स्थूलसत्त्वापरपर्यायित्वात्, अनभिव्यक्तेश्च सूक्ष्मसत्त्वापरपर्यायित्वात्। प्रतिक्षण-परिणामकैः कारणैः सूक्ष्मसत्त्वानुवर्तनं यावत्, तावत् अभिव्यक्तिरावृता, स्वकारणव्यापारैश्च प्रकाशिता भवति इति। नन्वावरणे आवरणान्तरात्मकं सत्त्वमङ्गीकार्यं प्रकाशे च प्रकाशान्तरात्मकं सत्त्वमङ्गीकार्यमित्यनवस्था चेत्, अत्राहुः सांख्यसूत्रकाराः—"पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् (अ० १, सू० १२२)। यथा बीजार्थमङ्कुरम् अंकुरार्थं च बीजमपेक्षितमिति क्रमिकानवस्था न

१—(i) 'करणकारकविशेषस्यैव कारणत्वेन क्रियाजनकत्वाभावे कारणत्वमेव न स्यादित्यर्थः'—उदासीनकृतटिप्पण्याम्

(ii) क्रियतेऽनेनेति कारणमिति व्युत्पत्त्या कारणस्य क्रियया सम्बन्धः स्पष्ट एव॥

दोषाय, तथा अभिव्यक्त्यादौ एककालीनपारम्पर्यतोऽनवस्था न दोषायेति। अथवा सांख्यसूत्रम्—"उत्पत्तिवद्वाऽदोषः" (अ० १, सू० १२३)। तथा उत्पत्तेरुत्पत्त्यन्तरानभ्युपगमेन (उत्पत्तेः स्वयमेवोत्पत्तिरूपत्वात् न उत्पत्त्यन्तरकल्पनावकाशः —इति वैशेषिकैः समाधीयते) परमते नानवस्था, तथा अभिव्यक्त्यादेरभिव्यक्त्यन्तरानभ्युपगमेन नानवस्थेति॥ (अभिव्यक्तेः स्वयमेवाभिव्यक्तिरूपत्वान्नाभिव्यक्त्यन्तरकल्पनावकाशः)" ॥

तदेवं प्रधानसाधनानुगुणं सत्कार्यमुपपाद्य यादृशं तत् प्रधानं साधनीयम्, तादृशमादर्शयितुं विवेकज्ञानोपयोगिनी व्यक्ताव्यक्तसारूप्यवैरूप्ये तावदाह—

अर्थ—इस प्रकार प्रधान की सिद्धि में उपयोगी सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करके, उस प्रधान को जिस रूप में आगे सिद्ध करना है, उसे दिखलाने के लिए सर्वप्रथम विवेकज्ञान में उपयोगी व्यक्त तथा अव्यक्त के सादृश्य तथा भेद कहते हैं :—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

अर्थ—व्यक्त सकारण अर्थात् उत्पन्न होने वाला, विनाशी, एकदेशीय (व्याप्य), क्रियावान्, अनेक, स्वकारण में आश्रित अतएव परतंत्र, अवयव-युक्त एवं प्रधान के अनुमान में हेतु होता है, अव्यक्त इसके प्रतिकूल होता है।

"हेतुमत्" इति। व्यक्तं हेतुमत्, हेतुः कारणम्, तद्वत्, यस्य च यो हेतुस्तमुपरिष्टाद्वक्ष्यति। "अनित्यम्" विनाशि, तिरोभावीति यावत्। "अव्यापि", सर्वं परिणामिनं न व्याप्नोति। कारणेन हि कार्यमाविष्टम्, न कार्येण कारणम्। न च बुद्ध्यादयः प्रधानं वेविषतीत्यव्यापकाः।

अर्थ—व्यक्त 'हेतुमत्' अर्थात् कारण-युक्त—कार्य—होता है; हेतु अर्थात् कारण, तद्वत् अर्थात् उससे युक्त। जिसका जो कारण होता है, उसे आगे (कारिका २२ में) कहेंगे। 'अनित्य' अर्थात् विनाशी[1] या अपने कारण में तिरोभूत होने वाला—सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहने वाला। 'अव्यापी' अर्थात् समस्त परिणामी कारण को 'व्यक्त' व्याप्त नहीं करता। कारण से कार्य व्याप्त

१—'नाशः कारणलयः' (१—१२१) इति सूत्रात् कारणे सूक्ष्मतयावस्थानं नाशः, तद्वत् कदाचित्तिरोभावशीलमिति यावत्—विद्वत्तोषिणीकाराः (लीङ् श्लेषण इत्युक्तेर्लयः संश्लेषः, न तूच्छेद इत्यर्थः—इति स्वटिप्पण्याम् ।)

होता है, कार्य कारण से नहीं। बुद्धि, अहंकार आदि परिणाम परिणामी 'प्रधान' को कभी भी व्याप्त नहीं करते। इसी से वे अव्यापक हैं।

"सक्रियम्" परिस्पन्दवत्। तथा हि बुद्ध्यादयः उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति, देहान्तरं चोपाददते, इति तेषां परिस्पंदः। शरीरपृथिव्यादीनां च परिस्पंदः प्रसिद्ध एव।

अर्थ—'सक्रिय' अर्थात् प्रवेश, निस्सरण आदि क्रिया[१] से युक्त। बुद्धि इत्यादि[२] सूक्ष्म व्यक्त पुनः पुनः ग्रहण किए गए (पूर्व) शरीर को (मरण-समय में) छोड़कर (जन्म के समय) दूसरे दूसरे शरीर को ग्रहण करते हैं। यही उनका कर्म है। शरीर, पृथिवी इत्यादि स्थूल व्यक्तों का कर्म तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

"अनेकम्" प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदात्। पृथिव्याद्यपि शरीरघटा-दिभेदेनानेकमेव।

अर्थ—प्रत्येक पुरुष में बुद्धि इत्यादि के भिन्न होने से सूक्ष्म व्यक्त 'अनेक'[३] हैं। पृथिवी इत्यादि स्थूल व्यक्त भी शरीर, घट इत्यादि के भेद से अनेक हैं।

"आश्रितम्" स्वकारणमाश्रितम्। बुद्ध्यादिकार्याणामभेदेऽपि कथ-ञ्चिद्भेदविवक्षयाऽऽश्रयाश्रयिभावः, यथा 'इह वने तिलकाः' इत्युक्तम्।

अर्थ—'आश्रित' अर्थात् अपने कारण में आश्रित। यद्यपि बुद्धि इत्यादि कार्यों का अपने कारण से वस्तुतः कोई भेद नहीं है (ऐसा पहले सत्कार्यवाद

१—(i) परिस्पन्दो हि नैयायिकाद्यभिमतकर्मरूपः, स च न प्रधानादिषु सम्भवति, तेषां विभुतया क्रियाश्रयत्वाभावात्—इति सुषमाकाराः।

(ii) यस्मात् संसरणकाले महदादिकार्यं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम्—माठरवृत्तिः।

२—'बुद्ध्यादयः' बुद्ध्यादि तन्मात्रान्तानि तत्त्वानि इति किरणावलीकाराः।

३—"अनेकं सजातीयभेदवदित्यर्थः। तत्त्वं चात्र स्वाश्रय (महदादि)-प्रतियोगिकान्यो-ऽन्याभावसमानाधिकरणतत्त्वविभाजकोपाधिमत्त्वम्...... एतेन 'अनेकत्वं सर्गभेदेन भिन्नत्वं सर्गद्वयासाधारण्यमिति यावत्, न पुनः सजातीयानेकव्यक्तिकत्वं, प्रकृतावतिव्याप्तेः, प्रकृतेरपि सत्त्वाद्यनेकरूपत्वात्' इति विज्ञानभिक्षूक्तमनादृतमिति बोध्यम्; प्रकृतेरनेकरूपत्वेऽपि अनेक-व्यक्तिकत्वाभावेन प्रकृतिप्रतियोगिकान्योऽन्याभावस्य प्रकृतावसम्भवात्। किञ्च 'अजामेकामिति श्रवणादप्रामाणिकं प्रकृतेरनेकव्यक्तिकत्वाभिधानमित्यस्थान एव व्यामोहो भिक्षोरिति॥"

—सिद्धान्तोपिकाकाराः

के प्रतिपादन के अवसर पर सिद्ध कर चुके हैं), तथापि किसी प्रकार से (अर्थात् व्यवहार में) भेद की अपेक्षा होने पर, कारण और कार्य में आश्रय और आश्रित का सम्बन्ध घटित होता है; जैसे पूर्वोक्त 'इस वन में तिलक के पेड़ हैं'—इस वाक्य में आए हुए वन और तिलक के पेड़ों में।

"लिङ्गम्" प्रधानस्य। यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधानस्य लिङ्गम् तथोपरिष्टाद्वक्ष्यति। प्रधानं तु न प्रधानस्य लिङ्गं पुरुषस्य लिङ्गं भवदपीति भावः।

अर्थ—'लिङ्ग' अर्थात् प्रधान के अनुमान में हेतु। ये बुद्धि इत्यादि व्यक्त जिस प्रकार से अव्यक्त प्रधान की सत्ता के अनुमान में लिङ्ग बनते हैं, उसे आगे 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि १५ वीं कारिका में कहेंगे। अव्यक्त प्रधान तो पुरुष की सत्ता के अनुमान में लिङ्ग होने पर भी अपनी सत्ता के अनुमान में लिङ्ग नहीं बनता (इसीलिए उसे प्रस्तुत कारिका के अन्त भाग में लिङ्ग से विपरीत अर्थात् भिन्न कहा है)।

विशेष—माठर ने अपनी वृत्ति में 'लयं गच्छतीति लिङ्गम्' कहा है। गौडपाद ने भी यही अर्थ किया है। डा० झा ने शायद इन्हीं का अनुसरण करके 'लिङ्गम्' का 'Soluble' (अर्थात् लीन होने वाला) अनुवाद किया है। परन्तु वाचस्पति ने इस शब्द का 'हेतु' (अनुमापक) अर्थ ही माना है, जैसा कि तत्त्व-कौमुदी की 'प्रधानं तु न प्रधानस्य लिङ्गं, पुरुषस्य लिङ्गं भवदपि'—पंक्ति से स्पष्ट है। इसीलिए कौमुदी की इस पंक्ति का डा० झा-कृत अनुवाद—'Nature cannot be soluble in itself though it may be so regarded in its relation to the Spirit' असङ्गत है; क्योंकि सांख्य की प्रकृति तो पुरुष की ही भाँति नित्य है, वह पुरुष में लय को कहाँ प्राप्त होती है? शंकरार्य (जयमङ्गलाकार) तथा विज्ञानभिक्षु ने 'हेतु' अर्थ को प्रथम अर्थ के विकल्प-रूप में दिया है। बालराम ने प्रथम अर्थ को ही 'हेतु' अर्थ के विकल्प-रूप में दिया है। पहले उन्होंने 'लिङ्गयति गमयतीति लिङ्गं ज्ञापकं' लिखा है, आगे 'स्वस्वकारणे लयगमनाद्वा लिङ्गं व्यक्तम्' लिखा है। वंशीधर ने गमक या हेतु अर्थ ही लिया है।

"सावयवम्",[1] अवयवनमवयवः, अवयवानामवयविनां मिथः संश्लेषो मिश्रणं संयोग इति यावत्। अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः।

१—सावयवं, संयोगयोगि संयोगस्यानुयोगि प्रतियोगि चेत्यर्थः।—विद्वत्तोषिणीकाराः

तेन सह वतत इति सावयवम् । तथा हि—पृथिव्यादयः परस्परं संयुज्यन्ते एवमन्येऽपि; न तु प्रधानस्य बुद्ध्यादिभिः संयोगः, तादात्म्यात् । नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः, अप्राप्तेरभावात् ।

अर्थ—'सावयव' अर्थात् अवयव-युक्त । 'अवयव' का अर्थ है 'अवयवन' अर्थात् अवयव तथा अवयवी का परस्पर मिश्रण या संयोग । पहले न प्राप्त हुई वस्तु का प्राप्त होना संयोग कहलाता है । ऐसे संयोग के साथ वर्तमान वस्तु सावयव हुई । जैसे पृथिवी इत्यादि व्यक्त परस्पर संयोग प्राप्त करते हैं । इसी प्रकार अन्य (इन्द्रिय, मन इत्यादि) भी एक दूसरे का संयोग प्राप्त करते हैं । परन्तु प्रधान का बुद्धि, अहंकार इत्यादि के साथ संयोग नहीं होता क्योंकि उनका प्रकृति के साथ सदा तादात्म्य या अभेद रहता है । (एवं तादात्म्य होने पर नित्य प्राप्ति रहने के कारण पूर्व में अप्राप्ति का अभाव होने से प्रकृति का किसी से संयोग असम्भव है) । न तो सत्त्व, रजस् और तमस् का ही परस्पर संयोग होता है जिससे यह कहा जा सके कि प्रकृति में विद्यमान इन तीनों का परस्पर संयोग होने से प्रकृति उस संयोग की अनुयोगी है, क्योंकि वे भी सदा प्राप्त रहते हैं । [न तो प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् का ही बुद्धि के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के साथ संयोग होता है जिससे यह कहा जा सके कि प्रकृति में दोनों के सत्त्व आदि गुणों का परस्पर संयोग होता है, इससे प्रकृति संयोगानुयोगी है ।—सुषमा]

विशेष—गौडपाद, माठर[1] तथा जयमंगला—तीनों ही 'अवयव' का अर्थ शब्द, स्पर्श आदि करते हैं । परन्तु इससे कठिनाई यह होगी कि फिर सभी व्यक्त शब्द, स्पर्श इत्यादि से सम्पन्न नहीं कहे जा सकते । इसको दूर करने के लिए यदि यह कहा जाय कि ये शब्द, स्पर्श आदि बुद्धि, अहंकार आदि सूक्ष्म व्यक्तों में अप्रकट रूप में रहते हैं, तब तो फिर ये प्रकृति में भी उसी रूप में विद्यमान माने जा सकते हैं और तब प्रकृति भी सावयव हो जायगी । आचार्य वाचस्पति का 'संयोग' अर्थ भी सदोष ही लगता है क्योंकि वे जैसे प्रकृति का बुद्धि इत्यादि से तादात्म्य-सम्बन्ध के कारण संयोग नहीं मानते, उसी प्रकार उसी कारण से बुद्धि और अहंकार का भी संयोग नहीं होना चाहिए । परन्तु किसी व्याख्याता या टीकाकार ने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है ।

१—शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाद्यवयवसम्पन्नं व्यक्तम्—माठरवृत्तिः ।

"परतन्त्र" बुद्ध्यादि। बुद्ध्या स्वकार्येऽहङ्कारे जनयितव्ये प्रकृत्यापूरोऽपेक्ष्यते, अन्यथा क्षीणा सती नाऽलमहङ्कारं जनयितुमिति स्थितिः। एवमहङ्कारादिभिरपि स्वकार्यजनने इति सर्वं स्वकार्येषु प्रकृत्याऽऽपूरमपेक्षते। तेन परां प्रकृतिमपेक्षमाणं कारणमपि स्वकार्यजनने परतन्त्रं व्यक्तम्।

अर्थ—बुद्धि आदि व्यक्त दूसरे पर आश्रित हैं। अपने कार्य अहङ्कार को उत्पन्न करने में बुद्धि को प्रकृति की सहायता की आवश्यकता होती है, अन्यथा असमर्थ होने के कारण वह अहङ्कार को उत्पन्न नहीं कर सकती, यह वस्तु-स्थिति है। इसी प्रकार अहङ्कार इत्यादि भी अपने कार्य को उत्पन्न करने में प्रकृति के साहाय्य की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए चूँकि सभी व्यक्तों को अपने-अपने कार्य में प्रकृति के साहाय्य की आवश्यकता है, अतः सभी व्यक्त अपने कार्य को उत्पन्न करने में 'कारण' (अर्थात् स्वतः समर्थ) होने पर भी परतन्त्र हैं—प्रकृति के आश्रित हैं।

"विपरीतमव्यक्तम्" व्यक्तात्। अहेतुमत्, नित्यं, व्यापि, निष्क्रियम्—यद्यप्यव्यक्तस्याऽस्ति परिणामलक्षणा क्रिया तथाऽपि परिस्पन्दो नास्ति, एकम्, अनाश्रितम्, अलिङ्गम्, अनवयवम्, स्वतन्त्रम् अव्यक्तम्।

अर्थ—अव्यक्त (प्रधान) व्यक्तों से भिन्न अर्थात् कारण-रहित (अज), अविनाशी, व्यापक, क्रियाहीन—यद्यपि अव्यक्त में परिणाम-रूप क्रिया विद्यमान है तथापि प्रवेश निस्सरण आदि क्रिया का अभाव है, एक (स्वकारण के अभाव में), अन्यत्र अनाश्रित, (स्वयं के अनुमान में ज्ञापक हेतु न होने से) अलिङ्ग, अवयवहीन (संयोगरहित) तथा स्वतन्त्र है।

तदनेन प्रबन्धेन व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तम्। सम्प्रति तयोःसाधर्म्यं पुरुषाच्च वैधर्म्यमाह—

अर्थ—इस प्रकार दसवीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त का वैषम्य बतला कर अब उन दोनों का परस्पर साम्य और पुरुष से उनका वैषम्य बताते हैं :—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अर्थ—व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक, अपृथक् या अभिन्न, विषय, सर्व-साधारण, जड तथा परिणामी हैं। पुरुष उन दोनों से विपरीत भी है एवं सदृश भी।

"त्रिगुणम्" इति। त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहाः अस्येति त्रिगुणम्। तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वं पराभिमतमपाकृतम्।

अर्थ—सुख, दुःख और मोह—ये तीनों गुण जिसमें हों, वह त्रिगुण अर्थात् सुख-दुःख-मोहात्मक[1] है। इस कथन से (नैयायिक इत्यादि) अन्य दार्शनिकों को मान्य "सुख, दुःख इत्यादि आत्मा के गुण हैं"—इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है।

विशेष—इस शास्त्र में वस्तुतः सत्त्व, रजस् और तमस् की ही 'गुण' संज्ञा है, सुख, दुःख और मोह की नहीं। ये तो उक्त गुणों के धर्म या स्वभाव हैं। परन्तु यहाँ धर्म और धर्मी में अभेद मानकर सुख इत्यादि धर्मों को ही गुण कहा गया है। ऐसा मानने का कारण यह है कि 'त्रिगुण' का 'सत्त्व इत्यादि गुणों से युक्त' अर्थ होने पर अव्यक्त को 'त्रिगुण' नहीं कह सकते क्योंकि अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों का आधार नहीं अपितु तद्रूप या तदात्मक है; जैसा कि 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां० सू० ६।३६) इत्यादि सांख्य-सूत्र तथा 'एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' (यो० सू० २।१८ का व्यास-भाष्य) इत्यादि योग-भाष्य की पंक्ति से स्पष्ट है। इसके विपरीत 'गुण' का 'सुख दुःख तथा मोह' अर्थ लेने पर व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही के विषय में 'त्रिगुण' पद का प्रयोग घटित हो जाएगा क्योंकि अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् के रूप का है और सुख, दुःख तथा मोह क्रमशः इन सत्त्व इत्यादि के धर्म हैं, अतः ये अव्यक्त में आश्रित हो ही जायँगे। भेद इतना ही होगा कि जहाँ प्रधान सुख, दुःख आदि धर्म से युक्त सत्त्व, रजस् इत्यादि के रूप का होने से 'त्रिगुण' होगा, वहाँ महत् इत्यादि 'व्यक्त' सत्त्वाद्यात्मक प्रधान के कार्य होने से तत्रस्थ सुख इत्यादि धर्मों को प्राप्त करने के कारण 'त्रिगुण' होंगे।

१—यद्यपि तन्त्रे सुखादिधर्मकं सत्त्वादितत्त्वत्रयमेव......गुणपदाभिधेयं, न सुखादिक धर्मजातं, तथापि धर्मधर्मिणोरभेदमादाय सुखादयो धर्मा एवात्र गुणपदेनाभिप्रेता, न सत्त्वादयो धर्मिण इति ज्ञेयम्। अत्रेदमाकूतम्—यद्यत्र गुणशब्देन सत्त्वरजस्तमांसि तत्त्वानि गृह्येरन् तर्हि त्रिगुणमित्यस्य सत्त्वादिगुणत्रयाधारभूतं व्यक्तमव्यक्तञ्चेत्यर्थोऽत्र सम्पद्येत, स चानिष्टः व्यक्तस्य महदादेर्गुणत्रयाधारत्वेऽप्यव्यक्तस्य तथात्वाभावात् (गुणत्रयाधारत्वाभावात् तत्राव्याप्तिप्रसंगात्......गुणशब्देन सुखादीनां ग्रहणे तु प्रधानस्यापि सत्त्वादिधर्मभूतसुखाद्याधारत्वसम्भवान्नाव्याप्तिरिति × × × त्रयः सत्त्वादयो गुणाः यस्मिंस्तत् त्रिगुणमिति व्याख्याने तु वने वृक्षवत् प्रधाने सत्त्वादीनामवस्थानं ज्ञेयम्।

—विद्वत्तोषिणीकाराः

यों तो 'गुण' का सत्त्वादि अर्थ लेने पर भी अव्यक्त के सम्बन्ध में 'त्रिगुणत्व' का कथन घटित हो जाएगा। क्योंकि जैसे वन के वृक्षात्मक होने पर भी 'वने वृक्षाः' ऐसा प्रयोग होता है, उसी प्रकार अव्यक्त 'सत्त्वादि-स्वरूप' होने पर भी सत्त्व इत्यादि गुणों से युक्त अथवा इन गुणों का आश्रय कहा जा सकता है।

"अविवेकि"। यथा प्रधानं न स्वतो विविच्यते, एवं महदादयोऽपि न प्रधानात् विविच्यन्ते तदात्मकत्वात्। अथवा सम्भूयकारितात्राऽविवेकिता, न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये, अपि तु सम्भूय। तत्र नैकस्मात् यस्य कस्यचित् केनचित् सम्भव इति।

अर्थ—'अविवेकि' अर्थात् जैसे प्रधान अपने से अभिन्न या अपृथक् है, उसी प्रकार महद् इत्यादि व्यक्त भी प्रधान से अभिन्न होने के कारण उससे अपृथक् हैं। अथवा 'अविवेकि' का तात्पर्य यहाँ पर 'मिलकर कार्य उत्पन्न करना' है। कोई भी तत्त्व अकेला अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता किन्तु दूसरे के साथ मिलकर ही समर्थ होता है। इसलिए किसी भी एक तत्त्व से किसी कार्य की किसी भी प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं।

ये त्वाहुः—विज्ञानमेव हर्षविषादमोहशब्दाद्यात्मकम्, न पुनरितोऽन्यस्तद्धर्मेति, तान् प्रत्याह—"विषय" इति। विषयः ग्राह्यः, विज्ञानात् बहिरिति यावत्।

अत एव "सामान्य" साधारणम्, घटादिवदनेकैः पुरुषैर्गृहीतमित्यर्थः। विज्ञानाकारत्वे तु असाधारण्याद्विज्ञानानां वृत्तिरूपाणां तेऽप्यसाधारणाः स्युः, विज्ञानं यथा परेण न गृह्यते, परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादित्यभिप्रायः। तथा च नर्तकीभ्रूलताभङ्गे एकस्मिन् बहूनां प्रतिसन्धानं युक्तम्। अन्यथा तन्न स्यादिति भावः।

अर्थ—जिन विज्ञानवादी बौद्धों का यह कहना है कि विज्ञान ही सुख, दुःख तथा मोह उत्पन्न करने वाले शब्द इत्यादि विषयों का आकार या रूप धारण कर लेता है (इनके आकार का हो जाता है), सुखादि स्वभाव वाले शब्द आदि इससे भिन्न या पृथक् कोई पदार्थ नहीं हैं, उनके उत्तर में कारिका में "विषयः"—यह शब्द आया है, जिसका अर्थ है 'ग्राह्य' अर्थात् विज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने योग्य। इसीलिए उन्हें 'सामान्य' अर्थात् साधारण कहा, जिसका भाव यह हुआ कि वे (एक ही समय में) अनेक पुरुषों से ग्रहण

किए जाते हैं। यदि ये शब्द इत्यादि व्यक्त पदार्थ विज्ञान के ही रूप होते तो जैसे 'विज्ञान' मानसिक व्यापार होने के कारण पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के होते हैं, वैसे ही ये शब्द इत्यादि भी व्यक्तिगत होते; अर्थात् जैसे दूसरे व्यक्ति की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने के कारण एक का विज्ञान दूसरे को अज्ञात या अप्रत्यक्ष रहता है, वैसे ही ये शब्दादि पदार्थ भी जिस व्यक्ति के विज्ञान के रूप होते, उसी को प्रत्यक्ष होते। और फिर इस प्रकार सभी पदार्थों को विज्ञान से पृथक्[1] स्वतन्त्र रूप से ग्राह्य मानने पर ही नर्तकी के एक ही कटाक्ष (जो शब्दादि की तरह ही एक व्यक्त पदार्थ है) का एक साथ ही अनेक पुरुषों को प्रतिसन्धान[2] होना संगत होता है। अन्यथा (कटाक्ष के वैयक्तिक विज्ञान-मात्र होने पर) ऐसा न होना चाहिए—सभी को उसकी प्रतीति न होनी चाहिए।

विशेष—'योगाचार' सम्प्रदाय के बौद्धों का उपर्युक्त मत दार्शनिक जगत् में विज्ञानवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मत के पोषक होने के कारण ही वे 'विज्ञानवादी' बौद्ध के नाम से अभिहित हुए। उनके इस सिद्धांत का सूक्ष्म विवरण इस प्रकार होगा। जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी स्वप्न-द्रष्टा पुरुष का विज्ञान (बुद्धि) ही घट, पट, सर्प इत्यादि अनेक ग्राह्य विषयों का रूप धारण करके स्वयं ही उसका ग्राहक या ज्ञाता बनता है, अथवा जैसे जागरण-काल में भी बाह्य (वास्तविक) स्थिति के अभाव में सूर्य-मरीचियों में जल, शुक्ति में रजत (चाँदी) अथवा रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जागरण-काल में प्रतीत होने वाले अन्य घट, पट, हस्ती आदि पदार्थ भी विज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। उसके बाहर उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि कोई यह शंका करे कि जब सभी पदार्थ विज्ञान के ही एकमात्र रूप हैं तो विज्ञान के एक होने पर भी नील, पीत इत्यादि रूप से पदार्थ-वैचित्र्य का आभास क्यों होता है, तो इसके उत्तर में विज्ञानवादियों का यह कहना है कि विज्ञान-गत यह वैचित्र्य व्यक्ति के वासना-गत वैचित्र्य के कारण है। स्वप्न

१—किञ्च यस्य नानात्वे यस्यैकत्वमवगतं तत्ततोऽत्यन्तं भिन्नं प्रतीतं यथा नानागोव्यक्तिष्य एकं गोत्वमवगतं च ज्ञाननानात्वेऽपि वस्त्वैक्यमिति तदपि ततो भिन्नं भवितुमर्हतीति; तथा चाह भगवान् पतञ्जलिः—"वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः" ४।१५ इति।
—विद्वत्तो०

२—दृष्टस्य पुनरनुसन्धानरूपं स्मरणकल्पं ज्ञानान्तरं प्रतिसन्धानम्।—टिप्पण्यां बालरामः। प्रतिसधान प्रत्यभिज्ञानमिति सुषमाकाराः।

में भी तो स्वप्न-द्रष्टा का एक ही विज्ञान घट, पट, हस्ती आदि विचित्र रूपों में प्रतीत होता है। वहाँ तो कोई बाह्य पदार्थ नहीं रहता। इसलिए जैसे स्वप्न-कालीन विज्ञान-वैचित्र्य पदार्थ-वैचित्र्य पर नहीं अपि तु वासना-वैचित्र्य पर आश्रित होता है, उसी प्रकार जागरणकालीन पदार्थ-वैचित्र्य भी विज्ञान-वैचित्र्य के कारण होता है। यदि यह पूँछा जाय कि विज्ञान-वैचित्र्य ही क्यों होता है तो उसका कारण विज्ञानवादी व्यक्तिगत वासना-वैचित्र्य बताते हैं। यह वासना-वैचित्र्य भी अनादि अविद्या के कारण है।

ज्ञान और बाह्य वस्तुओं का अभेद-साधक एक हेतु विज्ञानवादी यह भी देते हैं कि जिस वस्तु की जिसके साथ नियत रूप से प्राप्ति होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती; जैसे एक चन्द्र के साथ नियत रूप से प्राप्त होने वाला द्वितीय चन्द्र उससे भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान के साथ नियत रूप से प्राप्त होने से वस्तु उस ज्ञान से भिन्न नहीं है जैसा "सर्वदर्शन संग्रह" (पृ० ३२) में कहा गया है—"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥"

विज्ञानवादियों के ये दोनों ही हेतु विचार करने पर बालू की दीवाल की भांति ढह जाते हैं। इनकी असारता पर बालराम की टिप्पणी[1] द्रष्टव्य है।

"अचेतनम्" सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतनाः, न तु वैनाशिकवत् चैतन्यं बुद्धेरित्यर्थः।

अर्थ—प्रधान, बुद्धि इत्यादि सभी पदार्थ जड़ हैं, न कि बुद्धि चेतन है, जैसा कि क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं।

१—यच्चोक्तं स्वप्नज्ञानवज्जागरितज्ञानमपि निरालम्बनमिति, तदपि न विचारसहं स्वप्नजागरितप्रत्यययोर्बाधाबाधाभ्यां वैधर्म्यात्स्वप्नप्रत्ययदृष्टान्तेन जाग्रत्प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वापादनस्याशक्यत्वात्। तथा चाह कृष्णद्वैपायनो भगवान् "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्र० सू० २।२।२९) इति। :—विद्वत्तोषिणीकाराः।

यश्च ज्ञानार्थयोः सहोपलम्भनियमस्तेषां भ्रान्तिकारकः, सोऽपि न विचारं सहते; तथाहि—यदि ज्ञानार्थयोः साहित्येनोपलम्भः सहोपलम्भस्तर्हि हेतुरेव विरुद्धः साहित्यस्याभेदविरुद्धभेदव्याप्तत्वेनाभेदे तदनुपपत्तेः। अथैकोपलम्भनियमः, तथापि न, 'सह' शब्दस्यैकत्ववाचकत्वाभावात्। अस्तु वैकत्ववाचकं, तथापि किमेकत्वेनोपलम्भः, आहोस्विदेकम् उपलम्भो ज्ञानार्थयोरिति। न तावदाद्यः, विषयस्य बाह्यतया ज्ञानस्य चान्तरतया एकत्वेनोपलम्भासम्भवात्; न द्वितीयः, एकोपलम्भनियमस्योपायोपेयभावहेतुकत्वेनाभेदासाधकत्वात्।

—विद्वत्तो०।

"प्रसवधर्मि"—प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते इत्यर्थः।

अर्थ—'प्रसवधर्मी' अर्थात् जिसमें 'परिणाम' धर्म (नित्य) विद्यमान रहे। यद्यपि ("धर्मादनिच् केवलात्" सूत्र के अनुसार) 'प्रसवधर्म' (प्रसवो धर्मो यस्य तत्) ही रूप प्रयुक्त होना चाहिए था, तथापि यहाँ बहुव्रीहि समास का अर्थ अभिप्रेत न होने से कारिकाकार ने इस शब्द को 'प्रसवश्चासौ धर्मश्चेति प्रसवधर्मः' इस कर्मधारय के बाद मत्वर्थीय 'इनिः' प्रत्यय के योग से बना हुआ माना है ताकि 'प्रसव-धर्म नित्य रूप से जिसमें हो'—ऐसा अर्थ निकल सके; क्योंकि इस पद से कारिकाकार को यहाँ यही अर्थ अभिप्रेत है कि व्यक्त तथा प्रधान सदृश एवं भिन्न परिणामों से कभी भी वियुक्त नहीं रहते।

व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति—तथा प्रधानमिति। यथा व्यक्तं, तथाव्यक्तमित्यर्थः॥

अर्थ—कारिकाकार व्यक्त के धर्मों का 'तथा प्रधानम्'—इन पदों के द्वारा अव्यक्त में भी आरोप करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे व्यक्त इन धर्मों से युक्त है, वैसे ही प्रधान भी।

ताभ्यां वैधर्म्यं पुरुषस्याह—"तद्विपरीतः पुमान्" इति।

स्यादेतत्—अहेतुमत्त्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवमनेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यम्, तत्कथमुच्यते "तद्विपरीतः पुमान्" इति? अत आह—"तथा च" इति। चकारोऽप्यर्थः। यद्यप्यहेतुमत्त्वादिकं साधर्म्यम्, तथाप्यत्र गुणयादिवैपरीत्यमस्त्येवेत्यर्थः॥११॥

अर्थ—इन दोनों से पुरुष की भिन्नता कहते हैं:—पुरुष इन दोनों से विपरीत (अर्थात् निर्गुण, विवेकी या असंहत, अविषय, असाधारण अर्थात् प्रतिपिण्ड विभिन्न, चेतन तथा अपरिणामी) है। परन्तु प्रधान की ही भाँति पुरुष में भी कारणहीनता और नित्यता इत्यादि और इसी प्रकार व्यक्त की ही भाँति अनेकता इत्यादि विद्यमान हैं, तब 'पुरुष इन दोनों से विपरीत है'—यह कैसे कहा गया? इसीलिए 'पुरुष उनके सदृश भी है'—ऐसा कहा। 'च' का अर्थ इस स्थल में 'भी' है। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि इसमें कारणहीनता इत्यादि समान धर्म है, तथापि निर्गुणत्व इत्यादि विरुद्ध धर्म भी है।

विशेष—गौडपाद और माठर 'पुरुषः एकः' कहते हैं, पर यह कारिकाकार के 'पुरुष-बहुत्वम्' के विरुद्ध हैं। इसलिए या तो गौडपाद ने गलती की है, या फिर, जैसा विल्सन ने कहा है, यह एकत्व इस अर्थ में समझा जाता है कि प्रत्येक 'पुरुष' अपने अनेक जन्मों में अनेक शरीर धारण करता हुआ भी एक ही रहता है।

त्रिगुणमित्युक्तम्, तत्र के ते त्रयो गुणाः, किं च तदुपलक्षणमित्यत आह—

अर्थ—पिछली कारिका में 'त्रिगुण' आया हुआ है। वे तीनों गुण कौन हैं और उनका क्या लक्षण है, इसे कहते हैं:—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

अर्थ—सत्त्व इत्यादि गुण सुख-दुःख-मोहात्मक हैं; प्रकाशन, प्रवर्तन (सञ्चालन) तथा नियमन (नियन्त्रण) इनके प्रयोजन या कार्य हैं; तथा ये एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक (परिणाम-सहकारी) एवं सहचारी होते हैं।

"गुणाः" इति परार्थाः। "सत्त्वं लघु प्रकाशकम्—" (का० १३) इत्यत्र च सत्त्वादयः क्रमेण निर्दिश्यन्ते। तदनागतावेक्षणेन तन्त्रयुक्त्या वा प्रीत्यादीनां यथासंख्यं वेदितव्यम्।

अर्थ—'गुण' का अर्थ है 'दूसरे के लिए होना'। तीनों गुण 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्...' इत्यादि आगे आने वाली १३ वीं कारिका में सत्त्वादि क्रम से कहे जाएँगे और यह सत्त्वादि-कथन भावी क्रम[1] को देखकर अथवा प्रकृत शास्त्र की युक्ति[2] के अनुसार प्रीति (सुख) इत्यादि के विषय में क्रमशः जानना चाहिए।

१—अनागतावेक्षणेन भाविनोऽपि बुद्ध्या समाकृष्यानुसन्धानं भवतीति न्यायेन इह समाकृष्य प्रीत्यादीनां प्रीत्यात्मक इत्यादीनां लक्षणानां यथासंख्यं लक्ष्य वेदितव्यमित्यर्थः।
विद्वत्तोषिणीकाराः

२—तन्त्रयुक्त्या वेति, तन्त्रं प्रकृतशास्त्रं तस्य युक्तिः 'सत्त्वादय एवात्र गुणास्ते च यथाक्रमं प्रीत्यादिधर्मकाः' इत्याकारकसङ्केतात्मिका युक्तिः तया वा सत्त्वादयोऽत्रानुसन्धेया यथासंख्यं च प्रीत्यादिभिः सम्बन्धनीया इत्यर्थः × × × तन्त्रं कर्ममीमांसाशास्त्रं तस्य युक्तिः स्थानाख्य (क्रमाख्य-) प्रमाणरूपा, तया वा यथासंख्यमन्वय इत्यर्थो वात्र ध्येयः—विद्वत्तोषिणीकाराः

विशेष—प्रस्तुत कारिका में गुणों के लक्षण, कार्य (प्रयोजन) तथा कार्य के प्रकार बताए गये हैं परन्तु उनके सत्त्व इत्यादि नामों का निर्देश नहीं किया गया है। ऐसा करना दोष है क्योंकि इस कथन से यह बात निश्चयपूर्वक ज्ञात नहीं होती कि किस गुण का कौन लक्षण और कार्य है? इसी दोष के परिहार के लिए टीकाकार ने आगे की १३ वीं कारिका में आए हुए सत्त्व इत्यादि नामों का वहीं के क्रम से प्रीत्यात्मक (सुखात्मक) इत्यादि तीनों लक्षणों से सम्बन्ध या अन्वय जोड़ने की बात कही है। इस क्रमिक सम्बन्ध को प्राप्त करने के लिए टीकाकार ने एक और उपाय बताया है, वह है 'तन्त्र-युक्ति'। इसके दो अर्थ उदासीन जी ने किए हैं—(१) प्रस्तुत सांख्यशास्त्र की युक्ति। चूँकि सांख्य में तीन ही गुण माने गए हैं और उनका कथन सत्त्व, रजस् और तमस्—इसी क्रम से होता है, अतः उनके 'प्रीत्यात्मक' इत्यादि लक्षणों को इसी क्रम से लेना चाहिए। (२) कर्म-मीमांसा शास्त्र की 'स्थान' या 'क्रम' नामक युक्ति। मीमांसा शास्त्र की इस युक्ति का तात्पर्य इतना ही है कि जिस क्रम से सम्बन्धियों की प्राप्ति हो, उसी क्रम से उनका अन्वय या सम्बन्ध करना चाहिए। पूर्वकाल में कर्ममीमांसा शास्त्र ने ग्रन्थ-पंक्तियों के ठीक व्याख्यान करने के अनेक नियम बताए थे जिनका यथावसर सभी शास्त्र वाले प्रयोग करते थे।

एतदुक्तं भवति—प्रीतिः सुखम्, प्रीत्यात्मकः सत्त्वगुणः। अप्रीतिः दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः। विषादो मोहः, विषादात्मकस्तमोगुणः इत्यर्थः।

अर्थ—तात्पर्य यह है कि 'प्रीति' का सुख अर्थ होने से सत्त्व गुण सुख-स्वरूप, 'अप्रीति' का दुःख अर्थ होने से रजोगुण दुःख-स्वरूप तथा 'विषाद' का मोह अर्थ होने से तमोगुण मोह-स्वरूप होता है।

ये तु मन्यन्ते "न प्रीतिर्दुःखाभावादतिरिच्यते, एवं दुःखमपि न प्रीत्यभावादन्यदिति," तान् प्रति "आत्म" ग्रहणम्। नेतरेतराभावाः सुखादयः, अपि तु भावाः, आत्मशब्दस्य भाववचनत्वात्। प्रीतिरात्मा भावो येषां ते प्रीत्यात्मानः। एवमन्यदपि व्याख्येयम्। भावरूपता चैषामनुभवसिद्धा। परस्पराऽभावात्मकत्वे तु परस्पराश्रयापत्तेरेकस्याऽप्यसिद्धेरुभयासिद्धिरिति भावः।

अर्थ—जो लोग यह मानते हैं कि 'सुख दुःख का अभाव-मात्र है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है; इसी प्रकार दुःख भी सुख का अभाव-मात्र है', उनका

खण्डन करने के लिए ही कारिका में 'आत्म' शब्द का ग्रहण किया गया है। सुख, दुःख इत्यादि एक-दूसरे के अभाव नहीं हैं, अपितु ये भाव-रूप हैं क्योंकि 'आत्मा'[१] शब्द 'भाव' अर्थ का वाचक होता है। वे वस्तुएँ प्रीत्यात्मक होंगी जिनका आत्मा या भाव (स्वरूप) प्रीति या सुख है। इसी प्रकार 'अप्रीत्यात्मक' तथा 'विषादात्मक' की भी व्याख्या समझनी चाहिए। इन सुख, दुःख तथा मोह की भाव-रूपता 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुखी हूँ, इत्यादि अनुभव से ही सिद्ध है। एक दूसरे के अभाव-रूप होने पर तो परस्पर आश्रित होने के कारण एक की असिद्धि होने से दोनों की असिद्धि हो जाएगी।

स्वरूपमेषामुक्त्वा प्रयोजनमाह—"प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इति। अत्रापि यथासंख्यमेव। रजः प्रवर्तकत्वात् सर्वत्र लघु सत्त्वं प्रवर्तयेत्, यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत, तमोनियतं तु क्वचिदेव प्रवर्तयतीति भवति तमो नियमार्थम्।

अर्थ—इनका स्वरूप बताकर प्रयोजन बताते हैं—ये प्रकाशन, सञ्चालन तथा नियन्त्रण के लिए हैं। यहाँ भी समास के तीनों पदों का अन्वय पूर्व क्रम से ही होना चाहिए। 'रजस्' प्रवर्तक होने के कारण यदि गुरु (भारी) 'तमस्' से नियन्त्रित न हो तो लघु (हल्के) सत्त्व को सर्वत्र चलाता रहे किन्तु 'तमस्' से नियन्त्रित होकर किसी-किसी स्थान में ही चलाता है। इस प्रकार 'तमस्' रजस् के नियन्त्रण के लिए होता है।

प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह—"अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च" इति। वृत्तिः—क्रिया, सा च प्रत्येकमभिसम्बध्यते। "अन्योन्याभिभववृत्तयः" एषामन्यतमेनार्थवशादुद्भूतेनान्यदभिभूयते। तथा हि सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते, एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम्, एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति।

अर्थ—गुणों का प्रयोजन (कार्य) बतलाकर अब उनकी प्रक्रिया बताते हैं। ये एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक (परिणाम-सहकारी), तथा सहचारी हैं। 'वृत्ति' का अर्थ क्रिया है और इसका समास के प्रत्येक पद के साथ अन्वय है[२]। अन्योऽन्याभिभववृत्तयः' अर्थात् प्रयोजन[३] वश प्रकट हुए किसी

१—'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वकोषः।

२—उपलक्षणं चैतत्, तदादौ श्रूयमाणस्य अन्योन्यपदस्यापि प्रत्येकं सम्बन्धो बोध्यः, द्वन्द्वादौ तदन्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति न्यायात्—सुषमाकाराः।

३—अर्थवशादुद्भूतेन धर्माधर्मनिमित्तकसुखादिप्रयोजनवलात् स्वकार्यजननोन्मुखेन।
—विद्वत्तोषिणीकाराः

एक के द्वारा दूसरे अभिभूत हो जाते हैं। जैसे 'सत्त्व' रजस् और तमस् को अभिभूत करके ही अपनी शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है (अर्थात् सुख इत्यादि रूप से परिणत होता है[१])। इसी प्रकार 'रजस्' सत्व और तमस् को अभिभूत करके अपनी घोर अर्थात् दुःख की वृत्ति को एवं 'तमस्' सत्त्व और रजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है।

विशेष—'अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः' का व्याख्यान करते हुए तत्वकौमुदीकार ने 'तथा हीत्यादि' के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि एक दूसरे को अभिभूत करने की क्रिया (वृत्ति) का वास्तविक या अन्तिम प्रयोजन सत्त्व इत्यादि गुणों की सुखादि रूप से परिणति ही है जिसमें प्रयोजक या निमित्त तो जीव के धर्म, अधर्म आदि हैं तथा 'अभिभव' क्रिया उस प्रयोजन की सिद्धि में साधन या माध्यम है। इस पारस्परिक अभिभव के द्वारा सत्त्व इत्यादि गुण क्रमशः पहले अपना-अपना प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन या नियन्त्रण कार्य करके ही सुखादि रूप से परिणत होते हैं। जैसे धर्म-रूप प्रारब्ध का भोग उपस्थित होने पर सत्त्व प्रबल होकर अन्य दोनों को अभिभूत करके विषय का प्रकाश करते हुए सुखादि रूप से परिणत होगा और इस प्रकार व्यावहारिक पुरुष को अपने पूर्वकृत धर्म का सुखादि भोग प्राप्त होगा। जो बात 'अभिभव' करने के विषय में सत्य है, वही आश्रय, उत्पादक (परिणाम-सहकारी) तथा सहचारी बनने के विषय में भी सत्य है। इस प्रकार अभिभव इत्यादि क्रिया-रूप होते हुए भी गुणों के वस्तुतः कार्य या प्रयोजन नहीं अपितु प्रयोजन की सिद्धि के प्रकार, उसकी प्रणाली या प्रक्रिया हैं। अतएव उपर्युक्त कारिका में 'वृत्ति' शब्द का वाचस्पति-कृत 'क्रिया' अर्थ उनके व्याख्यान के अनुरोध से प्रक्रिया या प्रकार का ही बोधक है, कार्य या प्रयोजन का नहीं। ऐसा करने से 'प्रयोजन' और 'वृत्ति'—ये दोनों एक ही भाव के द्योतक न होकर भिन्न अर्थों के बोधक होंगे, अन्यथा पुनरुक्ति सी लगती है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत संस्करण में 'वृत्ति' का 'प्रकार' अनुवाद किया गया है। डा० झा का भी उपर्युक्त स्थल का अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है:—Having thus described their funtions, the author proceeds to describe the 'method' of their operation (p. 46, para 2)

१—सुखादिशान्तां वृत्तिं प्रतिलभते प्राप्नोति, सुखादिरूपेण परिणमत इति यावत्।
—विद्वत्तोषिणी, पे० १६०

'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' । यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते, तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया स तस्याश्रयः । तथा हि—सत्त्वं प्रवृति-नियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्या इतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोरिति ।

अर्थ—(ये गुण) एक दूसरे के आश्रय बनने वाले हैं । यद्यपि यहाँ 'आधा-राधेय सम्बन्ध' अर्थ में 'आश्रय' शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं है, तथापि जिसकी क्रिया जिस पर अवलम्बित या निर्भर होती है (अर्थात् जो जिसका सह-कारी[1] है), वह उसका आश्रय कहा गया है । जैसे सत्त्व गुण रजस् और तमस् के क्रमशः प्रवर्तन और नियन्त्रण कार्यों के आश्रय या साहाय्य से होने वाले अपने (वस्तु-) 'प्रकाशन' कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है (अन्यथा रजस् और तमस् के अभाव में सत्त्व अपने 'प्रकाशन' कार्य में प्रवृत्त ही नहीं होगा) । इसी प्रकार रजस् गुण सत्त्व और तमस् के क्रमशः प्रकाशन और नियन्त्रण कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रवर्तन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व तथा तमस्) की एवं तमस् गुण सत्त्व और रजस् के क्रमशः प्रकाशन और प्रवर्तन कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'नियन्त्रण' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व और रजस्) की सहायता करता है ।

विशेष—'आश्रय' का आधार-रूप मुख्य अर्थ न लेकर 'एक दूसरे के कार्य में सहकारित्व'-रूप गौण अर्थ लेने का कारण यह है कि सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों ही गुण प्रकृति में आश्रित रहते हैं, एक दूसरे में नहीं । इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठरवृत्ति[2] तथा परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र[3] में मिलता है । जैसे तिरछे खड़े किए गए तीन दण्डों या खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घट को अपने-अपने ऊपर सम्हालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता

१—यद्यपि आधारत्वेन आश्रयार्थः मुख्य आश्रयशब्दार्थोऽत्र न घटते सम्भवति, तथापि सहकारित्वरूपो गौण आश्रयार्थोऽत्राभ्युपेय इत्यर्थः—विद्वत्तो०, पे० १६० ।

२—त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति—माठरवृत्ति, पे० २२ ।

३—इमे गुणाः परस्पराश्रयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाः यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिका-दीन् अवष्टभ्नाति ।—द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा चीनी भाषा से संस्कृत में अनूदित सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र, पे० १७।

की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं।

"अन्योन्यजननवृत्तयः" अन्यतमोऽन्यतमं जनयति। जननं च गुणानां सदृशरूपः परिणामः। अत एव न हेतुमत्त्वम्, तत्त्वान्तरस्य हेतोरभावात्। नाप्यनित्यत्वम्, तत्त्वान्तरे लयाभावात्।

अर्थ—तीनों (गुण) एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले हैं अर्थात् तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की अपेक्षा (सहायता) रखते हुए परिणाम उत्पन्न करता रहता है। 'जनन' का अर्थ यहाँ गुणों का परिणाम है और वह भी (प्रलयकालीन) स्वरूप-परिणाम या प्रकृति-रूप परिणाम। इसलिये यह परिणाम न तो किसी हेतु से उत्पन्न माना जाता है, क्योंकि जो सत्त्वादि गुण परिणाम उत्पन्न करते हैं, वे उस सदृश परिणाम से भिन्न नहीं होते; और न यह अनित्य ही है क्योंकि अपने से भिन्न किसी तत्त्व में इसका लय भी नहीं होता।

विशेष—'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' तथा 'अन्योन्यजननवृत्तयः' दोनों ही पदों का मुख्यार्थ केवल इतना है कि तीनों ही गुण एक दूसरे के कार्य में सहकारी बनते हैं। इससे पुनरावृत्ति दोष की आपत्ति होती है। इसीलिए कौमुदीकार ने 'सदृश-रूप' परिणाम कहकर यह स्पष्ट किया है कि 'परस्पर-सहकारित्व' अर्थ की दृष्टि से दोनों पदों के अर्थ में अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के विषय में कहे जाने से दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। गुणों का प्रथम सहकारित्व उनके अहङ्कार इत्यादि विरूप परिणाम की अवस्था—सृष्टि-अवस्था—के लिए कहा गया है और द्वितीय सहकारित्व सरूप अर्थात् सत्त्वादि रूप से ही परिणत होने की प्रलयकालीन अवस्था के लिए कहा गया है। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति-दोष[१] नहीं है। इस सरूप परिणाम की प्रलयकालीन अवस्था का ही नाम प्रकृति है क्योंकि इस अवस्था में तीनों गुण प्रकृति-रूप या स्व-रूप से ही अवस्थित रहते हैं, सृष्टिकालीन बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि विकृति या स्व-भिन्न तत्त्व के रूप से नहीं परिणत होते। इस प्रकार जब प्रकृति तथा तीनों गुणों में तादात्म्य या अभेद हुआ, तब कारणकार्यभाव कहाँ सिद्ध हुआ? इसीलिए प्रकृति-रूप सरूप परिणाम को अहेतु और नित्य कहा है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य विचार-

१—'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' इत्यनेन विसदृशे परिणामे अन्यतमो गुणोऽन्यतममाश्रयत इत्यभिहितम्, अत्र तु सदृशे परिणामेऽन्यतमो गुणोऽन्यतमं गुणमपेक्षत इत्युक्तमिति न पौनरुक्त्यम्। —विद्वत्तोषिणी, पे० १९१

णीय है कि जब तीनों गुणों तथा उनके प्रकृति-रूप परिणाम में कोई भेद ही नहीं है या दूसरे शब्दों में यों कहें कि जब तीनों गुण प्रलय-काल में किसी नए तत्त्व को उत्पन्न ही नहीं करते, तब उस अवस्था में व्यर्थ का परिणाम मानने से क्या लाभ ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तीनों गुणों में प्रकृत्यवस्था में कोई परिणाम या क्रिया नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टि-काल में उनमें यह परिणामशीलता या सक्रियता कहाँ से आ जाएगी ? क्योंकि सांख्यों का यह मान्य सिद्धान्त है कि 'जो जिसमें नहीं है, वह उसमें कभी भी नहीं हो सकता एवं जो जिसमें है, उसका उसमें कभी अभाव नहीं हो सकता'। यही कारण है कि दशम कारिका में इन गुणों को सक्रिय कहा गया है जिसका व्याख्यान कौमुदीकार ने 'परिस्पन्दवत्' शब्द के द्वारा किया है।

"अन्योन्यमिथुनवृत्तयः"। अन्योन्यसहचराः, अविनाभाववृत्तयः इति यावत्। 'चः' समुच्चये। भवति चाऽत्रागमः —

"अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते"॥ इति

— (दे० भा० ३।८)

अर्थ—ये परस्पर मिथुन या युग्म भाव[1] से रहते हैं। अर्थात् एक दूसरे के सहचर या एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं। कारिका का 'च' पद समुच्चयार्थक है जिसका तात्पर्य यह है कि ये गुण सर्वदा परस्पराभिभावकत्व इत्यादि धर्म से युक्त रहते हैं। इसमें देवीभागवत प्रमाण है;—सभी गुण परस्पर युग्म-भाव से रहते हैं, सभी गुण महत् इत्यादि सभी कार्यों में व्याप्त हैं, रजस् का मिथुन सत्त्व, सत्त्व का मिथुन रजस्, तमस् के भी मिथुन सत्त्व और रजस् एवं सत्त्व तथा रजस् का मिथुन तमस् कहा गया है। न इन गुणों का आरंभ है, न संयोग ही है अर्थात् अनादि होने के कारण इनका संयोग भी अनादि[2] अर्थात् सार्वकालिक है, किसी काल-विशेष में संयोग नहीं होता; एवं सर्वदा संयुक्त रहने के कारण इनका वियोग भी किसी काल में नहीं होता।

१—यथा स्त्री पुरुषश्चैव मिथुनं च परस्परम्। तथा गुणाः समायान्ति युग्मभावं परस्परम्।

२—संयोगोऽपि न लभ्यो, गुणानामनादित्वेन तत्संयोगस्याप्यनादित्वादित्यर्थः, एवं सर्वदैवाऽन्योऽन्यं संयुक्तत्वाद्वियोगोऽपि एषां नास्तीत्यर्थः।

विशेष—गौडपाद-भाष्य, माठर-वृत्ति तथा जयमंगला में 'वृत्ति' पद को कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ की भांति 'अभिभव' 'आश्रय' इत्यादि प्रत्येक के अन्त में न जोड़कर इन्हीं पदों की भांति 'अन्योन्य' पद के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वित किया गया है[1]। जयमंगला के अनुसार 'वृत्ति' का अर्थ 'सुखादि रूप से परिणति' है, गौडपाद के अनुसार 'परस्पर वर्तमान रहना' है, परन्तु माठर-वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ 'कार्य' है। 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' के परमार्थ-कृत चीनी-भाषानुवाद में भी यही अर्थ किया गया है। इस ग्रन्थ में सत्त्व का अपने कार्य के अतिरिक्त यदा-कदा रजस् और तमस् के भी कार्य करना, इसी प्रकार रजस् का स्वकार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के तथा तमस् का भी स्वकार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के कार्य करना बड़े विशद और विस्तृत ढंग से समझाए गए हैं। इस ग्रन्थ के अय्यास्वामीशास्त्री-कृत संस्कृत-अनुवाद की पंक्तियाँ इस स्थल में द्रष्टव्य हैं :—"अन्योन्यवृत्तीति। इमे त्रयो गुणाः अन्योऽन्यमर्थं कुर्वन्ति। यथा राजकुलस्त्री सुप्रियरूपशीला। अयं सत्त्वगुण उच्यते। एतत्सत्त्वपरिणतं रूपं भर्तुर्बन्धोश्च प्रीतिं करोति। इदं स्वार्थकरण-मुच्यते। (सैव) सर्वासां सपत्नीनां शोकं जनयति। इदमन्यार्थकरणमुच्यते। अन्येषां विषादमपि जनयति यथा दास्यादयः सदा तत्परिचर्याखिन्ना मोचनमल-भमाना विषादाविष्टचित्ता भवन्ति। इदमुच्यते अन्यार्थजननम्। इदमेव सत्त्व-गुणस्य स्वपरार्थकरणमुच्यते। एवं रजः स्वपरार्थं जनयति......... । एवं तमः स्वपरार्थं जनयति।"

"प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इत्युक्तम्, तत्र के ते इत्थम्भूताः कुतश्चे-त्यत आह—

अर्थ—ये गुण प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन के लिए हैं। यह पिछली कारिका में कहा गया है। परन्तु इस प्रकार के प्रयोजन या कार्य जिन गुणों के हैं, उनके क्या नाम हैं एवं किस कारण से वे इस प्रकार के हैं, यह कहते हैं :—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

अर्थ—सत्त्व हल्का अतएव प्रकाशक, रजस् प्रवृत्तिशील (चञ्चल) अतएव उत्तेजक, एवं तमस् भारी अतएव अवरोधक (नियामक) माना गया है।

१—अन्योऽन्याभिभवाः अन्योऽन्याश्रयाः अन्योऽन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च। —गौडपादभाष्यम्

एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए तीनों ही प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते हैं।

"सत्त्वम्" इति। सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः। तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं गौरवप्रतिद्वन्द्वि, यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनं भवति। तदेव लाघवं कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, यथा वायोः। एवं करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम्, गुरुत्वे हि मन्दानि स्युरिति सत्त्वस्य प्रकाशात्मकत्वमुक्तम्।

अर्थ—सांख्याचार्यों के द्वारा सत्त्व ही हल्का और प्रकाशकारी माना गया है। इनमें लघुता या हल्कापन जो गुरुता या भारीपन का विरोधी है, वस्तुओं के उर्ध्वगमन में कारण बनता है। इसी गुण के कारण अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर को उठती हैं, यही हल्कापन किसी-किसी के तिर्यगमन (lateral motion) का कारण बनता है, जैसे वायु के तिर्यगमन का। इसी प्रकार इन्द्रियों की शीघ्र-कार्यकारिता का भी कारण यही हल्कापन होता है, अन्यथा भारी होने पर वे अपने 'विषय-प्रकाशन' कार्य में शीघ्र समर्थ नहीं होंगी। इसी लघुता के कारण सत्त्व को प्रकाशक कहा गया है।

सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वकार्यप्रवृत्तिं प्रत्यवसीदन्ती रजसोपष्टभ्येते—अवसादात् प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साहं—प्रयत्नं कार्येते। तदिदमुक्तम्—"उपष्टम्भकम्" इति। कस्मादित्यत उक्तम्—"चलम्" इति। तदनेन रजसः प्रवृत्त्यर्थत्वं दर्शितम्।

अर्थ—सत्त्व और तमस् स्वयं प्रवृत्तिशील न होने के कारण अपने प्रकाशन एवं नियमन (नियन्त्रण) आदि कार्यों के उत्पादन में असमर्थ (शिथिल) होने पर रजस् के द्वारा उत्तेजित किए जाते हैं, अर्थात् शैथिल्य-रूप असामर्थ्य से हटाकर अपने-अपने कार्य में प्रयत्नशील या प्रवृत किए जाते हैं। इसीलिए रजस् 'उपष्टम्भक' या उत्तेजक कहा गया है। उत्तेजक क्यों है, इसी के उत्तर में उसे 'चल' अर्थात् प्रवृत्तिशील कहा। इसी से सिद्ध है कि रजस् प्रवर्तन के लिए है। [जैसे निरन्तर प्रवृत्तिशील प्रवाह स्वान्तर्गत तृणादि को भी प्रवृत्तिशील बना देता है, उसी प्रकार रजस् भी स्वभावतः स्थिर (अक्रियात्मक) सत्त्व तथा तमस् को भी अपने साथ चलाता रहता है, प्रवृत्तिशील किए रहता है[१]।]

१—तथा च रजसः चलतया सर्वदा प्रवृत्तिशीलत्वेन प्रवाहस्य तदन्तर्गततृणादिचालकत्वमिव रजसोऽपि सत्त्वतमसोः प्रवर्तकत्वं सङ्गतमिति भावः—सुषमा, पे० ६६।

रजस्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयत् गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा तत्र-तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन क्वचिदेव प्रवर्त्यत इति ततस्ततो व्यावृत्त्या तमो नियामकमुक्तम् "गुरु वरणकमेव तमः" इति। एवकारः प्रत्येकं भिन्नक्रमः सम्बध्यते, सत्त्वमेव, रज एव, तम एवेति।

अर्थ—सदा प्रवृत्तिशील होने के कारण त्रिगुणात्मक इन्द्रिय इत्यादि[१] को सर्वत्र प्रवृत्तिशील करने वाला रजस् भारी और अवरोधक (नियामक) तमस् के द्वारा सभी कार्यों या विषयों में उन्हें प्रवर्तित करने में असमर्थ या अवरुद्ध होने के कारण कुछ[२] ही विषयों में प्रवर्तित कर पाता है। इसीलिए अवशिष्ट विषयों में इन्द्रियादि को प्रवर्तित करने में रजस् का व्यावर्तक या अवरोधक होने के कारण तमस् को 'गुरुवरणकमेव तमः' इस पंक्ति में नियामक या अवरोधक कहा है। 'एव' पद जो ठीक क्रम से नहीं प्रयुक्त हुआ है (क्योंकि इसका अन्वय 'वरणक' पद के साथ नहीं अपितु 'तमः' के साथ है[३]), प्रत्येक के साथ—अर्थात् सत्त्व ही, रजस् ही और तमस् ही, इस प्रकार—अन्वय में आएगा।

ननु एते परस्परविरोधशीला गुणाः सुन्दोपसुन्दवत् परस्परं ध्वंसन्त इत्येव युक्तं प्रागेव तेषामेकक्रियाकर्तृताया इत्यत आह—"प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः" इति। दृष्टमेतत् यथा वर्तितैलेऽनलविरोधिनी, अथ मिलिते सहाऽनलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः। यथा च वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणलक्षणकार्यकारिणः। एवं सत्त्वरजस्तमांसि मिथो विरुद्धान्यप्यनुवर्त्स्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च।

अर्थ—'परस्पर विरोधी इन तीनों गुणों को मिलकर कोई कार्य करने के पूर्व ही[४] सुन्द और उपसुन्द नामक राक्षसों की तरह पारस्परिक अभिघात से विनष्ट हो जाना चाहिए; इसके उत्तर में कहते हैं—"प्रदीप के समान एक

१—त्रैगुण्यं त्रिगुणात्मकमिन्द्रियादि त्रयो गुणा वा; स्वस्यापि प्रवृत्तिः स्वतः एवेति तस्य त्रैगुण्यं प्रति चालकत्वमक्षतमेव। —सुषमा, पे० ६६।

२—क्वचिदेव प्रवर्त्यते घटपटादिरूपविषय एव न तु विप्रकृष्टव्यवहितयोरपि।

३—एवकारः भिन्नक्रमः इति। वरणकपदार्थेन तदर्थान्वयो न अपितु तमःपदार्थेनेत्यर्थः। —सुषमा, पे० ६६

४—प्रागेव पुरत एवेत्यर्थः। विरुद्धानामन्योन्यमेलनमेव तावदसम्भावि, मिलित्वैकार्थानुष्ठानन्तु दूरतो निरस्तमिति भावः। —विद्वत्तो०, पे० १६८।

ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये (मिलकर) कार्य करते हैं, और ऐसा देखने में भी आता है। जैसे अग्नि, बत्ती और तेल का विरोधी है। फिर भी उसके साथ मिलकर बत्ती और तैल वस्तुओं के रूप या आकार को प्रकाशित करने का कार्य करते ही हैं; अथवा[१] जैसे परस्पर विरोधी वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करने का कार्य करते हैं, उसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् भी परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर अनुकूल (मिलकर) रहते हुए अपना कार्य करते हैं।

"अर्थतः" इति। पुरुषार्थतः इति यावत्, तथा च वक्ष्यति—

"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" (का० ३१) इति।

अर्थ—'अर्थतः' अर्थात् पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए (तीनों गुण मिलकर कार्य करते हैं) जैसा कि आगे ३१ वीं कारिका में कहेंगे कि 'करणों के स्वकार्य में प्रवृत्त होने में पुरुषार्थ ही कारण है, अन्य किसी के द्वारा वे स्वकार्य में प्रवर्तित नहीं होते।'

[पीछे ११ वीं कारिका में 'त्रिगुणमविवेकि' कहकर प्रकृति तथा उसके समस्त कार्य (व्यक्त) को त्रिगुणात्मक बताया है और फिर १२ वीं तथा १३ वीं कारिकाओं में उन गुणों के नाम, रूप तथा प्रयोजन आदि बताए हैं। परन्तु इन गुणों का प्रत्यक्ष तो होता नहीं, फिर यह कैसे मानें कि ये गुण वस्तुतः हैं और एक नहीं, अनेक हैं। इसके उत्तर में कहते हैं :—]

अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा—एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः

१—अथोक्तस्थले वर्त्तितैलयोऽनलविरोधित्वेऽपि तयोः परस्परं विरोधाभावेन उक्तगुणत्रयस्य च परस्परमपि विरोधात् सर्वेषामेव परस्परविरोधिनामेकक्रियाकर्तृत्वमुक्तदृष्टान्तेन न साधयितुं शक्यमित्याशङ्क्य प्रदीपवच्चेत्यत्र अनुक्तसमुच्चयार्थकचकारेण सूचितं सर्वांशेन उक्तानुगुणं दृष्टान्तमाह—यथा चेति। —सुषमा, पे० १०० ॥

वर्त्तितैलयोः परस्परविरोधाभावात् न निखिलांशे समानमेतदुदाहरणमिति ये प्राहुस्तान् प्रति सर्वांशे परस्परविरोधित्वेन समानमुदाहरणान्तरमाह—यथा चेति।

—विद्वत्तो०, पे० १६६।

प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सव मोहयति, तत् कस्य हेतोः ? तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात्। अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः।

अर्थ—इन जागतिक पदार्थों में विद्यमान (प्राप्त होने वाले) परस्पर विरोधी सुख, दुःख तथा अज्ञान अपने अपने प्रादुर्भाव के अनुकूल ही सुखात्मक दुःखात्मक तथा अज्ञानात्मक कारणों का अनुमान कराते हैं। (इन्हीं को १३ वीं में सत्त्व, रजस् और तमस् का नाम दिया है)। और इन गुणों का अनेकत्व सुखादि के परस्पर अभिभाव्य (अभिभव या तिरोभाव को प्राप्त होने वाला) तथा अभिभावक (अभिभव या तिरोभाव करने वाला) होने के कारण है [अर्थात् चूँकि कभी सुख उत्कृष्ट हो कर अन्य दोनो का तिरोभाव करता है, कभी दुःख और कभी अज्ञान, इसलिए इनके 'कारण' एक नहीं हो सकते; क्योंकि यदि एक ही गुण सुख, दुःख, मोह का कारण मान लिया जाय तो प्रत्येक वस्तु एक ही समय में एक ही व्यक्ति को सुखदुःखमोहात्मक अनुभूत होगी। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसके विपरीत अनेक होने पर इन सत्त्वादि गुणों के उद्भूत या उत्कृष्ट होने के लिए व्यक्ति के धर्म और अधर्म की अपेक्षा रहने से व्यक्ति और वस्तु दोनों में ही कभी सत्त्व, कभी रजस् और कभी तमस् ही उद्भूत होगा। इस प्रकार वस्तु-विशेष व्यक्ति-विशेष को एक समय में एक ही प्रकार की—सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक—लगेगी, सर्वात्मक नहीं।] जैसे रूप, यौवन, कुल, शील से सम्पन्न वही स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्त्व-रूप ही प्रकट होता है। वही स्त्री सौतों को दुःख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजोरूप ही प्रकट होता है। इसी प्रकार उसे न पा सकने वाले पर पुरुष को वह मूढ़ कर देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमोरूप ही प्रकट होता है। स्त्री-पदार्थ के स्वरूप-व्याख्यान से जगत् के अन्य सभी पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट हो गया।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों का व्याख्यान सुषमाकर के अनुसार किया गया है। डा० झा का अंग्रेजी अनुवाद भी इसी भाव से किया गया है। परन्तु विद्वत्तोषिणीकार ने इनको अन्य-भाव-परक माना है। सुषमाकार ने इस व्याख्यान का उल्लेख किया है, परन्तु उसका खण्डन-मण्डन कुछ नहीं। विद्वत्तोषिणीकार ने उपर्युक्त पंक्तियों को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है :—ननु 'त्रिगुणमविवेकि'

इत्यादिना सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वाभिधानात्सर्व एव भावाः सुखदुःखमोहात्मका इत्यायातम्, एतच्च न घटते। नहि यत् यदा यस्य सुखात्मकं तत्तदा तस्य दुःखात्मकं मोहात्मकं चेत्यध्यक्षमीक्षते, यदि सर्व एव भावाः सुखदुःखमोहस्वभावा भवेयुस्तर्हि सर्वेषामविशेषेणैव सर्वेषु भावेषु सर्वात्मकं (सुखदुःखमोहात्मकं—टिप्पण्याम्) विज्ञानं स्यान्नतूपलभ्यमानं प्रतिवस्तुव्यवस्थितं,तथा चाहुर्विवेचकाः—"यदि पुनः एत एव सुखदुःखादिस्वभावा भवेयुस्ततः स्वरूपत्वाद्धेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। न हि चन्दनः कदाचिदचन्दनः। तथा निदाघेष्वपि कुङ्कुमपङ्कः सुखो भवेत्। न ह्यसौ कदाचिदकुङ्कुमपङ्क इति। एवं कण्टकःक्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। न ह्यसौ कांश्चित्प्रत्येव कण्टक इति। तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो, न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्"[1] इति। एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—"अत्रच सुखदुःखमोहा इति।"

तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यत् दुःखहेतुस्तत् दुखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः।

अर्थ—उपर्युक्त दृष्टान्त में जो पति के सुख का कारण है वह कान्ता-काय-गत सुखात्मक सत्त्वगुण है (जिसके उत्कट या उद्भूत होकर सुख का कारण बनने के लिए पति का धर्म निमित्त रूप से उपस्थित होता है), जो सपत्नियों के दुःख का कारण है, वह कान्ता-काय-गत दुःखात्मक रजोगुण है (जिसके उद्भूत होकर दुःख का कारणबनने के लिए सपत्नियों का अधर्म निमित्त रूप से अपेक्षित होता है) एवं जो प्राप्त न करने वाले पर पुरुष के मोह का कारण है, वह कान्ता-काय-गत मोहात्मक तमोगुण है (जिसके उद्भूत हो कर मोह का कारण बनने के लिए पर पुरुष का अधर्म निमित्त रूप में अपेक्षित होता है)।

सुखप्रकाशलाघवानां त्वेकस्मिन् युगपदुद्भूतावविरोधः, सह दर्शनात्। तस्मात् सुखदुःखमोहैरिव विरोधिभिः, अविरोधिभिरैकेकगुणवृत्तिभिः सुखप्रकाशलाघवैर्न निमित्तभेदा उन्नीयन्ते। एवं दुःखोपष्टम्भकत्वप्रवर्तकत्वैः,एवं मोहगुरुत्वावरणैः—इति सिद्धं त्रैगुण्यमिति

अर्थ—सुख, प्रकाशन और हल्कापन—इन तीनों के एक साथ ही एक ही पदार्थ में उद्भूत होने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे एक साथ ही (सत्त्व में) वर्तमान पाये जाते हैं। इसलिये जैसे परस्पर विरोधी (जो एक ही वस्तु के विषय में एक ही काल में एक ही पुरुष में नहीं उत्पन्न होते) सुख, दुःख तथा

१—द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र अ० २, पाद २, सू० १ पर वाचस्पतिमिश्र-कृत भामती।

मोह के अनुभवों से सत्त्व, रजस् तथा तमस्—इन परस्पर भिन्न या अनेक निमित्तों का अनुमान होता है, वैसे ही एक गुण में रहने वाले परस्पर अविरोधी सुख, प्रकाश और लाघव धर्मों से निमित्त रूप में भिन्न-भिन्न गुणों का अनुमान नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दुःख, उत्तेजकत्व तथा प्रवर्तकत्व (चालकत्व) से एवं मोह (अज्ञान), गुरुत्व तथा नियामकत्व से भी भिन्न-भिन्न गुणों का अनुमान नहीं किया जा सकता। इसलिए तीन ही गुण सिद्ध होते हैं (अधिक नहीं)।

स्यादेतत्—अनुभूयमानेषु पृथिव्यादिष्वनुभवसिद्धा भवन्त्वविवेकित्वादयः। ये पुनः सत्त्वादयो नानुभवपथमधिरोहन्ति, तेषां कुतस्त्यमविवेकित्वं विषयत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वं च? इत्यत आह—"अविवेक्यादेः' इति

अर्थ—प्रत्यक्ष होने वाले पृथ्वी इत्यादि स्थूल पदार्थों में अनुभव-गम्य अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सत्ता तो मान भी ली जा सकती है परन्तु प्रत्यक्ष न होने वाले सत्त्वाद्यात्मक अव्यक्त प्रधान तथा व्यक्त (किन्तु सूक्ष्म) बुद्धयादि पदार्थों में विवेकित्व, अविषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, परिणामित्व आदि धर्मों की सत्ता कैसे मानी जा सकती है? इसके उत्तर में "अविवेक्यादेः सिद्धिः" इत्यादि अगली कारिका कही गई है।

विशेष—मूल के "सत्त्वादयः" पद से प्रत्यक्ष न होने वाले 'अव्यक्त', 'महत्', 'अहङ्कार' तथा 'तन्मात्राएँ'—इन सभी का ग्रहण किया गया है; जैसा कि बालराम ने विद्वत्तोषिणी में (पे० २०५ पर) स्पष्ट किया है :—'सत्त्वादयः इत्यत्र सत्त्वशब्देन सत्त्वादिगुणत्रयसाम्यावस्थारूपं प्रधानं ग्राह्यम्, आदिशब्देन च महदादयो ग्राह्याः'। सुषमाकार ने भी (पे० १०२ पर) 'सत्त्वशब्देन सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थात्मकं प्रधानं बोध्यम्। आदिना महत्तत्त्वाहङ्कारादिपञ्चतन्मात्रान्तानां परामर्शः' ऐसा कहा है।

अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

अर्थ—(अव्यक्त इत्यादि सूक्ष्म पदार्थों में भी) अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि ये त्रिगुणात्मक हैं और इन धर्मों के अभाव में अव्यक्त आदि पदार्थों में तीनों गुणों का अभाव हो जाएगा। और कार्य के कारण-गुणों से ही युक्त होने से (इन अविवेकित्व आदि धर्मों के आश्रय-भूत) अव्यक्त की भी सत्ता सिद्ध होती है।

विशेष—भाव यह है कि महत्तत्त्व से लेकर पंचमहाभूतात्मक जगत् तक सभी पदार्थ सुख-दुःख-मोहात्मक दिखाई पड़ते हैं। यह गुण या धर्म इनके मूल कारण से ही इनमें आया होगा क्योंकि जो गुण कारण में नहीं होंगे, वे कार्य में कहाँ से आ टपकेंगे। यही मूल कारण 'अव्यक्त' के नाम से अभिहित होता है। इस अव्यक्त की सत्ता की सिद्धि इस प्रसङ्ग में इसलिए आवश्यक हो गई है कि जब तक आश्रय-रूप से अव्यक्त नहीं सिद्ध होता, तब तक उसमें अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सिद्धि का प्रश्न ही कहाँ उठता है और प्रस्तुत कारिका की प्रथम पंक्ति अव्यक्त इत्यादि सूक्ष्म पदार्थों में इन्हीं धर्मों को सिद्ध करने के लिए रक्खी गई है।

अविवेकित्वमविवेकि। यथा "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (पा० सू० १।४।२२) इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति, अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्।

अर्थ—'अविवेकी' पद से यहाँ 'अविवेकित्व' का ग्रहण करना चाहिए। जैसे पाणिनि के "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" सूत्र में द्वि और एक का अर्थ क्रमशः द्वित्व और एकत्व है और इस प्रकार भाव-प्रधान अर्थ लेने पर ही 'द्व्येकयोः' में द्विवचन का प्रयोग सम्भव हुआ है अन्यथा 'द्वि' तथा 'एक' शब्दों के अर्थ में बहुत्व (त्रित्व) आने से 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र के अनुसार द्व्येकेषु' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग ही होता।

कुतः पुनरविवेकित्वादेः सिद्धिरित्यत आह—"त्रैगुण्यात्" इति। "यद्यत् सुखदुःखमोहात्मकं तत्तदविवेकित्वादियोगि, यथेदमनुभूयमानं व्यक्तम्—" इति स्फुटत्वादन्वयो नोक्तः।

अर्थ—(अव्यक्त इत्यादि अप्रत्यक्ष पदार्थों में) अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की सिद्धि किस हेतु से होती है? इसके उत्तर में कहा—त्रिगुणात्मक होने से। 'जो जो पदार्थ त्रिगुणात्मक होंगे वे वे अविवेकित्व इत्यादि धर्मों से युक्त होंगे, जैसे प्रत्यक्ष होने वाले ये (त्रिगुणात्मक) व्यक्त पदार्थ (अविवेकित्व इत्यादि से युक्त देखे जाते हैं)। स्पष्ट होने के कारण यह अन्वय-व्याप्ति शब्दों द्वारा नहीं कही गई।

व्यतिरेकमाह—"तद्विपर्ययाभावात्" इति। अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे त्रैगुण्याभावात्। अथवा व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकृत्यान्वयाभावेनावीत एव हेतुस्त्रैगुण्यादिति वक्तव्यः।

अर्थ—अब व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं—'उनके अभाव में अभाव होने से'। अर्थात् जहाँ अविवेकित्व इत्यादि का अभाव होगा, वहाँ तीनों गुणों का

भी अभाव हो जाएगा, जैसे 'पुरुष' में (अविवेकित्व आदि का अभाव होने से त्रिगुणत्व का भी अभाव है)। अथवा[1] यह कहना चाहिए कि व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों को पक्ष मान लेने पर (उदाहरण के अभाव के कारण) अन्वय-व्याप्ति का अभाव हो जाने से 'त्रैगुण्यात्' पद के द्वारा व्यतिरेक-व्याप्ति ही दी गई है।

स्यादेतत्—अव्यक्तसिद्धौ सत्यां तस्याविवेकित्वादयो धर्माः सिध्यन्ति, अव्यक्तमेव त्वद्यापि न सिध्यति, तत्कथमविवेकित्वादिसिद्धिरत आह—"कारणगुणात्मकत्वात्" इति।

अयमभिसन्धिः—कार्यं हि कारणगुणात्मकं दृष्टम्, यथा तन्त्वादिगुणात्मकं पटादि। तथा महदादिलक्षणेनापि कार्येण सुखदुःखमोहरूपेण स्वकारणं सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानमव्यक्तं सिद्धं भवति।

अर्थ—अव्यक्त के सिद्ध होने पर ही उसके अविवेकित्व इत्यादि धर्म उसमें सिद्ध हो सकते हैं परन्तु अभी तक अव्यक्त ही सिद्ध नहीं हुआ तो उसमें अविवेकित्व इत्यादि कैसे सिद्ध हो सकते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—कार्य के कारण-गुणों से ही युक्त होने के कारण अव्यक्त भी सिद्ध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि कार्य कारण-गुणों से ही युक्त देखा जाता है, जैसे पट आदि कार्य स्वकारण-भूत तन्तुओं के गुणों से युक्त। उसी प्रकार सुखदुःखमोहात्मक महत्तत्त्व आदि कार्यों से सुखदुःखमोहात्मक (त्रिगुणात्मक) अव्यक्त उनका कारण सिद्ध होता है।

स्यादेतत्—'व्यक्तात् व्यक्तमुत्पद्यते' इति कणभक्षाक्षचरणतनयाः। परमाणवो हि व्यक्ताः, तेभ्यो द्व्यणुकादिक्रमेण पृथिव्यादिलक्षणं कार्यं व्यक्तमारभ्यते। पृथिव्यादिषु च कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः। तस्मात् व्यक्तात् व्यक्तस्य तद्गुणस्य चोत्पत्तेः कृतमदृष्टचरेणाव्यक्तेनेत्यत आह—'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि।

अर्थ—परन्तु वैशेषिकों तथा नैयायिकों का मत है कि व्यक्त से ही व्यक्त की उत्पत्ति होती है। परमाणु व्यक्त पदार्थ हैं। उनसे द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि

१—यदा स्थूलेषु भावेषु अविवेकित्वत्रिगुणत्वे सिद्धवत्कृत्वातीन्द्रियं प्रधानादिकमेव पक्षीक्रियते, तदा त्रैगुण्यादिति हेतुरन्वय्यपि सम्भवति। यदा तु सकलमेव व्यक्ताव्यक्तरूपं तत्त्वं पक्षीक्रियते, तदा पक्षातिरिक्तान्वयसहचारोदाहरणस्थलाभावेन व्यतिरेक्येव हेतुस्त्रैगुण्यादित्याशयेनाह—'अथवा' इति। —विद्वत्तो० पे० २०६,

के क्रम से पृथ्वी, जल इत्यादि व्यक्त कार्य उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी इत्यादि में कारण-गुणों के क्रम से ही रूप इत्यादि की भी उत्पत्ति होती है। इसलिए व्यक्त से ही व्यक्त तथा उसके गुणों की उत्पत्ति संगत होने से सर्वथा अप्रामाणिक अव्यक्त को क्यों माना जाय? इसके उत्तर में 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि अग्रिम कारिका कही गई है।

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥
कारणमस्त्यव्यक्तम्, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

अर्थ—महदादि कार्यों के (१) परिमित होने, (२) कारण के सदृश होने, (३) कारण की शक्ति से उत्पन्न होने, (४) कारण से ही आविर्भूत होने, तथा (५) उसी में तिरोभूत होने से सबका एक कारण 'अव्यक्त' अवश्य है, जो अपने तीनों गुणों के स्वरूप से, एवं एक-एक गुण के प्राधान्य से उत्पन्न अनेकत्व के कारण जल की तरह विविध परिणामों के योग से तीनों के मिश्रित रूप से भी परिणत होता (कार्य करता) रहता है।

भेदानां[1]—विशेषाणां महदादीनां भूम्यन्तानां कार्याणां कारणं—मूलकारणमस्त्यव्यक्तम्। कुतः? "कारणकार्यविभागदविभागाद्वैश्वरूप्यस्य"। कारणे सत् कार्यमिति स्थितम्। तथा च यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते—'इदं कूर्मशरीरं,एतान्येतस्याङ्गानि'—इति, एवं निविशमानानि तस्मिन्नव्यक्तीभवन्ति; एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाऽऽविर्भवन्ति विभज्यन्ते। सन्त्येव पृथिव्यादीनि कारणात्तन्मात्रादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते,सन्त्येव च तन्मात्राण्यहङ्कारात् कारणात्, सन्नेवाहङ्कारः कारणान्महतः, सन्नेव च महान् परमाव्यक्तात्। सोऽयं कारणात् परमाव्यक्तात् साक्षात् पारम्पर्येणान्वितस्य विश्वस्य कार्यस्य विभागः।

अर्थ—महत्तत्त्व से लेकर भूमि-पर्यन्त कार्यों का कारण अर्थात् मूल कारण अव्यक्त है। क्यों? (सृष्टि-काल में) 'कारण से ही कार्य के आविर्भूत होने तथा (संहार-काल में) उसी में तिरोभूत होने के कारण'। यह सिद्ध हो चुका

१—भिद्यन्ते परस्परं व्यावृत्ताः प्रतीयन्ते इति भेदाः कार्याणि महदादीनि।
—विद्वत्तो० पे० २०८।

है कि कार्य आविर्भूत होने के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्) रहता है, और ऐसा होने पर जैसे कूर्मशरीर में विद्यमान अङ्ग बाहर निकलने पर 'यह कूर्म का शरीर है और ये इसके अंग हैं' इस प्रकार पृथक् प्रतीत होते हैं तथा उसमें प्रविष्ट होने पर फिर अव्यक्त या गुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कारणभूत मृत्पिण्ड या सुवर्ण-पिण्ड में विद्यमान घट, मुकुट इत्यादि कार्य उनसे आविर्भूत या प्रकट होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं, और सत् ही पृथिवी इत्यादि कार्य स्वकारण तन्मात्र से प्रकट होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं, एवं सत् ही तन्मात्राएँ स्वकारण अहंकार से, सत् ही अहंकार स्वकारण महत्तत्व से, तथा सत् ही महत्तत्व परम अव्यक्त से आविर्भूत होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं। परम अव्यक्त रूप कारण से साक्षात्[1] एवं परम्परया सम्बद्ध समस्त कार्य-समूह का यही विभाग है।

प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो विशन्तोऽव्यक्तीभवन्ति। तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्याव्यक्तं भवति। एवं पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्तः स्वापेक्षया तन्मात्राण्यव्यक्तयन्ति। एवं तन्मात्राण्यहंकारं विशन्त्यहङ्कारमव्यक्तयन्ति, एवमहङ्कारो महान्तमाविशन् महान्तमव्यक्तयति, महान् प्रकृतिं स्वकारणं विशन् प्रकृतिमव्यक्तयति। प्रकृतेस्तु न क्वचिन्निवेश इति सा सर्वकार्याणामव्यक्तमेव। सोऽयमविभागः प्रकृतौ, वैश्वरूप्यस्य नानारूपस्य कार्यस्य, स्वार्थिकः ष्यञ्। तस्मात् कारणे कार्यस्य सत एव विभागाविभागाभ्यामव्यक्तं कारणमस्ति।

अर्थ—इसके विपरीत जैसे घट, मुकुट इत्यादि (टूटने पर) मृत्पिण्ड या सुवर्ण-पिण्ड में मिलकर अव्यक्त (गुप्त या तिरोहित) हो जाते हैं और इस अव्यक्त हुए कार्य की दृष्टि से ही उसका कारण (मृत्पिण्ड आदि) अव्यक्त[2] होता है। इसी प्रकार प्रलय-काल में तन्मात्राओं में लीन होने वाले पृथिवी इत्यादि 'भूत' अपनी अपेक्षा तन्मात्राओं को अव्यक्त[3] सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार अहंकार में लीन होने वाली तन्मात्राएँ उसको अव्यक्त (सिद्ध) करती हैं। एवं महत्तत्व में लीन होने वाला अहंकार उसको अव्यक्त सिद्ध

१—साक्षादिति महत्तत्त्वमभिप्रेत्य तदितरकार्याभिप्रायेण पारम्पर्येति—सुषमा०, पे० १०५

२—यत् संहारे स्वस्वकारणे तिरोभूतं सत्कार्यमनभिव्यक्तं भवत्यतस्तादृगनभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्यैव तत्तत्कारणमव्यक्तमित्युच्यते न तु प्रधानवन्मुख्यमव्यक्तत्वमादायेत्यर्थः—विद्वत्तो०, पे० २१०।

३—लीयानभिव्यक्ततावस्थापेक्षया तन्मात्राण्यव्यक्तानि कुर्वन्तीत्यर्थः।—विद्वत्तो०, पे०२१०.

करता है। और अपने कारण 'प्रकृति' में लीन होने वाला महत् तत्त्व उसको अव्यक्त (सिद्ध) करता है। प्रकृति का अन्य किसी में लय या तिरोभाव होता ही नहीं, इसीलिये वह सभी कार्यों का परम अव्यक्त (मूल कारण) है। यही अनेक-रूप कार्यों का प्रकृति में लय है। "वैश्वरूप्य" शब्द 'विश्वरूप' शब्द से अपने ही अर्थ अर्थात् 'विविध' या 'अनेक' अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगाने से बना है। इस प्रकार कारण से सत् कार्य के आविर्भाव तथा कारण में उसके तिरोभाव या लय से 'अव्यक्त' (प्रकृति) परम कारण सिद्ध होता है।

इतश्चाव्यक्तमस्तीत्याह—"शक्तितः प्रवृत्तेश्च" इति। कारणशक्तितः कार्यं प्रवर्तत इति सिद्धम्, अशक्तात् कारणात् कार्यस्यानुपपत्तेः। शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याव्यक्तत्वादन्या, न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्तताया अन्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति। अयमेव हि सिकता-भ्यस्तिलानां तैलोपादानानां भेदो यदेतेष्वेव तैलमस्त्यनागतावस्थं, न सिकतास्विति।

अर्थ—इस (अन्य) हेतु से से भी 'अव्यक्त' महत् आदि कार्यों का मूल कारण सिद्ध होता है, यह कहते हैं :—'शक्तितः प्रवृत्तेश्च' अर्थात् शक्ति से कार्य के उत्पन्न होने के कारण भी 'अव्यक्त' मूल कारण सिद्ध होता है। यह तो पूर्व ही सिद्ध हो चुका है कि कारण की शक्ति से कार्य उत्पन्न होता है, क्यों कि असमर्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती और कारण में स्थित शक्ति उसमें कार्य के अव्यक्त रूप से रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योंकि कारण में कार्य को सत् मानने पर कार्य की अव्यक्तता से भिन्न किसी कारण-शक्ति को मानने में कोई प्रमाण ही नहीं है। तैल के कारण-भूत (उपा-दानभूत) तिलों की बालुका से यही विशिष्टता है कि इन्हीं (तिलों) में अव्यक्त (गुप्त) रूप से तैल है, बालुका में नहीं।

विशेष—ऊपर दिये गए हेतु का पूर्ण रूप[1] यह होगा। जैसे घट, पट, तैल आदि सभी कार्य विशिष्ट शक्तियों से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही महत् तत्त्व इत्यादि कार्य भी किसी शक्ति-विशेष से उत्पन्न होते होंगे। एवं जैसे घट, पट, तैल आदि को उत्पन्न करने वाली शक्तियों के आश्रय मृत्पिण्ड, तन्तु तथा तिल इत्यादि होते हैं जो उनके कारण कहे जाते हैं, उसी प्रकार महत् तत्त्व आदि

१—'महत्तत्त्वादिकं शक्तिरूपाव्यक्तावस्थाजन्यं कार्यत्वात् घटवत्' इति अनुमानेन अव्यक्ता-वस्थारूपशक्तिसिद्धौ 'सा शक्तिः क्वचिदाश्रिता शक्तित्वात् (घटोत्पादकशक्तिवत्)' इति रीत्या तादृशक्त्याश्रयतया प्रधानसिद्धिरिति भावः। —सुषमा, पे० १०२

को उत्पन्न करने वाली शक्ति का भी अवश्य ही कोई तत्त्व आश्रय होगा जो महत् आदि का कारण होगा। यही तत्त्व अव्यक्त या प्रकृति कहा जाता है।

स्यादेतत्—शक्तितः प्रवृत्तिः कारणकार्यविभागाविभागौ च महत एव परमाव्यक्तत्वं साधयिष्यतः, कृतं ततः परेणाव्यक्तेनेत्यत आह—"परिमाणात्"। इति। परिमितत्वात्, अव्यापित्वादिति यावत्। विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात् घटादिवत्। घटादयो हि परिमिताः मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः। उक्तमेतद्यथा कार्यस्याव्यक्तावस्था कारणमेवेति यन्महतः कारणं तत् परमाव्यक्तम्, ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

अर्थ—कारण-शक्ति से कार्य के उत्पन्न होने तथा कारण से कार्य के आविर्भाव एवं उसी में उसके तिरोभाव (लय) होने से कारण की परमाव्यक्तता ही सिद्ध होती है जो कि (प्रधान या प्रकृति ही में है, यह न सिद्ध होने से) महत् तत्त्व में भी मानी जा सकती है। फिर महत् तत्त्व से भिन्न प्रकृति नामक अव्यक्त मानने से क्या लाभ? इसके उत्तर में कहते हैं:—'परिमाणात्' अर्थात् 'महत् आदि कार्यों के परिमित या अव्यापी[1] (परिच्छिन्न) होने के कारण'। परिच्छिन्न होने के कारण विवाद-ग्रस्त महत् इत्यादि कार्यों का 'अव्यक्त' (प्रकृति) रूप कारण अवश्य होगा, जैसे परिच्छिन्न घट इत्यादि का उनकी अपेक्षा अव्यक्त मृत्पिण्ड इत्यादि कारण देखा जाता है। कार्य की अव्यक्तावस्था ही कारण है, यह तो पहले ही कहा जा चुका है। इसलिए जो महत् तत्त्व का कारण है, वह परम अव्यक्त है क्योंकि उससे भी पर अव्यक्त की कल्पना में कोई प्रमाण[2] नहीं है। [परम अव्यक्त से परतर अव्यक्त में भी पूर्ववत् अनुमान प्रमाण मानने से यह दोष होगा कि जहाँ महत् आदि कार्य अव्यापी हैं, वहाँ अव्यक्त अव्यापी या परिच्छिन्न नहीं है।]

इतश्च विवादाध्यासिता भेदाः अव्यक्तकारणवन्तः, "समन्वयात्"। भिन्नानां समानरूपता समन्वयः। सुखदुःखमोहसमन्विता हि बुद्ध्यादयोऽध्यवसायादिलक्षणाः प्रतीयन्ते। यानि च यद्रूपसमनुगतानि,

१—निखिलं परिणामिनं न व्याप्नोति इति अव्यापि, तस्य भावः तत्त्वं (अव्यापित्वं), तस्मादित्यर्थः। —विद्वत्तो०, पृ० २१२

२—ननु प्रधानमपि यत्किञ्चिदव्यक्तकारणकं भवितुमर्हति अव्यक्तत्वान्महदादिवदित्यनुमानेनान्यत्परतरमव्यक्तं कुतो न कल्प्यत इत्याशङ्क्यास्यानुमानस्याव्यापित्वरूपोपाधिग्रस्तत्वेनाप्रमाणत्वादित्यभिप्रेत्य समाधत्ते "ततः परातराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्" इति। —विद्वत्तो०, पे० २१४

तानितत्स्वभावाव्यक्तकारणकानि, यथा मृद्धेमपिण्डसमनुगता घटमुकुटादयो मृद्धेमपिण्डाव्यक्तकारणका इति कारणमस्त्यव्यक्तं भेदानामिति सिद्धम्।

अर्थ—महत् तत्त्व आदि विवाद-ग्रस्त कार्यों का 'अव्यक्त' कारण है, इसमें 'समन्वय' भी एक हेतु है। 'समन्वय' का अर्थ है—विभिन्न पदार्थों की अनुरूपता या सदृशता। निश्चय-स्वरूप बुद्धि इत्यादि सुखदुःखमोहात्मक प्रतीत होते हैं। जो वस्तुएँ जिसके सदृश होती हैं, उनका कारण उसी स्वभाव वाली (उनकी अपेक्षा) अव्यक्त (सूक्ष्म) वस्तुएँ होती हैं। जैसे मिट्टी और सोने के पिण्ड में समवेत घट, मुकुट इत्यादि के 'कारण' उनके अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप मिट्टी और सोने के पिण्ड ही होते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि समस्त कार्यों का 'अव्यक्त' ही कारण होता है।

अव्यक्तं साधयित्वा तस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—"प्रवर्तते त्रिगुणतः" इति। प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावा हि गुणा नाऽपरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते। तदिदमुक्तं—"त्रिगुणतः" इति।

अर्थ—अव्यक्त की सत्ता सिद्ध करके अब उसके कार्य या परिणाम की प्रणाली कहते हैं—'प्रवर्तते त्रिगुणतः' अर्थात् यह अव्यक्त तीनों गुणों के ही रूप से परिणत होता है। प्रलय-काल में सत्त्व, रजस् तथा तमस् सदृश अर्थात् स्वीय रूप से ही परिणत होते रहते हैं क्योंकि स्वभाव से सदा परिणामी गुण बिना परिणत हुए तो क्षण भर भी नहीं रह सकते। इसलिए प्रलय में भी सत्त्व सत्त्वरूप से, रजस् रजोरूप से एवं तमस् तमोरूप से परिणत होता रहता है। इसी परिणाम के लिए कारिकाकार ने कहा कि 'त्रिगुणतः' अर्थात् अव्यक्त तीनों गुणों के रूप से परिणत होता रहता है।

प्रवृत्त्यन्तरमाह—"समुदयाच्च" इति। समेत्य उदयः 'समुदयः'—समवायः। समुदयश्च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति, न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना, न च वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावादृते, इति महदादिभावेन प्रवृत्तिर्द्वितीया।

अर्थ—अब दूसरे प्रकार का (अर्थात् सृष्टि-रूप) कार्य कहते हैं—'समुदयाच्च' अर्थात् यह अव्यक्त तीनों गुणों के मिश्रित रूप से भी कार्य करता रहता है। 'समुदय' का अर्थ है—'समेत्य उदयः' अर्थात् सम्मिश्रित रूप से आविर्भाव

अथवा तीनो का समवाय[१]। परन्तु गुणों का सम्मिश्रण उनके गुण-प्रधान या अङ्गाङ्गि भाव के विना असम्भव है और यह गुण-प्रधान भाव भी वैषम्य या न्यूनाधिक्य के विना एवं यह न्यूनाधिक्य भी अभिभाव्याभिभावक भाव के विना असम्भव है। इस प्रकार (गुणों के अङ्गाङ्गी[२] होने से) महत् आदि रूप से होने वाला कार्य या परिणाम दूसरे प्रकार का है।

विशेष—ऊपर प्रकृति के द्विविध अर्थात् सदृश और विषम परिणाम या कार्य बताए गए हैं। इनमें से प्रथम प्रलय-कालीन तथा द्वितीय सृष्टि-कालीन है। जब प्रकृति के गुण साम्यावस्था में रहते हैं, तब प्रलय रहता है क्योंकि तब सत्त्व सत्त्व-रूप से, रजस् रजोरूप से, और तमस् तमोरूप से परिणत होता रहता है। जब यह साम्यावस्था नष्ट होती है, अर्थात् प्रकृति के गुणों में वैषम्य या अङ्गाङ्गिभाव आ जाता है, तब महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, पञ्चभूत, इन्द्रियों इत्यादि की सृष्टि होती है क्योंकि तब तीनों गुण विभिन्न अंशों में सम्मिश्रित होकर विभिन्न परिणाम उत्पन्न करते हैं। जैसे सात्त्विक (सत्त्व-प्रधान) अहङ्कार, प्रकाशक इन्द्रियों को तथा तामस (तमः-प्रधान) अहङ्कार जड़ तन्मात्रों को उत्पन्न करता है। मूल के 'त्रिगुणतः' से प्रथम तथा 'समुदयात्' से द्वितीय प्रकार की सृष्टि का कथन किया गया है।

स्यादेतत्—कथमेकरूपाणां गुणानामनेकरूपा प्रवृत्तिरित्यत आह—"परिणामतः सलिलवत्" इति। यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीबिल्वचिरबिल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थफलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्याऽप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति। तदिदमुक्तम्—"प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्"। एकैकगुणाश्रयेण यो विशेषस्तस्मादित्यर्थः।

१—समुदयपर्यायमाह—समवाय इति। समवायश्चात्र परस्परसम्मिश्रणं, न तु तार्किकाभिमतः सम्बन्धविशेषः, "न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्" इति सांख्यसूत्रात् (५।९९) इति बोध्यम्।—विद्वत्तोषिणी, पे० २१६

२—तथा च अनागतावस्थपुरुषार्थवशात् गुणेषु क्षोभो जायते ततश्च तेषु कश्चन उपसर्जनभूतः कश्चन प्रधानभूतः इति सर्वे मिलित्वा महदादिरूपेण प्रवर्तन्ते। सेयं महत्तत्त्वाद्यनुकूला प्रवृत्तिः द्वितीया अत एव च महत्तत्त्वादौ सत्त्वस्य प्राधान्यमितरयोश्चाङ्गत्वमिति। —सुषमा

अर्थ—परन्तु (प्रलयकाल में) एकरूप (अर्थात् स्वरूपतः परिणत होते हुए) गुणों के (सृष्टिकाल में) विविध कार्य कैसे होने लगते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—'जल की तरह परिणामों के द्वारा'। जैसे मेघ का जल एकरस (एक सा) होने पर भी पृथ्वी के नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, वेल, चिरबिल्व, तिन्दुक (इमली), आँवला, प्राचीनामलक, कैंथ इत्यादि का रस बन जाने पर मीठे, खट्टे, नमकीन, तिक्त, कषैले, तथा कड़ुवे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी प्रकार (प्रत्येक काल में) एक ही एक गुण का अविर्भाव होने से प्राधान्य-प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं। इसी को कारिकाकार ने कहा—'प्रतिप्रति-गुणाश्रयविशेषात्' अर्थात् 'एक एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या अनेकत्व के कारण' अव्यक्त विविधि-परिणामी होता है।

विशेष—ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि जैसे एक ही जल अनेक भू-विकारों को प्राप्त करके अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक गुण प्रलय-काल में एकविध होने पर भी सृष्टि-काल में अङ्गाङ्गि-भाव को प्राप्त होने से विविध परिणाम उत्पन्न करता है। पर इससे एक बात स्पष्ट नहीं होती; वह यह कि जल के विविध परिणाम में तो भू-विकार कारण है जो पूर्वतः स्वतः सिद्ध है, पर गुणों के विविध परिणाम में कारण बनने वाला उनका अङ्गाङ्गि या गुण-प्रधान भाव तो पूर्वतः सिद्ध नहीं है क्योंकि सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय-काल में वे एकविध थे, कोई गौण और कोई प्रधान—इस रूप से नहीं थे, फिर यह गुण-प्रधान भाव किस निमित्त से आया ? इसका उत्तर पीछे की १३ वीं कारिका के "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" शब्दों से प्राप्त होता है। आगे की ३१ वीं कारिका के 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' में भी यही बात कही गई है। पुरुष के स्व-कृत कर्मों के भोगोन्मुख होने पर उसके भोग एवं अपवर्ग इत्यादि प्रयोजन की सिद्धि के लिए गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे न्यूनाधिक्य या गौण-प्रधान भाव उत्पन्न होता है, और उससे विविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है।

[पर जिस पुरुष के भोगापवर्ग-रूप अर्थ की सिद्धि के लिये गुणों में क्षोभ एवं उसके द्वारा विविध सृष्टि बताई गई है, उसी में कोई प्रमाण नहीं है। फिर उसके असिद्ध होने पर पुरुषार्थ की असिद्धि होने से सृष्टि ही असिद्ध हो जाएगी। इसलिये पुरुष की सत्ता में प्रमाण-भूत अगली कारिका का प्रस्ताव करते हुये कौमुदीकार कहते हैं :—]

ये तु तौष्टिका अव्यक्तं वा महान्तं वाऽहङ्कारं वा इन्द्रियाणि वा भूतानि वाऽत्मानमभिमन्यमानास्तान्येवोपासते, तान् प्रत्याह—संघातपरार्थत्वादिति।

अर्थ—परन्तु स्वल्प से ही सन्तुष्ट[1] रहने वाले जो साधक अव्यक्त, महत् तत्त्व, अहंकार, इन्द्रियों अथवा भूतों में ही किसी एक को आत्मा मानते हुये इन्हीं की उपासना करते हैं, उनके मत का खण्डन करने के लिये 'संघातपरार्थत्वात्...' इत्यादि कारिका कही गई है।

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

अर्थ—सभी संघातों के दूसरों के लिए होने, त्रिगुणत्व इत्यादि का अभाव होने, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिये (चेतन) अधिष्ठाता एवं भोक्ता की अपेक्षा होने, एवं कैवल्य या मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होने के कारण पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है।

"संघातपरार्थत्वात्" इति। पुरुषोऽस्ति, अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः। कुतः? "संघातपरार्थत्वात्"। अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः संघातत्वात्, शयनासनाभ्यङ्गादिवत्। सुखदुःखमोहात्मकतयाऽव्यक्तादयः सर्वे संघाताः।

अर्थ—अव्यक्त इत्यादि से पृथक् पुरुष की सत्ता है, क्योंकि सभी संघात (वस्तु-समुदाय) किसी दूसरे के लिये होते हैं। अव्यक्त, महत् और अहंकार इत्यादि संघात होने के कारण दूसरे के लिये हैं; जैसे शयन, आसन, अङ्गराग (लेप) इत्यादि। अव्यक्त इत्यादि 'संघात'[2] इसलिये हैं कि उनमें सुख, दुःख, और मोह तीनों हैं।

स्यादेतत्—शयनासनादयः संघाताः संहतशरीराद्यर्था दृष्टाः, न त्वात्मानमव्यक्ताद्यतिरिक्तं प्रति परार्थाः। तस्मात् संघातान्तरमेव परं गमयेयुः, न त्वसंहतमात्मानमित्यत आह—"त्रिगुणादिविपर्ययात्" इति।

अर्थ—परन्तु शयन, आसन इत्यादि संघात शरीर इत्यादि संघात के लिये ही देखे जाते हैं, अव्यक्त इत्यादि से भिन्न पुरुष के लिये नहीं। इसलिये ये संघात

१—तुष्टिः प्रकृत्यादिषु लयमात्र एव कृतकृत्यतारूपा तृप्तिः, सैव प्रयोजनं येषां ते तौष्टिकाः। 'बाह्या विषयोपरमात् पञ्च' इति (५० आर्यायाम्) वक्ष्यमाणबाह्यतुष्टिमन्तः इत्यर्थः—विद्वत्तो०, पे० २२१—२२

२—संहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके विशेषा यत्रासौ संघातः।—विद्वत्तो०, पे० २२३। संहन्यन्ते मिश्रीभवन्त्यनेके सुखादयो यत्रेति संघातः—किरणावली।

'पर' अर्थात् अपने से भिन्न दूसरे संघात का ही अनुमान कराते हैं, असंहत पुरुष का नहीं। इसके उत्तर में कहते हैं कि—'त्रिगुण इत्यादि का पुरुष में अभाव होने से' (उसे संघात नहीं कह सकते।)

अयमभिप्रायः, संघातान्तरार्थत्वे हि तस्यापि संघातत्वात् तेनापि संघातान्तरार्थेन भवितव्यम्। एवं तेन तेनेत्यनवस्था स्यात् न च व्यवस्थायां सत्यामनवस्था युक्ता, कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। न च 'प्रमाणवलेन कल्पनागौरवमपि मृष्यते' इति युक्तम्, संहतत्वस्य पारार्थ्यमात्रेणाऽन्वयात्। दृष्टान्तदृष्टसर्वधर्मानुरोधेन त्वनुमानमिच्छतः सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्ग इत्युपपादितं न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः।

अर्थ—इसका अभिप्राय यह है कि अव्यक्त इत्यादि संघात को दूसरे संघात के लिए मान लेने पर, संघात होने के कारण इस दूसरे को तीसरे संघात के लिए मानना पड़ेगा। इसी प्रकार इसे भी अन्य संघात के लिए और फिर उसे भी अन्य के लिए मानते जाने पर अव्यवस्था होगी और अन्य प्रकार से व्यवस्था के सम्भव होने पर अव्यवस्था[1] मानना ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें कल्पना की क्लिष्टता का दोष आ जाएगा; और यह कहना कि 'प्रमाण-प्राप्त अव्यवस्था में होने वाली कल्पना की क्लिष्टता भी क्षम्य है' ठीक नहीं है, क्योंकि 'अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः संघातत्वात् शयनासनादिवत्'—इत्यादि अनुमान में 'संघातत्व' की अन्वय-व्याप्ति या साहचर्य केवल 'परार्थत्व' के साथ है, 'संहत-परार्थत्व' के साथ नहीं (एवं इस 'संघातत्व' हेतु से 'पर के लिए होने' का ही अनुमान होता है, 'संहत पर अर्थात् पुरुष के लिए होने' का नहीं।) उदाहरण में प्राप्त होने वाले सभी धर्मों का दार्ष्टान्तिक (प्रस्तुत विषय या पक्ष) में अनुमान करने से तो किसी प्रकार का अनुमान हो ही नहीं सकता।[2] इसे हमने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में सविस्तर प्रतिपादित किया है।

१—संघातत्वहेतोः पारार्थ्यमात्रसाधन उपक्षीणत्वेन संघातान्तरार्थत्वसाधने विशेषतो व्यापाराभावेनासंहतपरार्थत्वसिद्धिरूपायां व्यवस्थायां सम्भवन्त्यामनवस्थाकल्पना न युक्तेत्यर्थः, अयुक्तत्वे हेतुः कल्पनागौरवात्—पारार्थ्यमात्रसाधनापेक्षया संहतपारार्थ्यसाधनस्य गौरवग्रस्तत्वादित्यर्थः—विद्वत्तो०, पे० २२४

२—द्रष्टव्य डा० झा-कृत अनुवाद, पृष्ठ ६१, फुटनोट १:—Because there can scarcely be found any two occurrences in nature which could be quite identical. Even in the stock example of the Naiyayikas—

तस्मादनवस्थाभियाऽस्यासंघातत्वमिच्छताऽत्रिगुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसामान्यत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्चाऽभ्युपेयम्। त्रिगुणत्वादयो हि धर्माः संहतत्वेन व्याप्ताः। तत्संहतत्वमस्मिन् परे व्यावर्तमानं त्रैगुण्यादि व्यावर्तयति, ब्राह्मणत्वमिव व्यावर्तमानं कठत्वादिकम्। तस्मादाचार्येण 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' इति वदताऽसंहतः परो विवक्षितः, स चाऽऽत्मेति सिद्धम्।

अर्थ—इसलिए अव्यवस्था के भय से इस 'पर' अर्थात् पुरुष को संघात से भिन्न मानने पर उसे निगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन, एवं अपरिणामी मानना ही पड़ेगा क्योंकि त्रिगुणत्व इत्यादि धर्म संहतत्व से व्याप्त हैं अर्थात् जो कुछ त्रिगुण, अविवेकी इत्यादि हैं, वह सभी 'संघात' अवश्य होगा। एवं पुरुष के विषय में अविद्यमान वह संहतत्व उसमें त्रिगुणत्व इत्यादि का भी अभाव सिद्ध करता है (क्योंकि जो संघात न होगा, वह सत्र त्रिगुण, अविवेकी आदि भी न होगा—निर्गुण, विवेकी, चेतन आदि होगा), जैसे किसी पुरुष में 'ब्राह्मणत्व' का व्यावर्तन या अभाव उसमें 'कठत्व' का भी अभाव कर देगा ('कठ' प्राचीनकाल में ब्राह्मणों की ही विशिष्ट शाखा थी; जो ब्राह्मण न होगा, वह कठ कैसे हो सकता है)। इसीलिए आचार्य के 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' कहने का तात्पर्य यही है कि त्रिगुणादि से भिन्न भी कोई वस्तु है, जो संघात-रूप नहीं है और यही पुरुष है।

इतश्च पुरुषोऽस्ति—"अधिष्ठानात्"। त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वात्। यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तत्सर्वं परेणाऽधिष्ठीयमानं दृष्टम्, यथा रथादि यन्त्रादिभिः। सुखदुःखमोहात्मकं चेदं बुद्ध्यादि, तस्मादेतदपि परेणाऽधिष्ठातव्यम्। स च परस्त्रैगुण्यादन्य आत्मेति।

अर्थ—'अधिष्ठान' के कारण अर्थात् त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं के किसी अन्य के द्वारा अधिष्ठित या प्रेरित होने के कारण भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि जो कुछ भी सुख-दुःख-मोहात्मक है, वह सभी किसी अन्य

"Fiery, because smoking, as the culinary hearth"—we have a dissimilarity between the subject-matter of the syllogism and the instance cited. Thus, in the culinary hearth, the fire is for cooking food, and proceeding from a house made by men etc. etc., whereas such is not the case with the fire in the mountain.

के द्वारा प्रेरित होता देखा जाता है, जैसे रथ आदि सारथी इत्यादि के द्वारा। चूँकि ये बुद्धि इत्यादि भी सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, इसलिए ये सब भी किसी अन्य से अधिष्ठित या प्रेरित होने चाहिए और वह 'अन्य' त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं से पृथक्[1] पुरुष ही है।

इतश्चास्ति पुरुषः—"भोक्तृभावात्"। भोक्तृभावेन भोग्ये सुखदुःखे उपलक्षयति। भोग्ये हि सुखदुःखे अनुकूल-प्रतिकूलवेदनीये प्रत्यात्ममनुभूयेते। तेनाऽनयोरनुकूलनीयेन प्रतिकूलनीयेन च केनचिदप्यन्येन भवितव्यम्। न चाऽनुकूलनीयाः प्रतिकूलनीया वा बुद्ध्यादयः, तेषां सुख-दुःखाद्यात्मकत्वेन स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। तस्मात् योऽसुखाद्यात्मा सोऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयो वा, स चाऽऽत्मेति।

अथ—(त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए) भोक्ता अपेक्षित होने से भी पुरुषकी सत्ता सिद्ध होती है। 'भोक्ता' होने से भोग के विषय सुख, दुःख इत्यादि सूचित (संकेतित) होते हैं क्योंकि भोगे जाने वाले सुख, दुःख इत्यादि प्रत्येक के द्वारा अनुकूल—'अच्छा है' तथा प्रतिकूल—'बुरा है' इस रूप से अनुभव किए जाते हैं। इसलिए इनके द्वारा 'अनुकूल' अर्थात् प्रसन्न तथा 'प्रतिकूल' अर्थात् दुःखी किया जाने वाला कोई और होगा। बुद्धि इत्यादि स्वयं ही सुखदुःखादि-स्वरूप होने के कारण इन (सुख-दुःखादि) के द्वारा प्रसन्न तथा दुःखी किए जाने वाले भी नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा करने से इनके स्वरूप में भोक्तृत्व तथा भोग्यत्व, इन दो विरोधी वृत्तियों का आरोप होगा[2] अर्थात् सुखादि ही सुख

१—न च महदादिषु अन्यतम एव कश्चिदधिष्ठाता भवत्विति साम्प्रतं, स्वस्य स्वाधिष्ठानायोगादित्यभिप्रेत्याह—'त्रैगुण्यादन्य आत्मा' इति। न च आत्मनो निर्गुणत्वेन निष्क्रियत्वात् कथमधिष्ठातृत्वं, प्रवर्तनव्यापारवत एव सारथ्यादेरधिष्ठातृत्वदर्शनात् इति शंक्यं, निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तमणेरिव सन्निधिमात्रेणाधिष्ठातृत्वोपपत्तेर्व्यापारवत एव प्रयोजकत्वमिति नियमानाश्रयणात्; तथा च सूत्रं—'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' इति। अचलतोऽपि सत्तामात्रेण प्रयोजकत्वं, तथा चाहुःकुमारिलस्वामिनः—'न च सर्वत्र तुल्यत्वं स्यात्प्रयोजककर्मणाम्। चलनेन ह्यसिं योद्धा प्रयुङ्क्ते छेदनं प्रति ॥८५॥ सेनापतिस्तु वाचैव भृत्यानां विनियोजकः। राजा सन्निधिमात्रेण विनियुङ्क्ते कदाचन ॥ ८६ ॥ तस्मादचलतोऽपि स्याच्चलने कर्तृतात्मनः"। (पंचमसूत्र—आत्मवादः) इति। एतेन 'प्रवृत्तेः रचनायाश्चानुपपत्तेर्नाचेतनं चेतनाधिष्ठानविहीनं प्रधानं कारणम्' इत्यादयः (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य। २। १। १२) आक्षेपाः प्रतिक्षिप्ताः इति वेदनीयम्, 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते' इति षष्टितन्त्र उक्तत्वेनाक्षेपस्यैवानुत्थानमित्यपि ध्येयम्। —विद्वत्तो०, पे० २२७-२८

२—न ह्यसिधारात्मानं छिनत्ति वह्निर्वाऽत्मानं दहतीति भावः। —विद्वत्तो० पे० २२८

आदि का अनुभव करने लगेंगे। इसलिए जो स्वयं सुख, दुःख इत्यादि के रूप का नहीं है, वही प्रसन्न या दुःखी होने वाला होगा और वह पुरुष ही है।

अन्ये त्वाहुः—भोग्या दृश्या बुद्ध्यादयः। न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यता युक्ता तेषाम्। तस्माददस्ति द्रष्टा दृश्यबुद्ध्याद्यतिरिक्तः, स चाऽऽत्मेति। भोक्तृभावात्—द्रष्टृभावात्, दृश्येन द्रष्टुरनुमानादित्यर्थः। दृश्यत्वं च बुद्ध्यादीनां सुखाद्यात्मकतया पृथिव्यादिवदनुमितम्।

अर्थ—दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि बुद्ध्यादि भोग्य अर्थात् दृश्य हैं और बिना किसी द्रष्टा (दर्शक) के इनका दृश्य बनना सम्भव नहीं है। इसलिए बुद्ध्यादि दृश्य वस्तुओं से भिन्न या पृथक् कोई द्रष्टा अवश्य है और वह पुरुष ही है। उनके अनुसार 'भोक्तृभाव' का अर्थ द्रष्टृभाव है अर्थात् 'दृश्य से किसी द्रष्टा का अनुमान होने के कारण' पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। जहां तक बुद्धि इत्यादि के दृश्य[1] (प्रत्यक्ष) होने की बात है, उसका अनुमान तो पृथिवी इत्यादि पदार्थों की भाँति इनके सुखदुःखादि-स्वरूप होने के कारण होता है [अनुमान इस प्रकार का होगा :—बुद्ध्यादयः दृश्याः सुखाद्यात्मकत्वेन पृथिव्यादिवत्]।

विशेष—कुछ आचार्यों का विचार है कि पुरुष वस्तुतः असंग होने से भोक्ता हो ही नहीं सकता। उनके मत से कारिकाकार के 'भोक्ता' पद का अर्थ 'द्रष्टा' है। जो असंग या उदासीन होगा, वह द्रष्टा या साक्षी बन सकता है, पर भोक्ता कदापि नहीं। उनके इसी मत को लेकर दूसरे प्रकार का अर्थ तत्त्वकौमुदीकार ने प्रस्तुत किया है। परन्तु 'अन्ये त्वाहुः' के 'अन्ये' तथा 'तु' पदों से ही इस मत के सम्बन्ध में तत्त्वकौमुदीकार का वैरस्य दीख पड़ता है। उनके इस वैरस्य का कारण स्पष्ट है क्योंकि पूर्व अर्थ के विषय में उत्पन्न दोष यहाँ भी तो प्राप्त होता है। असङ्ग वस्तुतः द्रष्टा भी तो नहीं हो सकता। बुद्धि इत्यादि से उपहित होने पर ही उसका दर्शक बनना सम्भव है। फिर तो उपहित होने पर असङ्ग आत्मा का भोक्ता बनना भी सम्भव हो जाएगा। अतः पूर्व अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ करने से कोई अन्तर या वैशिष्ट्य नहीं होता। अतः पूर्व अर्थ ही समीचीन है, जैसा कि विद्वत्तोषिणी के विद्वान् लेखक ने कहा है :—

"असङ्गस्य परमार्थतो दर्शनकर्तृत्वासम्भवाद् बुद्ध्युपाधिकमेवं द्रष्टृत्वमात्मन इति मन्तव्यम्, एतच्च "द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य":

१—दृश्यत्व प्रत्यक्षविषयत्वरूपमत्र विवक्षित न तु चाक्षुषज्ञानविषयत्व, बुद्ध्यादीनां तथात्वासम्भवात्। ।—विद्वत्तो० (पे० २२८)

इति (२।१०) सूत्रे योगभाष्ये व्यक्तम् । एवं च द्रष्टृत्ववद्भोक्तृत्वस्यापि सम्भवादाद्यव्याख्यानमपि समीचीनमेवेति ध्येयम् ।" वस्तुतः तो पूर्व अर्थ ही ठीक है क्योंकि वह शब्दों का मुख्यार्थ लेकर किया गया है। दूसरा लक्ष्यार्थ लेता है, फिर भी कोई वैशिष्ट्य नहीं ला पाता।

इतश्चास्ति पुरुष इत्याह—"कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च"। शास्त्राणां महर्षीणां दिव्यलोचनानां च कैवल्यमात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमलक्षणं न बुद्ध्यादीनां सम्भवति। ते हि दुःखाद्यात्मकाः कथं स्वभावाद्वियोजयितुं शक्यन्ते। तदतिरिक्तस्य त्वतदात्मनस्ततो वियोगः शक्यसम्पादः। तस्मात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरागमानां महाधियां चास्ति बुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम्॥७१॥

अर्थ—'कैवल्य के लिए प्रवृत्ति होने से भी' पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है। 'कैवल्य' जिसे शास्त्र और दिव्य-दृष्टि महर्षि 'त्रिविध दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति' के रूप में स्वीकार करते हैं, बुद्धि इत्यादि के विषय में असम्भव है क्योंकि दुःख इत्यादि तो इनका स्वरूप ही है। फिर ये अपने स्वरूप से वियुक्त या पृथक् कैसे किए जा सकते हैं ! किन्तु बुद्धि इत्यादि से भिन्न कोई तत्त्व, जिसका स्वरूप दुःख इत्यादि नहीं है, उससे पृथक् किया जा सकता है। इसलिए शास्त्रों तथा महा मतिमान् महर्षियों की 'कैवल्य' (मोक्ष) के लिए चेष्टा होने से यह सिद्ध होता है कि बुद्धि इत्यादि (सुखदुःखात्मक तत्त्वों) से भिन्न कोई 'पुरुष' तत्त्व है॥१७॥

तदेवं पुरुषास्तित्वं प्रतिपाद्य, स किं सर्वशरीरेषु एकः किमनेकः प्रतिक्षेत्रमिति संशये, तस्य प्रतिक्षेत्रमनेकत्वं प्रतिपादयति—'जनने' त्यादिना।

अर्थ—इस प्रकार पुरुष की सत्ता सिद्ध करके 'यह पुरुष सभी शरीरों में एक है या प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न'—ऐसा सन्देह होने पर 'जननमरणकरणानाम्' इत्यादि अगली कारिका द्वारा उसकी विभिन्नता या अनेकता प्रतिपादित करते हैं—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥१८॥

अर्थ—जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था[1], एक साथ प्रवृत्ति के अभाव, तथा गुणों के भेद के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है।

१—व्यवस्था वैय्यधिकरण्येनावस्थानम्—विद्वत्तो०; पृ० २३२ [अर्थात् विभिन्न अधिकरणों या स्थानों में विद्यमानता]

"पुरुषबहुत्वं सिद्धम्"। कस्मात् ? जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्"। निकाय[1] विशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्यापरिणामित्वात्। तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, नत्वात्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात्। करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश। तेषां जननमरणकरणानां प्रतिनियमो व्यवस्था। सा खल्वियं सर्वशरीरेषु एकस्मिन् पुरुषे नोपपद्यते। तदा खल्वेकस्मिन् पुरुषे जायमाने सर्वे जायेरन्, म्रियमाणे च म्रियेरन्, अन्धादौ चैकस्मिन् सर्व एव अन्धादयः, विचित्ते चैकस्मिन् सर्व एव विचित्ताः स्युरित्यव्यवस्था स्यात्, प्रतिक्षेत्रं तु पुरुषभेदे भवति व्यवस्था। न च 'एकस्यापि पुरुषस्य देहोपधानभेदाद् व्यवस्था' इति युक्तम्, पाणिस्तनाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादिव्यवस्थाप्रसङ्गात्। न हि पाणौ वृक्णे, जाते वा स्तनादौ महत्यवयवे युवतिर्मृता जाता वा भवतीति।

अर्थ—'पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है'। क्यों ? 'जन्म, मरण, और इन्द्रियों की व्यवस्था के कारण।' अभिनव शरीर, इन्द्रिय, मन, अहङ्कार, बुद्धि एवं वेदना[2] के संघात (समुदाय) के साथ पुरुष का सम्बन्ध[3] ही जन्म है, न कि उसका परिणाम क्योंकि वह तो अपरिणामी है। उन पूर्व गृहीत शरीर आदि का परित्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) ही मरण[4] है, न कि

१—निकायः तत्तदात्माऽदृष्टप्रयोज्यो भाविभोगानुकूलो विलक्षणः समुदायः, परस्परसापेक्षः सम्बन्ध इति यावत्।—किरणावली ॥ यद्यपि महाभाष्यकारादिव्याख्यानात्प्राणिनां समूह एव 'संघे अनौत्तराधर्ये' इत्यत्र सूत्रे संघपदेन गृह्यते, न समूहमात्रम्, अतएव 'ब्राह्मणनिकाय' इतिवन्न 'प्रमाणनिकाय' इति प्रयुज्यतेऽपितु 'प्रमाणनिचय' इति, तथापि प्राणिसम्बन्धित्वेन कथञ्चिदत्रापि प्राणिसमूहं सम्भाव्य निकायपदप्रयोगोपपत्तिर्ज्ञेयाः ॥—विद्वत्तो०

२—वेदना सुखाद्यनुभवः, स्फूर्त्याख्या चेतना वेति विद्वत्तोषिण्याम्। बुद्धिः महत्तत्त्वम्, वेदना तत्परिणामो ज्ञानाख्यः इति सुषमा। वेदना प्राप्तिपरिहाराद्यनुकूला बुद्धिवृत्तिरिति किरणावली।

३—अभिसम्बन्धो विलक्षणः संयोगः। समुदितदेहादिविशेषितबुद्ध्या सह प्रतिबिम्बाख्यः सम्बन्धः इति किरणावली'। अभिसम्बन्धः संयोगः इति वंशीधरी।

४—मरणं तु यद्यपि 'मृङ् प्राणत्यागे' इति स्मरणात् प्राणोपलक्षितदेहादीनां त्यागरूपं मुख्यमेवात्मनि सम्भवति, तथापि घटादेरिव विनाशरूपं मरणमत्र मा कश्चिद् ग्रहीदित्याशयेनाह—न तु विनाश इति।...मा नाम भूज्जातो मृत इति व्यवहारात् नराणां व्यामोहः (आत्मनि जायमानम्रियमाणत्वभ्रान्तिः) इत्यनुकम्पावती बृहदारण्यकश्रुतिरपि (४।३।८)—'स वाऽयं पुरुषः जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः, स उत्क्रामन् म्रियमाणः' इत्येवं

पुरुष का विनाश या ध्वंस, क्योंकि वह तो कूटस्थ-नित्य[१] अर्थात् सभी कालों में एक रूप रहने वाला है। 'करण' अर्थात् बुद्धि इत्यादि तेरह (बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ)। उन जन्म, मरण तथा इन्द्रियों का 'प्रतिनियम' अर्थात् उनकी व्यवस्था। यह व्यवस्था सभी शरीरों में एक ही पुरुष के होने पर सगत नहीं होती क्योंकि तब तो एक पुरुष के उत्पन्न होने पर सभी उत्पन्न होंगे और मरने पर मर जायँगे, एक के अन्धे होने पर सभी अन्धे और एक के उपरत-चित्त (अर्थात् योग-युक्त या सुषुप्त, क्योंकि इन्हीं दो अवस्थाओं में चित्त का व्यापार बन्द होता है) होने पर सभी उपरत-चित्त हो जायँगे, और इस प्रकार कोई व्यवस्था न रहेगी। इसके विपरीत प्रत्येक शरीर में पृथक् या विभिन्न पुरुष होने पर व्यवस्था रहेगी। यह कहना ठीक न होगा कि एक पुरुष होने पर भी शरीर इत्यादि उपाधियों के भेद से व्यवस्था हो जायगी क्योंकि ऐसा होने पर तो हाथ, स्तन इत्यादि उपाधियों के भेद से भी व्यवस्था होने लगेगी। परन्तु हाथ के टूट जाने अथवा स्तन इत्यादि अवयवों के उत्पन्न होने से कोई युवती मृत या उत्पन्न नहीं होती।

इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेद इत्याह—"अयुगपत्प्रवृत्तेश्च" इति। प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथापि पुरुषे उपचर्यते। तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने, स एव सर्वशरीरेषु एक इति सर्वत्र प्रयतेत, ततश्च सर्वाण्येव शरीराणि युगपच्चालयेत्। नानात्वे तु नायं दोष इति।

अर्थ—'एक साथ प्रवृत्ति न होने के कारण' भी प्रत्येक शरीर में पुरुष की भिन्नता सिद्ध होती है। यद्यपि प्रवृत्ति, जिसका लक्षण प्रयत्न है, अन्तःकरण में ही होती है, तथापि पुरुष में उसका उपचार या आरोप होता है। इस प्रकार पुरुष के किसी एक शरीर में प्रयत्नशील होने पर सभी शरीरों में एक होने के कारण उसे सर्वत्र प्रयत्नशील होना चाहिए, और फिर उसे सभी शरीरों को एक साथ प्रवर्तित करना चाहिए। परन्तु अनेक पुरुष होनेपर यह आपत्ति न होगी।

स्वयमेव शरीरादिना सयुज्यमानत्वमेवात्मनो जायमानत्वं, शरीरादुत्क्रमणमेव चात्मनो म्रियमाणत्वं निराह। —विद्वत्तो०,

१—पृथिव्यादीनामपि सूक्ष्मरूपेण सर्वदा सत्त्वाङ्गीकारेण नित्यत्वादाह—कूटस्थनित्यत्वादिति। एकरूपेण सर्वकालव्यापित्वरूपनित्यत्वात् इति भावः—सुषमा।

कूटः लोहकाराऽऽपणस्था लोहानां कूटनार्थिका लौही च ऐरिणी, तद्वत् सर्वदा तिष्ठतीति कूटस्थ एकरूपतया कालव्यापी— किरणावली।

विशेष—'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च' का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है—एक तो यह कि 'सभी शरीरों की एक साथ प्रवृत्ति न होने से' और दूसरा यह कि '(सभी शरीरों में स्थित) पुरुष के एक साथ प्रवृत्त न होने से'। पूर्व अर्थ का तात्पर्य यह है कि 'जैसे प्रत्येक रथ के एक साथ प्रवर्तित न होने अथवा कथञ्चित् वैसा होने पर भी एक ही प्रकार से प्रवर्तित न होने से प्रत्येक के प्रेरक या चालक व्यक्ति (अर्थात् सारथी) के अनेक या विभिन्न होने का अनुमान होता है, वैसे ही प्रत्येक शरीर के एक साथ ही प्रवृत्त या क्रियाशील न होने से अथवा कथञ्चित् वैसा होने पर भी एक ही प्रकार से प्रवृत्त न होने से प्रत्येक (शरीर) के प्रवर्तक या प्रेरक पुरुष के विभिन्न अथवा पृथक् पृथक् होने का अनुमान होता है। यद्यपि सामान्यतः क्रिया-भेद से क्रियाश्रयों के भेद का ही अनुमान होता है, तथापि शरीरों के क्रिया-भेद से पुरुषों के भेद का अनुमान इसलिए किया जाता है कि शरीर अचेतन होने से स्वयं तो प्रवृत्त होता नहीं, उसकी प्रवृत्ति तो चेतन पुरुष से अधिष्ठित (द्रष्टव्य कारिका १७) होने के कारण उसके सान्निध्य से होती है। इसलिए यदि सभी शरीरों की एक साथ या एक सी प्रवृत्ति नहीं होती, तो स्पष्ट है कि सभी में प्रवर्तक पुरुष एक ही नहीं, भिन्न-भिन्न है। एक ही होता, तो एक साथ और एक सी प्रवृत्ति होती।

द्वितीय अर्थ लेने पर तो अनुमान स्पष्ट है। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष होता तो जब वह एक में प्रवृत्त होता, तभी अन्य शरीरों में भी प्रवृत्त हाता और तब सभी शरीरों में एक साथ और एक सी प्रवृत्ति होती। पर ऐसा न होने से वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। तत्त्वकौमुदीकार ने यही अर्थ लिया है। पर इस द्वितीय अर्थ में एक कठिनाई है, वह यह कि पुरुष तो निष्क्रिय है। इसको दूर करने के उद्देश्य से ही कौमुदीकार ने 'प्रवृत्तिः प्रयत्न-लक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथापि पुरुषे उपचर्यते'—ऐसा लिखा है। उनके ऐसा लिखने का भाव यह है कि जैसे सैनिकों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले जय, पराजय इत्यादि उन सैनिकों[१] के स्वामी सम्राट् के कहे जाते हैं—उसमें आरोपित किए जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि शरीर-परिचालन आदि कर्म

१—उपचारनिमित्तश्च स्वस्वामिभावसम्बन्धः, "यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि राज्ञि व्यपदिश्यते" इत्यादिना योगभाष्ये (२।१८) अभिहितः, अग्रे (का० ६२) च व्यक्तः। जले कम्पमाने तत्प्रतिबिम्बितचन्द्रकम्पनमिव प्रयतमानायां बुद्धौ तत्प्रतिबिम्बितचेतनोऽपि प्रयतत इव' इति यावत्।—विद्वत्तो०

वस्तुतः बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण के हैं, निष्क्रिय—अपरिणामी—पुरुष के नहीं तथापि सारे कर्म उसी के निमित्त होने के कारण उसमें आरोपित होते हैं, उसके कहे जाते हैं। इस प्रकार वह कर्ता या प्रवर्तक न होने पर भी तद्वत् कहा जाता है।

इतश्च पुरुषभेद इत्याह—"त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव" इति। एवकारो भिन्नक्रमः 'सिद्धम्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, सिद्धमेव नासिद्धम्। त्रयो गुणास्त्रैगुण्यम्, तस्य विपर्ययोऽन्यथात्वम्। केचित्खलु सत्त्वनिकायाः सत्त्वबहुला, यथोर्ध्वस्रोतसः; केचिद्रजोबहुलाः, यथा मनुष्याः; केचित्तमोबहुलाः,यथा तिर्यग्योनयः। सोऽयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययोऽन्यथाभावस्तेषु सत्त्वनिकायेषु न भवेत् यद्येकः पुरुषः स्यात्, पुरुषभेदे त्वयमदोष इति॥

अर्थ - 'त्रिगुण-भेद के कारण' भी पुरुष-भेद सिद्ध होता है। 'एव' पद भिन्न क्रम से आया हुआ है। इसे 'सिद्धम्' के बाद आना चाहिए जिसका अर्थ यह होगा कि पुरुष भेद सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं। 'त्रैगुण्य' का अर्थ है—'तीनों गुण'; उनका 'विपर्यय' अर्थात् भेद। कुछ प्राणी[1] सत्त्व-प्राय होते हैं, जैसे देवता योगी[2] आदि; कुछ रजः-प्राय होते हैं, जैसे मनुष्य; कुछ तमः-प्राय होते हैं, जैसे पशु, पक्षी इत्यादि। इस प्रकार का यह त्रिगुण-भेद उन प्राणियों में न होता, यदि पुरुष एक ही होता। पुरुष-भेद होने पर यह दोष नहीं होगा।

एवं पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मानाह—'तस्माच्च' इति॥

अर्थ—इस प्रकार पुरुष की अनेकता सिद्ध करके विवेक-ज्ञान में उपयोगी होने के कारण उसके (अन्य) धर्मों का "तस्माच्च विपर्यासात्" इत्यादि कारिका द्वारा वर्णन करते हैं :—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यम्माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥ १९॥

अर्थ—और उस (अर्थात् 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि एकादश कारिका में कथित) भेद या वैषम्य के कारण इस पुरुष का साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व भी सिद्ध होता है।

१—सत्त्वनिकायाः प्राणिसमूहाः इति विद्वत्तोषिणीकाराः। सत्त्वं प्राणः तस्य निकायाः प्राणिन इति यावत् इति सुषमाकाराः। सत्त्वानां प्राणिनां निकायाः समूहाः इति किरणावलीकाराः।

२—ऊर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रेण स्रोतः प्रवाहो गमनं येषां ते, ऊर्ध्वम् आत्मानं प्रति स्रोतः वृत्तिप्रवाहो येषां ते इति वा, ते ऊर्ध्वस्रोतसः देवादयः सत्पुरुषाश्च।—किरणावली

'च' शब्दः पुरुषस्य बहुत्वेन सह धर्मान्तराणि समुच्चिनोति। 'विपर्यासादस्मात्' इत्युक्ते त्रैगुण्यविपर्ययादित्यनन्तरोक्तं सम्बध्येत; अतस्तन्निरासाय 'तस्मात्' इत्युक्तम्। अनन्तरोक्तं हि सन्निधानादिदमो विषयो, विप्रकृष्टं च तदः, इति विप्रकृष्टं त्रिगुणमविवेकीत्यादि सम्बध्यते। तस्मात्त्रिगुणादेर्यो विपर्यासः स पुरुषस्यात्रिगुणत्वं विवेकित्वम-विषयत्वमसाधारणत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्च।

अर्थ—कारिका के आरम्भ में आये हुये 'तस्माच्च' में 'च' पद पुरुष के 'बहुत्व' धर्म के साथ उसके अन्य धर्मों का समुच्चय करता है। 'तस्माच्च विपर्यासात्' के स्थान में 'विपर्यासादस्मात्' कहने पर 'अस्मात्' के इसी के ठीक पूर्व १८ वीं कारिका में आये हुये 'त्रैगुण्यविपर्य्ययात्' का परामर्श होता, इसलिये उसका परिहार करने के लिये 'तस्मात्' पद का प्रयोग हुआ है क्योंकि ठीक पूर्व कहा गया समीपस्थ अर्थ 'इदम्' का विषय होता है, और दूरस्थ अर्थ 'तद्' शब्द का विषय होता है (अर्थात् उसके द्वारा उपस्थित या प्रस्तुत किया जाता है)। इसलिये 'तस्मात्' से दूरस्थ 'त्रिगुणमविवेकि'(का० ११) इत्यादि ही उपस्थित होता है। अर्थात् उस 'त्रिगुण' इत्यादि पूर्वोक्त धर्म से जो भेद या वैषम्य है, वह पुरुष का अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असाधारणत्व, चेतनत्व, और अपरिणामित्व धर्म हैं।

तत्र चेतनत्वेनाविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वे दर्शिते। चेतनो हि द्रष्टा भवति, नाचेतनः; साक्षी च दर्शितविषयो भवति, यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी। तथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः, एवं प्रकृतिरपि स्वचरितं विषयं पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषः साक्षी। न चाचेतनो विषयो व शक्यो विषयं दर्शयितुम्, इति चैतन्या-दविषयत्वाच्च भवति साक्षी। अत एव द्रष्टापि भवति॥

अर्थ—इनमें से 'चेतनत्व' और 'अविषयत्व' धर्मों से पुरुष के साक्षित्व और द्रष्टृत्व भी सूचित होते हैं क्योंकि चेतन ही द्रष्टा होता है, अचेतन नहीं; और जो विषय-द्रष्टा हो अर्थात् जिसको विषय दिखाया जाय, वही साक्षी होता है। जैसे लोक में वादी और प्रतिवादी विवाद (झगड़े) का विषय साक्षी को दिखलाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति[1] भी अपने द्वारा किये गये कार्य को पुरुष को

१—प्रकृतिरपि—बुद्धिरूपेण परिणता प्रकृतिरपि—स्वचरितं......स्वस्मिन् प्रतिबिम्बिताय स्वस्वामिने पुरुषाय समर्पयतीत्यर्थः। तदुक्तं विष्णुपुराणे "गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति। अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः" ॥— विद्वत्तोषिणी

दिखलाती है। अतः पुरुष साक्षी है। अचेतन या स्वयं विषय बनने वाले को विषय नहीं दिखलाया जा सकता। इसलिये चेतन तथा अविषय होने के कारण पुरुष साक्षी[1] होता है। इन्हीं कारणों से वह द्रष्टा भी होता है।

अत्रैगुण्याच्चास्य कैवल्यम्। आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्। तच्च तस्य स्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात् सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धम्।

अर्थ—पुरुष के अत्रिगुणत्व से उसका कैवल्य सूचित होता है। त्रिविध दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति ही कैवल्य है। और वह तो पुरुष के स्वभावतः या स्वरूपतः 'अत्रैगुण्यात्' अर्थात् सुख, दुःख और मोह से रहित होने से सिद्ध है।

विशेष—रजस् का परिणाम होने से दुःख सांख्यों के मत में नित्य है। अतः हेतु के अभाव में उसका प्रशम भर हो जाता है, आत्यन्तिक विनाश नहीं होता। इसका सविस्तर विवेचन पीछे पृष्ठ ८ पर किया जा चुका है।

अत एवात्रैगुण्यान्माध्यस्थ्यम्। सुखी हि सुखेन तृप्यन् दुःखी हि दुःखं द्विषन् मध्यस्थो न भवति। तदुभयरहितस्तु मध्यस्थ इत्युदासीन इति चाख्यायते। विवेकित्वादप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तेति सिद्धम्॥ १९॥

अर्थ—इसी अत्रिगुणत्व से उसका मध्यस्थ होना भी सिद्ध है। क्योंकि सुख से तृप्त होने वाला सुखी तथा दुःख से द्विष्ट होने वाला दुःखी व्यक्ति 'मध्यस्थ' अर्थात् उन दोनों से उदासीन नहीं कहा जा सकता। सुख-दुःख से रहित रहने वाला तो मध्यस्थ या उदासीन कहा जाता है। 'विवेकी' अर्थात् सम्भूयकारी न होने एवम् अपरिणामी होने से वह अकर्त्ता भी है, यह सिद्ध होता है॥

स्यादेतत्—प्रमाणेन कर्तव्यमर्थमवगम्य 'चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि' इति कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यमनुभवसिद्धम्; तदेतस्मिन्मते नावकल्पते, चेतनस्याकर्तृत्वात् कर्तुश्चाचैतन्यात्, इत्यत आह—'तस्मात्' इति।

१—साक्षित्वं च साक्षाद्द्रष्टृत्वम्. अव्यवधानेन द्रष्टृत्वमिति यावत्। साक्षात्सम्बन्धश्च बुद्धितद्धर्माणामेव, अन्येषां तु तद्द्वारेति। अतो बुद्धितद्धर्माणां साक्षी पुरुषोऽन्येषां तु द्रष्टृमात्रमिति शास्त्रीयविभागः। तत्सम्बन्धश्च प्रतिबिम्बरूप एव, न तु संयोगमात्रमतिप्रसङ्गात्।

—वंशीधरी।

'भवति साक्षी' इत्यत्र इदं बोध्यम्—'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इति पाणिनिस्मरणात्, 'साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्' इति सांख्यसूत्राच्च बुद्धेरेव साक्षी पुरुषस्तया सहाव्यवहितसम्बन्धात् न त्वन्येषां, तैः सह साक्षादसम्बन्धात्।

—विद्वत्तो०

अर्थ – यह सब ठीक है, परन्तु प्रमाणों द्वारा कर्त्तव्य का ज्ञान करके 'चेतन (अर्थात् कर्त्तव्य वस्तु का ज्ञानी) मैं कर्त्तव्य करने की इच्छा होने पर उसे करने जा रहा हूँ'—ऐसा सोचता है। इससे कर्तृत्व और चैतन्य दोनों का एक ही में होना अनुभव-सिद्ध है। परन्तु यह बात चेतन पुरुष को अकर्त्ता तथा कर्त्री प्रकृति को अचेतन मानने के कारण इस मत से विरुद्ध या अयुक्त है। इसके उत्तर में "तस्मात्तत्संयोगात्" इत्यादि अगली कारिका कह रहे हैं :—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ॥
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

अर्थ—अतः (अर्थात् चेतन पुरुष के अकर्त्ता तथा कर्त्री प्रकृति के अचेतन होने के कारण) दोनों के संयोग से अचेतन बुद्धि आदि चेतन-सदृश प्रतीत होते हैं और उसी प्रकार प्रकृति-गुणों के वस्तुतः कर्त्ता होने पर उदासीन पुरुष कर्ता सा प्रतीत होता है।

यतश्चैतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे, तस्मात् भ्रान्तिरियमित्यर्थः। अतिरोहितार्थमन्यत्। 'लिङ्गम्'—महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं वक्ष्यति। भ्रान्तिबीजं 'तत्संयोगः' तत्सन्निधानम्।

अर्थ—तात्पर्य यह है कि चूँकि चैतन्य और कर्तृत्व तर्क के द्वारा विभिन्न आश्रयों में सिद्ध हो चुके हैं, इसलिए चैतन्य और कर्तृत्व के एक ही में होने का यह अनुभव केवल भ्रम[1] है। इस भ्रम का मूल कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग[2] अर्थात् परस्पर सामीप्य है। बुद्धि-तत्त्व से लेकर तन्मात्राओं तक के तत्त्व लिङ्ग हैं, इसे आगे (४० वीं कारिका में) कहेंगे। शेष अर्थ स्पष्ट है।

'तत्संयोगात्' इत्युक्तम्, न च भिन्नयोः संयोगोऽपेक्षां विना, न चेयमुपकार्योपकारकभावं विनेत्यपेक्षाहेतुमुपकारमाह—'पुरुषस्य' इति।

१—भ्रान्तिः 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' इति लक्षितास्मिताख्याविवेककृता इयं सामान्याधिकरण्यप्रतीतिरित्यर्थः।—विद्वत्तोषिणी।

२—चेतनस्यासङ्गत्वात्कथं संयोग इत्यत्राह—'तत्सन्निधानमिति'। तथा च सांख्यसूत्रम्—'उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्' इति। एवं च लिङ्गं बुद्ध्यादिकमचेतनमपि तत्संयोगात् चेतनसन्निधानात् चेतनावत् चेतनमिव भवति, अतो 'जानामि' इति प्रत्ययः उपपन्नः; तथा गुणकर्तृत्वेऽपि बुद्ध्यादिरूपेण परिणतानां गुणानां कृतिमत्त्वेऽपि तथा बुद्ध्युपरागात् तत्प्रतिबिम्बितत्वात् उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति, तेन 'करोमि' इति प्रत्यय उपपन्न इत्यार्यार्थोऽत्र फलितः। —विद्वत्तोषिणी।

अर्थ—'दोनो के संयोग से यह भ्रमात्मक अनुभव होता है'—ऐसा अभी कहा गया है। परन्तु दो भिन्न वस्तुओं का संयोग परस्पर आकंक्षा या आवश्यकता के बिना नहीं होता और यह आकाङ्क्षा पारस्परिक उपकार के बिना नहीं होती। इसलिए आकांक्षा के कारण-भूत उपकार के विषय में 'पुरुषस्य दर्शनार्थम् ..' इत्यादि कारिका कह रहे हैं।

विशेष—यद्यपि प्रकृति और पुरुष के संयोग का मुख्य कारण अनादि अविद्या ही है और कारण के अनादि हाने से कार्य अर्थात् उभय संयोग भी अनादि है। यह संयोग तब तक बना रहेगा जब तक इससे केवल भोग सम्पन्न होता रहेगा। इस अनादि संयोग के अन्त के लिए कैवल्य अपेक्षित है, जिसका कारण है—प्रकृति और पुरुष का विवेक अर्थात् पुरुष का प्रकृति के स्वरूप को देखकर अपने को उससे विविक्त, अन्य या भिन्न समझ लेना। इस प्रकार जहाँ प्रकृति को अपना रूप दिखाने के लिए पुरुष चाहिए, वहाँ पुरुष को अपने कैवल्य के लिए प्रकृति चाहिए। इस प्रकार अपने अपने उपकार के लिए परस्परापेक्ष होने के कारण भोग के लिए अनादि संयोग होने पर भी कैवल्य और दर्शन के लिए पुनः संयोग होता है। जैसा कि प्रस्तुत कारिका के व्याख्यान में कौमुदीकार ने स्वयं भी कहा है :—'अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते इति युक्तम्'। इसका तात्पर्य यह है कि भोग और अपवर्ग के लिए होने वाले संयोग एक नहीं, भिन्न हैं। संयोग की तो अनादि परम्परा है क्योंकि उसकी कारण-भूता अविद्या अनादि है। उसमें कोई एक संयोग-परम्परा भोग में हेतु है तो कोई दूसरी कैवल्य में। इस प्रकार अनेक परम्पराओं में प्रकृति के भोग के द्वारा उसका उपकार करते रहने पर प्रकृति भी पुरुष का उपकार करने को उत्सुक होती है, अर्थात् कृत कर्म का भोग द्वारा क्षय होने पर पुरुष में कैवल्येच्छा जागरूक होती है और उसके जागरूक होने पर तदर्थ अभिनव संयोग-परम्परा आरम्भ होती है। इसलिए कैवल्य के निमित-भूत इस नव संयोग का कारण अनादि अविद्या के अतिरिक्त परस्पर उपकार-भाव भी है। इसी से विद्वत्तोषिणीकार उदासीन जी ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :—"यद्यपि 'तस्यहेतुरविद्या' इति योगसूत्रेणानादिविपर्ययज्ञानवासनैव संयोगनिदानमभिहितं तथाप्यवान्तरं संयोगप्रयोजकं परस्परोपकारमाह।"

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ॥
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥

१७

अर्थ—पुरुष के द्वारा प्रधान का दर्शन, तथा प्रधान के द्वारा पुरुष का कैवल्य सम्पन्न होने के लिए पङ्गु और अन्ध के समान दोनों का संयोग होता है जिससे सृष्टि होती है।

प्रधानस्येति कर्मणि षष्ठी। प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्दर्शनं पुरुषेण, तदर्थम्। तदनेन भोग्यता प्रधानस्य दर्शिता। ततश्च भोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न सम्भवतीति।

अर्थ—'प्रधानस्य' में कर्म में षष्ठी है जिसका अर्थ होगा—'पुरुष के द्वारा सब के मूल कारण प्रकृति का दर्शन होने के लिए'। इससे प्रकृति की भोग्यता सूचित होती है। प्रधान की यह भोग्यता भोक्ता के अभाव में सम्भव नहीं है, अतः इसको (अपना भोग या अनुभव कराने के लिए) भोक्ता की आकांक्षा है।

पुरुषस्यापेक्षां दर्शयति—"पुरुषस्य कैवल्यार्थम्" इति। तथा हि—भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते। तच्च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम्। न च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते।

अर्थ—अब पुरुष की प्रधान-विषयक आकांक्षा कहते हैं—"पुरुष के कैवल्य के लिए (प्रकृति अपेक्षित है)"। वह इस प्रकार:—प्रकृति के साथ संयुक्त (एक-रूप) हुआ पुरुष उसके त्रिविध दुःख-परिणाम को अपने में स्थित समझता हुआ कैवल्य की इच्छा करता है। वह कैवल्य पुरुष को प्रकृति से अपने पृथक्त्व या भेद का ज्ञान होने से प्राप्त होता है और पुरुष का प्रकृति से यह स्वभेद-ज्ञान या विवेक-ज्ञान प्रकृति के बिना[1] नहीं हो सकता। इसलिए कैवल्य के लिए पुरुष को प्रधान की आवश्यकता रहती है।

विशेष—कैवल्य के लिये अपेक्षित सत्त्व-पुरुषान्यता-ख्याति या प्रकृति-पुरुष-विवेकज्ञान के लिए प्रकृति की अपेक्षा होने का कारण यह है कि उक्त विवेक-ज्ञान बुद्धि का ही परिणाम-विशेष है, जो (बुद्धि) स्वयं प्रकृति का परिणाम है। इसलिए प्रकारान्तर से प्रकृति का ही परिणाम-भूत विवेकज्ञानः भला उसके अभाव में कैसे हो सकता है?

१—'प्रधानमन्तरेण' बुद्धिरूपेण परिणतप्रधानस्यैव परिणामो विवेकज्ञानमिति प्रधानं विना न सम्भवतीत्यर्थः।—विद्वत्तो०।

अनादित्वाच्च[१] संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तम् ।

अर्थ—संयोग-परम्परा के अनादि होने के कारण यह उचित ही है कि भोग के लिए संयुक्त हो कर भी पुरुष कैवल्य के लिए पुनः (अभिनव या अन्य) संयोग प्राप्त करता है ।

ननु भवत्वनयोः संयोगः,महदादिसर्गस्तु कुत इत्यत आह—"तत्कृत सर्गः" इति । संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोतीत्यर्थः ॥

अर्थ—(भोग और अपवर्ग के लिए) प्रकृति और पुरुष का संयोग भले ही हो अर्थात् संयोग से भोग और अपवर्ग उत्पन्न हों पर फिर महत्, अहङ्कार इत्यादि की उत्पत्ति किस से होती है ? इस के उत्तर में कहते हैं कि 'महत् आदि की सृष्टि उसी संयोग से होती है' । तात्पर्य यह है कि चूँकि महत्, अहङ्कार इत्यादि को बिना उत्पन्न किए प्रकृति और पुरुष का संयोग भोग और कैवल्य के सम्पादन में समर्थ हो नहीं होता, इसलिए संयोग ही भोग और अपवर्ग (कैवल्य) के लिए सृष्टि करता है ।

सर्गक्रममाह—'प्रकृतेर्महान्' इत्यादिना ।

अर्थ—अब 'प्रकृतेर्महान्...' इत्यादि कारिका के द्वारा सृष्टि-क्रम बताते हैं :—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥

अर्थ—प्रकृति से महत् या बुद्धि तत्त्व, महत् से अहंकार और अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है । इन सोलहों के समूह में अन्तर्भूत पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत (आकाश इत्यादि) उत्पन्न होते हैं ।

१—ननु पुरुषस्य प्रधानविषयकदर्शनरूपभोगार्थं यदि तयोः संयोगस्तदा तेनैव संयोगेन कथं कैवल्यसम्भवः, कैवल्यस्य भोगविरुद्धत्वेन तदुभयं प्रति जनकत्वस्यैकस्मिन् संयोगेऽसम्भवादित्याशङ्कामपनेतुमाह—अनादित्वाच्चेति ।.........तथा च एकस्यैव संयोगस्य नोभयं प्रति कारणत्वमपि तु संयोगपरम्पराया अनादित्वेन कस्याश्चित्संयोगपरम्पराया भोगहेतुत्वं कस्याश्चिच्चापवर्गहेतुत्वमिति स्वीकारेण उक्तापत्तेरभावात् । —सुषमा

प्रकृतिःअव्यक्तम् । महदहंकारौ वक्ष्यमाणलक्षणौ । एकादशेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, तन्मात्राणि च पञ्च, सोऽयं षोडशसङ्ख्यापरिमितो गणः षोडशकः । तस्मादपि षोडशकादपकृष्टेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्याकाशादीनि ।

अर्थ—प्रकृति 'अव्यक्त' है । महत् और अहङ्कार के लक्षण आगे (२३ और २४ कारिकाओं में) कहे जायँगे । आगे (२६ एवं २७ कारिकाओं में) कही जाने वाली ग्यारह इन्द्रियों, तथा (३८ वीं कारिका में कही जाने वाली) पाँच तन्मात्राओं के सोलह का समुदाय 'षोडशक' है । सोलह विकारों के इस समुदाय से पृथक्[1] हुई पाँच तन्मात्राओं से आकाश इत्यादि पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ।

विशेष—'अपकृष्ट' का अर्थ निकृष्ट या हीन भी होता है । तब अन्तिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हो सकता है:—'सोलह विकारों के उस समुदाय की हीन पञ्च-तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ।' इन्हें हीन या निकृष्ट मानने का कारण इन का तमो-बहुल होना है । सत्त्व-बहुल विकार उत्तम, रजोबहुल मध्यम, तथा तमो-बहुल अधम या निकृष्ट कहे जाते हैं । पर यह अर्थ लेने पर 'षोडशकात् अपकृष्टेभ्यः' का अक्षरार्थ 'षोडश के समूह से निकृष्ट या हीन' होगा जो ठीक नहीं बैठता । यह तब ठीक बैठता जब ये पाँच तन्मात्राएँ उस सोलह के गण से अलग या बाहर होतीं, उनके अन्तर्गत न होतीं । इसलिए यह अर्थ बहुत समीचीन नहीं लगता । नारायण तीर्थ ने सांख्यचन्द्रिका में लिखा है:—

'षोडशकादिति ल्यब्लोपे पञ्चमीमाश्रित्य षोडशकं प्राप्य स्थितेभ्यः पञ्चभ्यः इत्यर्थः ।' अर्थात् 'षोडशकात्' में ल्यब्लोप के कारण कर्म में पञ्चमी है और उसका अर्थ 'षोडश के गण या समुदाय को प्राप्त हुई पञ्च तन्मात्राओं से पञ्चभूत निकलते हैं—यह होगा । इससे भी ऊपर अनुवाद में दिए अर्थ की ही पुष्टि होती है ।

तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दतन्मात्रसहितात् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते इत्यर्थः ।

१—'षोडशकात्' इत्यस्य 'पञ्चभ्यः' इत्यनेन सामान्याधिकरण्येनाऽन्वयाऽसम्भवात् अपेक्षितं पादं पूरयति—अपकृष्टेभ्य इति । पृथक्कृतेभ्य इत्यर्थः ।—किरणावली

अर्थ—उनमें शब्द तन्मात्र से शब्द गुण वाला आकाश, शब्द तन्मात्र से युक्त स्पर्श तन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणों वाला वायु, शब्द और स्पर्श-तन्मात्रों से युक्त रूप तन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुणों वाला तेजस्, शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्रों से युक्त रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस गुणों वाला जल, तथा शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्रों से युक्त गन्ध तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

अव्यक्तं सामान्यतो लक्षितं "तद्विपरीतमव्यक्तम्" (का० १०) इत्यनेन, विशेषतश्च "सत्त्वं लघु प्रकाशकम्" (का० १३) इत्यनेन। व्यक्तमपि सामान्यतो लक्षितं "हेतुमत्" (का० १०) इत्यनेन। सम्प्रति विवेकज्ञानोपयोगितया व्यक्तविशेषं बुद्धिं लक्षयति—"अध्यवसायः" इति।

अर्थ—'विपरीतमव्यक्तम्' (का० १०) पदों के द्वारा सामान्य रूप से तथा 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्" (का० १३) इत्यादि पदों के द्वारा विशेष रूप से अव्यक्त का लक्षण किया जा चुका है। व्यक्त का भी सामान्य लक्षण 'हेतुमदनित्यमव्यापि' (का० १०) इत्यादि पदों के द्वारा किया गया है। अत्र विवेकज्ञान में उपयोगी (सहायक) होने से व्यक्त के ही विशिष्ट प्रकार 'बुद्धि' का लक्षण 'अध्यवसायो बुद्धिः' इत्यादि अग्रिम कारिका द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं—

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥

अर्थ—'निश्चय' (अर्थात् निश्चयात्मक अथवा निश्चय करने वाला तत्त्व) बुद्धि है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इसके सात्त्विक रूप हैं। इनके विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य या राग तथा अनैश्वर्य इसके तामस रूप हैं।

'अध्यवसायो बुद्धिः' क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षया। सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वा 'अहमत्राधिकृतः' इत्यभिमत्य 'कर्तव्यमेतन्मया' इत्यध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तते इति लोकसिद्धम्। तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः—बुद्धेरसाधारणो व्यापारः, तदभेदा बुद्धिः। स च बुद्धेर्लक्षणं, समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात्।

अर्थ—(यद्यपि 'निश्चय' बुद्धि का कार्य होने से उसका धर्म है, तथापि) क्रिया और क्रियावान् में अभेद मान कर 'निश्चय' को ही बुद्धि कहा है। यह

सर्व-प्रसिद्ध बात है कि प्रत्येक व्यवहार (कार्य) करने वाला मनुष्य पहले कार्य का (बाह्येन्द्रियों से) ग्रहण करने के बाद (मन से) उसका विचार (संकल्प-विकल्प) करके फिर (अहंकार से) 'मैं इसे करने में अधिकृत हूँ' ऐसा अभिमान करके (बुद्धि से) 'यह मुझे करना है' ऐसा निश्चय करता है और तब उसमें प्रवृत्त होता है। उनमें 'यह मुझे करना है'—इस प्रकार का जो बुद्धि का 'निश्चय' है और जिसे वह चेतन पुरुष के सान्निध्य से चैतन्यवती होकर करती है, वही 'अध्यवसाय' है। यह बुद्धि का असाधारण (विशिष्ट) कार्य है जिससे (क्रिया तथा क्रियावान् में अभेद के आधार पर) अभिन्न बुद्धि कही गई है और यही बुद्धि का लक्षण है, क्योंकि यह बुद्धि को सजातीय अहंकार इत्यादि और विजातीय घट, पट इत्यादि से पृथक् करती है।

तदेवं बुद्धिं लक्षयित्वा विवेकज्ञानोपयोगिनस्तस्या धर्मान् सात्त्विकतामसानाह—"धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्" इति। धर्मः अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः। तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः। अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः। गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्। विराग वैराग्यं रागाभावः। तस्य—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा—इतिचतस्रः संज्ञाः।

अर्थ—इस प्रकार बुद्धि का लक्षण करके अब विवेक-ज्ञान में उपयोगी (सहायक) उसके सात्त्विक और तामस धर्म कहते हैं :—'धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इसके सात्त्विक रूप तथा इनके विपरीत इसके तामस रूप हैं।' 'धर्म'[1] वह है जो लौकिक सुख (अभ्युदय) तथा पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस) का कारण बनता है। इनमें यज्ञ, दान इत्यादि के सम्पादन से उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का कारण बनता है और अष्टाङ्ग[2] योग के साधन से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस अर्थात् कैवल्य का कारण होता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरुष के विवेक या भेद का साक्षात्कार ही 'ज्ञान' है। राग (आसक्ति) का अभाव 'विराग' अर्थात् वैराग्य है। उसकी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार —ये चार (शास्त्रीय) संज्ञाएँ हैं।

विशेष—भागवत के एकादश स्कन्ध के एक श्लोक में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, इन चारों के बड़े संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित लक्षण दिए गए हैं। वह श्लोक इस प्रकार है :—

१—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इति कणादसूत्रमनुसृत्य धर्मलक्षणं कृतम्।
२—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि —योग०,पाद २।

धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो, ज्ञानञ्चैकात्म्यदर्शनम् । गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ।

इसके अनुसार "भगवद्भक्ति के साधक सभी कर्म 'धर्म' हैं।" भागवत की दृष्टि में ऐसे कर्म यद्यपि मुख्यतः श्रवण, कीर्तन आदि ही हैं, तथापि उपर्युक्त यज्ञ, दान इत्यादि भी इनके सहायक होने से 'धर्म' ही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन कर्मों से लोक तथा परलोक दोनों ही सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से इस परिभाषा का तात्पर्य प्रायः वही है जो ऊपर दी गई परिभाषा का है।

"सभी में एक ही आत्मा को देखना 'ज्ञान' है"। सांख्य में पुरुष एक नहीं, अनेक हैं परन्तु वेदान्त-परक भागवत ने अद्वैतवादी होने से आत्मैक्य-दर्शन को ही ज्ञान कहा है जो सांख्य के प्रकृतिपुरुषविवेक-रूप ज्ञान के आगे जाता है। 'नेति नेति' के अभ्यास द्वारा आत्मा को सभी अनात्म वस्तुओं से पृथक् या भिन्न देखते देखते जब वास्तविक ज्ञान हो जाता है तब एक ओर तो सभी आत्मा एक प्रतीत होते हैं, एवं दूसरी ओर व्यवहार-काल में अनात्म-रूप से प्रतीत होने वाला निखिल विश्व आत्म-रूप प्रतीत होता है, उसमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की प्रतीत होने लग जाती है। आत्मा से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं, उससे पृथक् वह मिथ्या या असत् है। इस प्रकार जहाँ सांख्य का ज्ञान साधक को द्वैत—एक ओर प्रकृति और पुरुष के द्वैत या भेद और दूसरी ओर समस्त पुरुषों के पारस्परिक भेद—में छोड़ता है, वहाँ वेदान्त का ज्ञान साधक को सर्व-विध—एक ओर ब्रह्म तथा समस्त आत्माओं के तथा दूसरी ओर ब्रह्म और माया (जिसके अन्तर्भूत अनात्म सभी कुछ है) के—अद्वैत या अभेद तक ले जाता है।

"तीनों गुणों तथा त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं में अनासक्ति 'वैराग्य' है।" राग ही आकाश, वायु इत्यादि के गुण कहे जाने वाले त्रिगुणात्मक शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयों में इन्द्रियों को प्रवृत्त करता है। न यह राग रहेगा और न इन्द्रियाँ उससे प्रेरित होकर विषयों में आसक्त होंगी। इस लिए यह लक्षण रागाभाव में ही पर्यवसित होता है। वैराग्य का यही व्युत्पत्त्यात्मक लक्षण ऊपर तत्त्वकौमुदी की पंक्तियों में दिया गया है। "अणिमा, महिमा इत्यादि 'ऐश्वर्य' हैं"। इन्हें ही यहाँ भी अभी ऐश्वर्य कहेंगे। इस प्रकार दोनों मतों में चारों में से केवल 'ज्ञान' के स्वरूप के विषय में भेद है, और ज्ञान ही से आत्यन्तिक सिद्धि होने के कारण दोनों के चरम लक्ष्यों में भी स्वरूपतः भेद है।

रागादयः कषायाश्चित्तवर्तिनः, तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्ते। तन्मा प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति तत्परिपाचनाया-ऽऽरम्भ प्रयत्नो यतमानसंज्ञा।

अर्थ—राग, द्वेष आदि चित्त के कषाय[1] अर्थात् मल हैं। इनके द्वारा इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में प्रवर्तित होती है। तो इन विषयों में ये इन्द्रियाँ न प्रवृत्त हों, इसके लिए इन मलों का परिपाक (अर्थात् उपशम) अपेक्षित है। एतदर्थ किया गया आरम्भ अर्थात् प्रयत्न 'यतमान' नामक वैराग्य है।[2]

परिपाचने चानुष्ठीयमाने केचित्कषायाः पक्वाः, पक्ष्यन्ते च केचित्, तत्रैवं पूर्वापरीभावे सति पक्ष्यमाणेभ्यः कषायेभ्यः पक्वानां व्यतिरेके-णावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा।

अर्थ—इन मलों के शमन (प्रक्षालन) के लिए प्रयत्न करने पर कुछ तो शान्त हो जाते हैं और कुछ भविष्य में शान्त होने को रह जाते हैं। इस प्रकार इनके उपशम में पौर्वापर्य या क्रम उपस्थित होने पर भविष्य में शमन करने के लिए अवशिष्ट मलों से पूर्व शान्त हुए मलों को पृथक् करना अर्थात् अवशिष्ट के शमन के लिए अनुष्ठान 'व्यतिरेक' नामक वैराग्य है।

विशेष—ऊपर आया हुआ 'पूर्वापरीभाव' पद बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस का विग्रह इस प्रकार होगा :—

"पूर्वे च अपरे च इति पूर्वापरे; न पूर्वापरे इति अपूर्वापरे; तादृशाः पूर्वापरे भवन्ति इति पूर्वापरीभवन्ति 'अभूततद्भावे च्विः' इति च्विप्रत्ययान्तरूपम्; तद्भावःपूर्वापरीभावः।" तात्पर्य यह है कि जिस समय साधक चित्त के समस्त मलों के क्षय के लिए प्रयत्न आरम्भ करता है, उस समय उनमें 'ये पके हैं या पकने को हैं' इस प्रकार का कोई पौर्वापर्य या क्रम नहीं रहता। कुछ काल

१—कषायणां यथा पटादिरञ्जकत्वमेवं रागादीनामपि चित्तरञ्जकत्वात्कषायत्वम्। —दुपमा

२—(i) तत्परिपाचनाय रागादिमलक्षालनाय यः मैत्र्यादिभावनानुष्ठानरूपः यत्नः स यतमानसंज्ञेत्यर्थः। —विद्वत्तो०

(ii) तत्परिपाचनाय तेषां रागादीनां क्षालनाय तनूकरणाय यः आरम्भः—मैत्रीकरुणा-मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (योग० १-३३) तदुक्तानुष्ठानरूपः प्रयत्नः, स यतमानसंज्ञकवैराग्यमित्यर्थः।—किरणावली

तक प्रयत्न होते रहने पर कुछ मल तो शान्त हो जाते हैं पर कुछ शेष रह जाते हैं। सभी एक साथ नहीं शान्त होते क्योंकि सभी समान रूप से दृढ़ नहीं होते। अतः जो अपेक्षाकृत दृढ़तर होते हैं, वे रह जाते हैं। इस प्रकार कालान्तर में उनमें पौर्वापर्य या क्रम आ जाता है। इसी रहस्य को प्रकट करने के लिये च्वि-प्रत्यायन्त रूप दिया है अन्यथा 'पूर्वापरभाव' या 'पौर्वापर्य' ऐसा पाठ होता। इस रहस्योद्घाटन का साधना की दृष्टि से बड़ा मूल्य है; क्योंकि उसकी सफलता के लिये यह आवश्यक है कि साधक अपने प्रयत्न के बीच बीच में यह पर्यालोचन करता रहे कि उसके प्रयत्न से कौन दोष या मल दूर हुये हैं और कौन से अभी बाकी हैं जिनके लिए विशेष प्रयत्न करना है, ताकि वह भविष्य में उनके विषय में विशेष रूप से सतर्क रह कर प्रयत्न करे। यह इसलिये है कि लक्ष्य को सामने रख कर किया गया प्रयत्न अपेक्षाकृत कम समय में और नियत रूप से सफल होता है। इसी पर्यालोचन या अवधारण के साथ अवशिष्ट मलों की शान्ति के लिए किया जाने वाला प्रयत्न 'व्यतिरेक' वैराग्य कहलाता है। वैराग्य का पहला प्रकार मल-क्षय के लिए केवल प्रयत्न रूप होने से 'यतमान' कहलाता है। प्रस्तुत प्रकार 'अमुक पक चुके हैं, अमुक अभी बाकी हैं', ऐसे व्यतिरेक अर्थात् वैशिष्ट्य या भेद के साथ किये गये प्रयत्न के रूप का होने से 'व्यतिरक' वैराग्य कहलाता है।

इन्द्रियप्रवृत्त्यसमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थापनमेकेन्द्रियसंज्ञा। औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दृष्टानुश्रविकविषयेषु, या संज्ञात्रयात् पराचीना सा वशीकारसंज्ञा। याममत्रभवान् पतञ्जलिर्वर्णयाञ्चकार—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" इति (यो० सू० १।१६)। सोऽयं बुद्धिधर्मो विराग इति।

अर्थ—इन्द्रियों के प्रवृत्ति में असमर्थ हो जाने के कारण पक्व अर्थात् निवृत्त किन्तु विषय-तृष्णा के रूप में फिर भी अवशिष्ट मलों को मन में ही नियत रखना (अर्थात् उभड़ने न देना) 'एकेन्द्रियसंज्ञा' नामक वैराग्य है। भोजन, पान, विलेपन इत्यादि लौकिक और स्वर्गादि वेदोक्त भोग-विषयों के उपस्थित होने पर भी उत्सुकता का भी न होना अर्थात् उनके प्रति अतीव उपेक्षा-बुद्धि का होना 'वशीकार' नामक वैराग्य है जो तीनों के पश्चात् होने वाला (अतः मुख्य) है और जिसे भगवान् पतञ्जलि ने (योग-सूत्र १।१६ में) इस प्रकार वर्णन किया है :—

"लौकिक तथा वेदोक्त (दिव्य) विषयों के सम्बन्ध में वितृष्ण अर्थात् औत्सुक्यहीन साधक के वैराग्य की 'वशीकार' संज्ञा है।"

बुद्धि का धर्म-भूत यह वैराग्य इस (उपर्युक्त) प्रकार का है।

ऐश्वर्यमपि बुद्धिधर्मः, यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः । अत्राणिमा—अणुभावः, यतः शिलामपि प्रविशति । लघिमा—लघुभावः, यतः सूर्य-मरीचीनालम्ब्य सूर्यलोकं याति । गरिमा—गुरुभावः, यतो गुरुर्भवति । महिमा—महतो भावः, यतो महान् भवति । प्राप्तिः, यतोऽङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । प्राकाम्यं—इच्छानभिघातः, यतो भूमावुन्मज्जति निमज्जति च,यथोदके । वशित्वम् ,यतो भूतभौतिकं वशीभवत्यवश्यम् । ईशित्वम्, यतो भूतभौतिकानां प्रभवस्थितिलयानामीष्टे । यच्च कामा-वसायित्वं सा सत्यसङ्कल्पता, येन यथास्य सङ्कल्पो भवति भूतेषु, तथैव भूतानि भवन्ति । अन्येषां मनुष्याणां निश्चयाः निश्चेतव्यमनुविधीयन्ते, योगिनस्तु निश्चेतव्याः पदार्था निश्चयम् । इति चत्वारः सात्त्विका बुद्धिधर्माः ।

अर्थ—ऐश्वर्य भी बुद्धि का धर्म है, इससे अणिमा इत्यादि की उत्पत्ति होती है। इनमें 'अणिमा' अणुभाव या सूक्ष्मता है जिससे योगी शिला में भी प्रविष्ट हो जाता है। 'लघिमा' लघुता या हल्कापन है जिससे योगी सूर्य की किरणों के सहारे सूर्य-लोक में पहुँच जाता है। 'गरिमा' गुरुता या भारीपन है जिससे योगी भारी हो जाता है। 'महिमा' महत्त्व को कहते हैं, जिससे योगी बड़े परिमाण का हो जाता है। 'प्राप्ति' वह है जिससे योगी (बिना महत् परिमाण के भी) अङ्गुलि के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेता है। 'प्राकाम्य' इच्छा का अनवरोध या साफल्य है जिससे योगी जलवत् पृथ्वी से ऊपर निकल कर फिर उसी में प्रविष्ट हो जाता है। 'वशित्व' वह है जिससे पृथ्वी इत्यादि 'भूत' तथा उनसे उत्पन्न हुए घट, पट आदि 'भौतिक'—सभी पदार्थ अवश्य वशीभूत हो जाते हैं। 'ईशित्व' वह है जिससे योगी सभी भूतों तथा भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश में समर्थ होता है। जो 'कामावसायित्व'[1]

१—ईशित्वस्यैवाभिधानान्तरमाह—यच्च कामावसायित्वमिति ।···भूतेषु यथा संकल्पो भवति—विषमप्यमृतकार्यं करोतु-इति संकल्पयति चेत् , तथैव भूतानि भूतप्रकृत्यादयः भवन्ति, विषमप्यमृतं भवतीति । ननु शक्तोऽपि कथं न विपर्ययं करोति चन्द्रमसमादित्यं कुहूं च सिनी-वालीमिति चेत् न; शक्तत्वेऽप्येते परमेश्वरस्याज्ञामतिक्रमितुं नोत्सहन्ते इति ॥

—किरणावली ।

है, वह संकल्प का सत्य अथवा अवितथ होना है जिससे योगी का जैसा सङ्कल्प या निश्चय होता है, वैसे ही प्राणी हो जाते हैं। इतर जनों के निश्चय निश्चित किये जाने वाले विषय का अनुसरण करते हैं, परन्तु योगी के निश्चय का तो निश्चित किये जाने वाले पदार्थ ही अनुसरण करते हैं। ये चारों बुद्धि स्वक धर्म हैं।

तामसास्तु तद्विपरीता बुद्धिधर्माः। अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याभिधानाश्चत्वार इत्यर्थः ॥२३॥

अर्थ—बुद्धि के तामस धर्म तो इनसे विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य—ये चार हैं।

अहङ्कारस्य लक्षणमाह—'अभिमान' इति।

अर्थ—अब (बुद्धि का लक्षण करके) 'अभिमानोऽहङ्कारः' इत्यादि के द्वारा अहङ्कार का लक्षण कहते हैं :—

अभिमानोऽहङ्कारः, तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥२४॥

अर्थ—'मैं'—इस प्रकार के अभिमान को 'अहङ्कार' कहते हैं। उससे दो ही प्रकार के कार्य होते हैं। एक तो ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय और दूसरा पाँच तन्मात्राओं का।

'अभिमानोऽहङ्कारः'। 'यत् खल्वालोचितं मतं च तत्र अहमधिकृतः, शक्तः खल्वहमत्र,' 'मदर्था एवामी विषयाः' 'मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति,' 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारः। तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति—'कर्तव्यमेतन्मया' इति।

अर्थ—'अहङ्कार' अभिमान को कहते हैं। 'जो यह गृहीत और विचारित विषय है, इसमें मैं ही अधिकृत हूँ, मैं ही इसे करने में समर्थ हूँ, ये विषय मेरे ही लिए हैं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इसमें अधिकृत नहीं है, अतः मैं ही (अधिकृत) हूँ—इस प्रकार का यह अभिमान 'अहङ्कार' का असाधारण कार्य होने के कारण 'अहंकार' है। इसी के आश्रय से बुद्धि 'यह मुझे करना है'—ऐसा निश्चय करती है।

विशेष—जैसे कार्य और कार्य करने वाले में अभेद-विवक्षा से अध्यवसाय या निश्चय को ही बुद्धि कहा है, वस्तुतः बुद्धि निश्चयात्मक तत्त्व है, उसी प्रकार अभिमान को भी, जो अहंकार का अपना असाधारण कार्य है,

अभेद-विवक्षा से 'अहङ्कार' कहा है, यद्यपि अहङ्कार वस्तुतः अभिमन्ता अर्थात् अभिमान करने वाला तत्त्व है।

तस्य कार्यभेदमाह—"तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः" इति। प्रकार-द्वयमाह—"एकादशकश्च गणः" इन्द्रियाह्वयः, "तन्मात्रपञ्चकश्चैव"। द्विविध एव सर्गोऽहङ्कारात्, न त्वन्य इति 'एव' कारेणावधारयति ॥२४॥

अर्थ—अब उसके कार्य के भेद कहते हैं—'उससे दो प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं'। दोनों प्रकार कहते हैं—'ग्यारह का समूह' जो इन्द्रिय कहलाता है, और 'पाँच तन्मात्राओं का समूह'। अहङ्कार से दो ही प्रकार के कार्य होते हैं, उनके अतिरिक्त कोई नहीं। यह कारिका के अन्तिम पद 'एव' के द्वारा निश्चित रूप से कहा है।

स्यादेतत्, अहङ्कारादेकरूपात्कथं जडप्रकाशकौ गणौ विलक्षणौ भवत इत्यत आह—'सात्त्विक' इति।

अर्थ—द्विविध कार्य भले ही हों, पर एकविध अहंकार से जड़ और प्रकाशक दो विलक्षण गण कैसे उत्पन्न होते हैं? इसके उत्तर में 'सात्त्विक एकादशकः' इत्यादि अग्रिम कारिका प्रस्तुत करते हैं :—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम् ॥२५॥

अर्थ—सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है। तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्राओं का तामस गण उत्पन्न होता है। राजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं।

प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतात् सात्त्विकादहंकारात्प्रवर्तते। भूतादेस्त्वहङ्कारात्तामसात्तन्मात्रो गणः प्रवर्तते। कस्मात्? यतः 'स तामसः'। एतदुक्तम्भवति, यद्यप्येकोऽहङ्कारस्तथाऽपि गुणभेदोद्भवाभिभवाभ्यां भिन्नं कार्यं करोतीति।

अर्थ—प्रकाशकारिणी तथा लघु (क्षिप्र) होने के कारण ग्यारह इन्द्रियों का समूह सात्त्विक है, अतः यह 'वैकृत' अर्थात् सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है। 'भूतादि' अर्थात् तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्राओं का गण उत्पन्न होता है। यह क्यों? क्योंकि यह गण तामस है। कहने का तात्पर्य यह है कि

यद्यपि अहंकार एक ही है, तथापि गुण-विशेष के आविर्भाव और तिरोभाव से भिन्न २ कार्य करता है।

ननु यदि सत्त्वतमोभ्यामेव सर्वं कार्यं जन्यते तदा कृतमकिञ्चित्करेण रजसेत्यत आह—"तैजसादुभयम्" इति। तैजसात् राजसादुभयं गणद्वयं भवति। यद्यपि रजसो न कार्यान्तरमस्ति, तथापि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति। तदुभयस्मिन्नपि कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेणास्ति रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रज इति ॥२५॥

अर्थ—प्रश्न यह है कि यदि सत्त्व और तमस् गुणों से ही सारा कार्य उत्पन्न होता है, तो कुछ न करने वाले रजस् का क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तैजस अर्थात् राजस अहंकार से दोनों ही कार्य-गण उत्पन्न होते हैं'। यद्यपि रजोगुण का अपना पृथक् या स्वतन्त्र कोई भी कार्य नहीं है, तथापि सत्त्व और तमस् स्वतः प्रवृत्तिशील न होने के कारण समर्थ होने पर भी अपना-अपना कार्य नहीं कर पाते। परन्तु प्रवृत्तिशील होने के कारण रजस् जब उन्हें प्रवर्तित करता है, तब वे अपना कार्य करते हैं। तो सत्त्व और तमस् में अपने-अपने कार्य में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के कारण इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं की उत्पत्ति में रजस् भी कारण है, अतः वह व्यर्थ नहीं है।

सात्त्विकमेकादशमाख्यातुं बाह्येन्द्रियदशकं तावदाह—"बुद्धीन्द्रियाणि" इति।

अर्थ—सात्त्विक ग्यारहवीं इन्द्रिय का वर्णन करने के लिए पहले बाह्य दश इन्द्रियों का 'बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः...' इत्यादि अग्रिम कारिका द्वारा वर्णन करते हैं :—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

अर्थ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा त्वक् नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि (हाथ), पाद, पायु (मल-त्यागेन्द्रिय) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं।

सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्। तच्च द्विविधं—बुद्धीन्द्रियं, कर्मेन्द्रियं च। उभयमप्येतत् इन्द्रस्यात्मनश्चिह्नत्वादिन्द्रियमुच्यते। तानि च स्वसंज्ञाभिश्चक्षुरादिभिरुक्तानि।

अर्थः—जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहङ्कार उपादान कारण हो, वह 'इन्द्रिय' है। वह दो प्रकार की होती है—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ये दोनो ही प्रकार की इन्द्रियाँ 'इन्द्र' अर्थात् आत्मा के लिङ्ग[1] (ज्ञापक) होने के कारण 'इन्द्रिय' कहलाती हैं। ये इन्द्रियाँ चक्षु, श्रोत्र इत्यादि अपने अपने नामों द्वारा कही गई है।

विशेष—ऊपर की पंक्तियों में 'इन्द्रिय' के दो लक्षण दिए गए हैं। इनमें द्वितीय लक्षण तो व्युत्पत्त्यात्मक है और केवल यह बताने की दृष्टि से दिया गया है कि चक्षु, श्रोत्र आदि की 'इन्द्रिय' संज्ञा क्यों है? प्रथम लक्षण तत्त्वकौमुदीकार ने गत (२५ वीं) कारिका के 'सात्त्विक एकादशकः' अंश के आधार पर दिया है जिसका उनके मत से यह अर्थ है कि 'ग्यारह इन्द्रियों का समूह सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है'। परन्तु इसके विषय में बड़ा ही मतभेद है। नैयायिक इत्यादि सांख्य-विरोधियों का तो कहना ही क्या, विज्ञानभिक्षु जैसे प्रसिद्ध अर्वाचीन सांख्य-टीकाकारों का भी इस मत से भेद है। विज्ञानभिक्षु ने—"वैकारिकास्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा। अहन्तत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ॥ वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः। तैजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ॥ तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः ख लिङ्गमात्मनः ॥" इत्यादि पौराणिक वचनों में सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव तथा मन, राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ, तथा तामस अहङ्कार से पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति की प्रक्रिया देख कर 'सात्त्विकमेकादशकम्' (सां० सू० २। १८) का अपने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में तदनुकूल अर्थ किया है। एवं सांख्य-कारिकाओं के अपने व्याख्यान में भी २५ वीं कारिका पर व्याख्यान लिखते हुए "सात्त्विक एकादशकः इत्यनेन मनो ग्राह्यं, तैजसादुभयमित्युभयपदेन च द्विविधमिन्द्रियं ग्राह्यम्"—ऐसा लिखा है। इससे स्पष्ट है, कि विज्ञानभिक्षु के मतानुसार केवल ग्यारहवाँ इन्द्रिय मन ही सात्त्विक है. अन्य दसों इन्द्रियाँ आहङ्कारिक होती हुई भी राजस हैं, सात्त्विक नहीं। सांख्य-सिद्धान्त की दृष्टि से यह मत उचित या अनुचित जो भी हो, पर सांख्य-कारिका की प्रस्तुत पंक्ति के अर्थ की दृष्टि से तो यह

१—'इन्द्र' आत्मा, तस्य लिङ्गं ज्ञापकं (करणव्यापारः कर्तृपरतन्त्रः व्यापारत्वात् कुठारव्यापारवत्' इत्येव करणेन कर्तुरनुमाद् इन्द्रियाणामामलिङ्गत्वम्—स्वटिप्पण्यां बालरामः) इत्यर्थे 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्' (सांख्यसूत्र ५। २। ९३) इत्यादि सूत्रेण 'इन्द्रियम्' इति साधु इत्यभिप्रेत्य इन्द्रियपदव्युत्पत्तिमाह—उभयमप्येतदित्यादिना। —विद्वत्तो०

अवश्य ही युक्त नहीं लगता क्योंकि जैसा उदासीन जी ने विद्वत्तोषिणी में लिखा है, 'एकादशक' शब्द 'एकादश-संख्या-परिमित गण'—इसी अर्थ का द्योतक होने से केवल मन का वाचक हो ही नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि ग्यारह के वाचक 'एकादश' शब्द में पूरणार्थक 'डट्' प्रत्यय लगाने से 'ग्यारहवाँ' इस अर्थ को देने वाले 'एकादश' शब्द के बन जाने पर 'स्वार्थे' 'क' प्रत्यय लगकर 'एकादशक' शब्द बना है और इस प्रकार 'ग्यारहवाँ' इस अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जायगी, तो यह कथन भी असंगत है क्योंकि ऐसा होने पर 'मनस्' शब्द के नपुंसकलिङ्ग होने के कारण कारिका में 'सात्त्विकमेकादशकम्' ऐसा ही पाठ होना चाहिए था। यदि यह कहा जाय कि सांख्य-सूत्र 'सात्त्विकमेकादशकम्' के अनुरोध से यहाँ भी 'सात्त्विकमेकादशकम्' ही पाठ उचित है, एवं पुंल्लिङ्ग-पाठ प्रमाद है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सांख्य-सूत्रों में उपर्युक्त सूत्र के बाद के 'कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्' सूत्र में 'एकादशकम्' पद से ग्यारह इन्द्रियों का ही ग्रहण होने के कारण इसके पूर्व के सूत्र ('सात्त्विकमेकादशकम्') का भी 'ग्यारहों इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं'—यही तात्पर्य ज्ञात होता है, 'ग्यारहवाँ इन्द्रिय (मन) सात्त्विक है'—यह नहीं।

अब जहाँ तक दोनों अर्थों के सांख्य-सिद्धान्तों के अनुकूल या प्रतिकूल होने का प्रश्न है, वहाँ भी तत्त्वकौमुदीकार का ही अर्थ अधिक सङ्गत लगता है। यदि इस अर्थ के विरुद्ध कोई यह शङ्का करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करतीं, उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए तो ऐसी ही शंका तो विज्ञानभिक्षु के भी अर्थ के सम्बन्ध में होगी; क्योंकि यदि सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक नहीं हैं, केवल मन ही सात्त्विक है तो फिर बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश क्यों करती हैं? पूर्व अर्थ के विरुद्ध उठी हुई शङ्का का तो समाधान भी है और वह यह कि चूँकि उत्कृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से मन, मध्यम सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से बुद्धीन्द्रियाँ तथा निकृष्ट- सत्त्व-प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, अतएव जहाँ मन सर्वाधिक विषय-प्रकाशक है, वहाँ बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हुई भी मन की तरह नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो प्रकाश करती ही नहीं, तथापि सात्त्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण चिप्रकारिणी हैं, अन्यथा ऐसी न होतीं; परन्तु द्वितीय अर्थ के विरुद्ध उठी हुई शङ्का का कोई भी परिहार नहीं दिखाई पड़ता।

अत्र जो नैयायिक इत्यादि दार्शनिक इन्द्रियों को भौतिक अर्थात् आकाश इत्यादि भूतों से क्रमशः उत्पन्न मानते हैं और उसमें 'चक्षुरिन्द्रियं तैजसं रूपादिषु पञ्चसु रूपस्यैवाभिञ्जकत्वात् दीपवत्', 'त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु स्पर्शस्यैवाभिञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिञ्जकव्यजनपवनवत्', 'रसनं जलीयं रूपादिषु पञ्चसु रसस्यैवाभिञ्जकत्वात् दन्तान्तस्तोयवत्' इत्यादि अनुमान प्रमाण देते हैं,यह सर्वथा भ्रमात्मक है क्योंकि विचार करने पर इनके विरुद्ध जो बात आपाततः मन में आती है, वह यह है की यदि ये इन्द्रियाँ प्रकाशक सात्विक अहङ्कार से न उत्पन्न होकर अप्रकाशक आकाश, वायु आदि पाँच भूतों से पृथक् पृथक् उत्पन्न हुईं तो ये प्रकाशक कैसे हुईं ? आकाश इत्यादि की भाँति इन्हें भी प्रकाश्य होना चाहिए, प्रकाशक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त प्रकार के अनुमानों में नैयायिक जो यह हेतु देते हैं कि चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ आकाश, वायु आदि भूतों के शब्द, स्पर्श आदि विशेष गुणों की उपलब्धि में (पृथक् पृथक्) करण हैं, यह ठीक नहीं है क्योंकि यह दीप इत्यादि उदाहरणों में प्राप्त या उपस्थित नहीं हैं। जैसे दीप ही को लेकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दीप 'रूप' के प्रत्यक्ष में करण नहीं है क्योंकि कारण तो वह है जिसके होने पर कार्य अवश्य हो, परन्तु रूप के प्रत्यक्ष में सन्निकृष्ट चक्षुरिन्द्रिय ही करण है, दीप नहीं। अन्यथा चक्षुरिन्द्रिय-सन्निकर्ष के अभाव में भी दीप से रूप का प्रत्यक्ष होता। जब उदाहरण ही असिद्ध है, तब अनुमान कहाँ से सिद्ध होगा ?

इस प्रकार दोनों ही पक्षों के निराकरण (प्रत्याख्यान) से इन्द्रियों का तत्त्वकौमुदीकार-कृत उपर्युक्त लक्षण—'सात्त्विकाहङ्करोपादनकत्वमिन्द्रियत्वम्'—ही युक्त सिद्ध होता है ॥

तत्र रूपग्रहणलिङ्गं चक्षुः, शब्दग्रहणलिङ्गं श्रोत्रम्, गन्धग्रहणलिङ्गं घ्राणम्, रसग्रहणलिङ्गं रसनम्,स्पर्शग्रहणलिङ्गं त्वक्, इति ज्ञानेन्द्रियाणां संज्ञा। एवं वागादीनां कार्यं वक्ष्यति (का०२८) ॥ २६ ॥

अर्थ—:उनमें 'रूपोपलब्धि' लिङ्ग या हेतु से (उसके करण रूप में) सिद्ध होने वाली इन्द्रिय 'चक्षु', 'शब्दोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय 'श्रोत्र', 'गन्धोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय 'घ्राण', 'रसोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय 'रसना', तथा स्पर्शोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय 'त्वक् है। वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियों के कार्य आगे (२८ वीं कारिका में) कहेंगे ॥ २६ ॥

विशेष—ऊपर 'रूपग्रहणलिङ्ग' समास का 'रूपग्रहणं रूपोपलब्धिः लिङ्गमनुमापकं यस्य तत् रूपग्रहणलिङ्गं चक्षुरित्यर्थः' विग्रह लेकर अनुवाद किया गया है। किन्तु यदि 'ग्रहण' में 'भावे ल्युट्' न मानकर 'करणे ल्युट्' मानें तो उसका 'गृह्यते अनेनेति ग्रहणमुपलब्धिकरणम्' अर्थ होगा और तब सम्पूर्ण समास-पद का 'रूपस्य ग्रहणं रूपग्रहणं रूपप्रत्यक्षकरणमित्यर्थः; रूपग्रहणं च लिङ्गं (इन्द्रस्य) चेति रूपग्रहणलिङ्गं रूपप्रत्यक्षकरणम् इन्द्रियम्' ऐसा अर्थ होगा। तब सम्पूर्ण वाक्य का—'जो इन्द्रिय 'रूप' की उपलब्धि का करण होती है, वह चक्षु है; जो इन्द्रिय शब्द की उपलब्धि का करण होती है, वह श्रोत्र है...' इत्यादि अनुवाद होगा। यद्यपि बुद्धि और अहङ्कार भी इन्द्र या आत्मा के लिङ्ग होने से 'इन्द्रिय' कहे जा सकते हैं, तथापि योग-रूढ होने से यह पद चक्षु, श्रोत्र इत्यादि में ही रूढ है। इस प्रकार इन्द्रिय के वाचक 'लिङ्ग' पद को जोड़ देने से रूपादि के प्रत्यक्ष में करण होने वाले बुद्धि और अहंकार में इन लक्षणों की अतिव्याप्ति न होगी और यह अनुवाद भी ठीक ही होगा।

अथवा 'ग्रहण' शब्द का पूर्ववत् 'भाव' ही अर्थ लेकर तथा 'लिङ्ग' शब्द को 'लिङ्गम् इन्द्रस्य' अर्थात् इन्द्रिय का वाचक मानकर उपर्युक्त 'रूपग्रहणलिंङ्ग' पद का 'रूपग्रहणस्य रूपप्रत्यक्षस्य लिङ्गं करणम्' ऐसा सीधा अर्थ भी किया जा सकता है। उदासीन जी ने इसी अर्थ को सर्वप्रथम ग्रहण किया है और जो अर्थ यहाँ प्रथम ग्रहण किया गया है, उसे इस तीसरे है अर्थ के विकल्प-रूप में दिया है, यद्यपि वही अर्थ सबसे अधिक निर्दोष, क्योंकि बाद के दोनों ही अर्थों में 'लिङ्ग' का 'इन्द्रलिङ्ग' अर्थ लिया गया है और यह अर्थ लेने पर इन्द्रिय का लक्षण इन्द्र का लिङ्ग बनने वाले बुद्धितत्त्व और अहङ्कार में अतिव्याप्त होगा; और इस अनिष्ट अर्थ के प्रसंग से बचने के लिए 'लिङ्ग' को 'इन्द्रिय' अर्थ में रूढ मानना होगा।

एकादशमिन्द्रियमाह—उभयात्मकमिति।

अर्थ—अब 'उभयात्मकमत्र मन......' इत्यादि के द्वारा ग्यारहवीं इन्द्रिय का कथन करते हैं :—

उभयात्मकमत्र मनः, सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

१—रूपग्रहणलिङ्ग' रूपोपलब्धिकरणम्, एवमग्रेऽपि।.....यद्वा 'रूपग्रहणं करणजन्यक्रियात्वात् छिदिक्रियावत्' इत्येवं रूपग्रहणमेव लिङ्गमनुमापकं यस्य तत्, रूपग्रहणलिङ्ग रूपज्ञानानुमेयमित्याद्यर्थोऽत्र ज्ञेयः।—विद्वत्तो०

अर्थ—इनमें मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है और इन्द्रियों के सजातीय होने से 'इन्द्रिय' कहलाता है। गुणों के विशिष्ट परिणाम (अर्थात् धर्माधर्मात्मक अदृष्ट) के कारण जैसे (एकविध तामस अहङ्कार से) विविध बाह्य पदार्थ (तन्मात्र) उत्पन्न होते है, वैसे ही (एकविध सात्त्विक अहंकार से) विविध इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

विशेष—(i) उपर्युक्त स्थल में 'गुणपरिणामविशेषात्' पद का 'धर्माधर्म-रूप अदृष्ट' अर्थ तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार है। परन्तु सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र के परमार्थ-कृत चीनीभाषा-गत अनुवाद तथा माठर-वृत्ति के अनुसार इस पद का अर्थ 'सत्त्व, रजस, तमस् नामक तीनों गुणों[1] का विषम परिणाम' है, जो सामान्यतः इस शास्त्रमें अन्यत्र भी है।

'उभयात्मकत्व' का दृष्टान्त माठरवृत्ति में इस प्रकार है।—'यथा देवदत्तो गोपालमध्ये गोपालत्वं कुरुते, मल्लमध्ये स्थितः मल्लत्वं कुरुते।' इसी पर परामार्थ-कृत चीनीभाषा-गत अनुवाद में जो दृष्टान्त है, उसका संस्कृत-रूपान्तर इस प्रकार है :—यथा एकः पुरुषः कदाचित् कर्मकर उच्यते, कदाचित् प्रवक्ता, एवं मन इन्द्रियमपि (पृ० ४०)।

(ii) कारिका के 'बाह्यभेदाश्च' पाठ के विषय में मत-भेद है। गौडपाद-भाष्य, जयमङ्गला तथा न्यायचन्द्रिका मे भी यही पाठ गृहीत है। परन्तु माठर-वृत्ति तथा सुवर्णसप्तति-शास्त्र में इसके स्थान में 'ग्राह्यभेदाच्च' पाठ गृहीत है। यह पाठ होने पर कारिका की दूसरी पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—'अपने द्वारा ग्राह्य (बाह्य) विषयों के अनेक होने के कारण भी इन्द्रियाँ अनेक हैं।'[2]

अत्र एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये मन उभयात्मकम्, बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः।

अर्थ—ग्यारह इन्द्रियों में मन दोनों ही प्रकार का अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी है क्योंकि मन से ही संयुक्त होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ अपने अपने विषय में प्रवृत्त होती है, अन्यथा नहीं।

१—त्रयो गुणाः अहङ्कारस्थाः पुरुषार्थवशादेकादशेन्द्रियाणि परिणमन्ति। कः पुरुषार्थः? इमे एकादश बाह्यविषया बहवः विषमाश्च।—सुवर्णसप्तति-शास्त्र के चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर, पृ० ४१

२—गुणपरिणामविशेषादेकादशेन्द्रियाणां भेदः। ग्राह्यभेदाच्च ग्राह्या एकादशेन्द्रियार्थास्तेषां भेदादपि इन्द्रियाणां भेदः।—माठरवृत्तिः

तदसाधारणेन रूपेण लक्षयति—"सङ्कल्पकमत्र मनः" इति। सङ्कल्पेन रूपेण मनो लक्ष्यते। आलोचितमिन्द्रियेण वस्तु 'इदम्' इति सम्मुग्धम् 'इदमेवं, नैवम्' इति सम्यक्कल्पयति–विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत्। यदाहुः—'सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम्। तत् सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः'—इति। तथा हि—'अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम्[१]॥ ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यथा। बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता (श्लो० वा० प्रत्यक्षसूत्रम् ११२, १२०)॥ सोऽयं सङ्कल्पलक्षणो व्यापारो मनसः समानासमानजातीयाभ्यां व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति।

अर्थ—अत्र विशिष्ट रूप से उसका लक्षण कहते हैं—

'संकल्प करने वाला मन है'। 'संकल्प' से मन लक्षित होता है। इन्द्रिय के द्वारा किसी विषय के 'यह वस्तु' इस प्रकार अविविक्त (अर्थात् सामान्य और विशेष से रहित) या अस्पष्ट रूप ज्ञात होने पर मन के द्वारा 'यह वस्तु ऐसी है, ऐसी नहीं' इस प्रकार से उनका संकल्प अर्थात् विशेषण-विशेष्य (यह घटत्व-विशिष्ट घट है,। इत्यादि) रूप से विवेचन या स्पष्ट ज्ञान होता है; जैसा कि वृद्ध आचार्यों ने कहा है:—'पहले लोगों को अविकल्पित अर्थात् सामान्य एवं विशेष से हीन वस्तु-मात्र का अस्पष्ट (निर्विकल्पक) प्रत्यक्ष होता है। फिर मन के द्वारा सामान्य एवं विशेष विकल्पों से युक्त (अर्थात् सविकल्पक) रूप में उसका प्रत्यक्ष होता है।' वह इस प्रकार :—

"पहले इन्द्रिय के द्वारा अविविक्त समस्त वस्तु के विषय में बालक, मूक इत्यादि के ज्ञान के सदृश अस्पष्ट निर्विकल्पक ज्ञान होता है। उसके पश्चात् (नीलत्व, घटत्व इत्यादि) सामान्य धर्मों से युक्त वस्तु का निश्चित ज्ञान होता है और यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है" (कुमारिल भट्ट-कृत श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र ११२, १२०)॥

मन का यह संकल्प-रूप व्यापार उसे सजातीय एवं विजातीय पदार्थों से पृथक् करने के कारण मन का (सही) लक्षण है।

स्यादेतत्—असाधारणव्यापारयोगिनौ यथा महदङ्कारौ नेन्द्रियम्, एवं मनोऽप्यसाधारणव्यापारयोगि नेन्द्रियं भवितुमर्हतीत्यत आह—

१—श्रीबालरामोदासीनैः 'मुग्धवस्तुजम्' इत्यस्य स्थाने 'शुद्धवस्तुजम्' इति पाठो गृहीतः। अस्य कारणं विवृण्वद्भिस्तैः स्वटिप्पण्यां 'मुग्धवस्तुजम इति पाठ उपलभ्यमानोऽपि न्यायरत्नाकरानुरोधेन परित्यक्तः' इत्येवं लिखितम्। पाठद्वयेऽपि तात्पर्यं समानमेव॥

"इन्द्रियं च" इति । कुतः ? "साधर्म्यात्" । इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वं च साधर्म्यम् न त्विन्द्रलिङ्गत्वम्, महदहङ्कारयोरप्यात्मलिङ्गत्वेनेन्द्रियत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वम्, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

अर्थ—परन्तु जैसे असामान्य कार्य वाले महत् और अहङ्कार इन्द्रिय नहीं हैं, वैसे ही असामान्य कार्य करने वाला मन भी इन्द्रिय नहीं हो सकता । इसके उत्तर में कहते हैं—'यह इन्द्रिय है' । क्यों ? 'इसलिए कि अन्य इन्द्रियों के साथ इसकी समानता है' । यह समानता इस बात की है कि अन्य इन्द्रियों की ही भाँति यह मन भी सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है, न कि इस बात की कि मन भी अन्य इन्द्रियों की ही भाँति 'इन्द्र' या आत्मा का लिङ्ग है क्योंकि तब तो महत् और अहङ्कार भी आत्म-लिङ्ग होने के कारण मन की ही भाँति इन्द्रिय कहलाने लगेंगे । इसलिये जो पूर्व में 'इन्द्रिय' को इन्द्र-लिङ्ग कहा गया है, वह केवल 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए, न कि इसलिए कि चक्षु इत्यादि के 'इन्द्रिय' होने या कहे जाने में 'इन्द्रिय-लिंगता' प्रयोजक[1] या कारण है ।

विशेष—मूल के असारणव्यापारयोगिनौ यथा महदहङ्कारौ नेन्द्रियम्' से तो आपाततः ग्रन्थकार के कथन का यही अभिप्राय लगता है कि विशिष्ट व्यापार वाले होने से ही महत् और अहङ्कार इन्द्रिय नहीं हैं, अर्थात् विशिष्ट व्यापार वाला होना इन्द्रिय होने का व्याघातक या व्यावर्तक है । परन्तु ऐसा मान लेने पर तो चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ भी इन्द्रिय नहीं होंगी, क्योंकि वे भी 'दर्शन' आदि विशिष्ट व्यापार (कार्य) वाली हैं । इसलिए उपर्युक्त शङ्का को नकारात्मक न समझ कर स्वीकारात्मक[2] ही समझना चाहिए । मूल की पंक्ति का भाव यह है कि यदि विशिष्ट व्यापार वाला मन इन्द्रिय है तो विशिष्ट

१—(i) तथा चेन्द्रियपदं पङ्कजादिपदवद्योगरूढमित्यर्थः, न तु प्रवृत्तिनिमित्तिमिति—प्रवृत्तेः शब्दस्य निमित्तं प्रयोजकं शक्यतावच्छेदकम् इत्यर्थः, तस्यातिप्रसक्तत्वेन शक्यतावच्छेदकत्वासम्भवात् ।—सुषमा०

(ii) तस्माद् व्युत्पत्तिमात्रं प्रकृतिप्रत्ययार्थान्वाख्यानमात्रमिदमिन्द्रलिङ्गत्वं यथा गच्छतीति गौरिति, न तु 'प्रवृत्तिनिमित्तं' इन्द्रियपदस्य चक्षुरादौ प्रवृत्तेर्निमित्तं, तदतिप्रसक्तत्वात् इत्यर्थः ।—विद्वत्तोषिणी

२—यद्यपि नासाधारणव्यापारयोगित्वमिन्द्रियत्वव्याघातकं तथात्वे चक्षुरादीनामप्यनिन्द्रियत्वप्रसंगात्, तथापि 'यद्यसाधारणव्यापारवतो मनस इन्द्रियत्वं, (तर्हि) तथाविधयोर्महदहंकारयोरपि कथं नेन्द्रियत्वम्' इत्याशयेनेयं शङ्का ज्ञेया ॥ —विद्वत्तोषिणी

व्यापार वाले महत् और अहङ्कार को भी इन्द्रिय होना चाहिए। वे इन्द्रिय क्यों नहीं हैं? इसके उत्तर में आगे की पंक्तियाँ आई हैं जिनका तात्पर्य यह है कि मन का इन्द्रिय होना उसके विशिष्ट व्यापार वाला होने के कारण नहीं अपितु अन्य इन्द्रियों के साथ उसकी समानधर्मता होने के कारण सिद्ध होता है और यह समानधर्मता इस बात की है कि मन और इन्द्रियाँ दोनों ही सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं। इसके विपरीत यदि 'इन्द्रलिंगत्व' को इन्द्रिय होने का कारण मानेंगे तो जो दोष 'असाधारणव्यापारयोगित्व' को 'इन्द्रिय' का लक्षण मानने में होता है, वही दोष यहाँ भी उत्पन्न होगा। अर्थात् यदि मन अन्य इन्द्रियों की भाँति 'इन्द्र' अर्थात् आत्मा का लिंग होने से इन्द्रिय होगा तो महत् और अहंकार भी आत्मा के लिंग होने से इन्द्रिय होंगे।

मन के इन्द्रिय न होने की शंका एक और प्रकार से भी उठाई जा सकती है, जैसा कि विद्वत्तोषिणीकार ने 'यद्वा[1] यथा..... ' इत्यादि के द्वारा उठाई है। इस का भाव यह है कि इन्द्रिय वही है जो नियत विषयों का ही ग्रहण करती है, सभी विषयों का नहीं। इसलिए जैसे महत् और अहङ्कार सर्वविषयक अर्थात् सभी विषयों के ग्रहण में अनिवार्य या नियत रूप से विद्यमान होने के कारण इन्द्रिय नहीं हैं, उसी प्रकार सर्वविषयक होने से मन को भी इन्द्रिय नहीं होना चाहिए।

अथ कथं सात्त्विकाहङ्कारादेकस्मादेकादशेन्द्रियाणीत्यत आह—"गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च" इति। शब्दाद्युपभोगसम्प्रवर्तकादृष्टसहकारिभेदात्काय भेदः। अदृष्टभेदोऽपि गुणपरिणाम एव। 'बाह्यभेदाश्च' इति दृष्टान्तार्थम्, यथा बाह्यभेदास्तथैतदपीत्यर्थः।

अर्थ—परन्तु एकविध सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ कैसे उत्पन्न हो सकती हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—'गुणों के परिणाम-भेद से विभिन्न तन्मात्राओं की भाँति ही विविध इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। अर्थात् शब्द स्पर्श इत्यादि विषयों का उपभोग या अनुभव कराने वाले अदृष्ट-रूप सहकारी या निमित्त कारण की विभिन्नता से कार्य में विभिन्नता आ जाती है। अदृष्ट की विभिन्नता भी गुणों का परिणाम ही है। 'बाह्यभेदाश्च'[2] पद दृष्टान्त देने

१—यद्वा यथा प्रतिनियतविषयाणामेव नयनादीनामिन्द्रियत्व न सर्वविषत्वेनानियतविषययोर्महदहङ्कारयोरिन्द्रियत्वं, तथा मनसोऽपि सर्वविषयत्वेन नेन्द्रियत्वं भवितुमर्हतीत्येवमिय शङ्का नेया—विद्वत्तोषिणी

२— (i) चकारो दृष्टान्तार्थः, यथा बाह्यभेदा इति। तथा च यथा तामसादेकरूपादेषा-

के लिए आया है। इसका अर्थ यह है कि जैसे बाह्य अर्थात् तन्मात्र इत्यादि विविध पदार्थ (एकविध तामस अहंकार इत्यादि से उत्पन्न होते हैं), उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी (एकविध सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं) ॥२७॥

तदेवमेकादशेन्द्रियाणि स्वरूपतः उक्त्वा दशानामप्यसाधारणीवृत्तीराह—

अर्थ—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियों के स्वरूप का वर्णन करके अब दश इन्द्रियों के विशिष्ट व्यापारों का कथन करते हैं—

रूपादिषु[1] पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

अर्थ—पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार रूप, रस इत्यादि पाँचों विषयों का केवल 'आलोचन' (अर्थात् अविविक्त या अस्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान करना) कहा जाता है। एवं भाषण, ग्रहण, गमन, मल-त्याग तथा रमण पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार कहे जाते हैं।

बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचनमुक्तम्। "वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्"-कर्मेन्द्रियाणाम्। कण्ठताल्वादिस्थानमिन्द्रियं वाक , तस्या वृत्तिर्व्यापारः वचनम्, ज्ञानेन्द्रियाणां वृत्तयः स्पष्टाः।

अर्थ—ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अविविक्त वस्तु का अस्पष्ट या निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान 'आलोचन' कहा गया है। भाषण, ग्रहण, गमन, मल-त्याग एवं रमण पाँच कर्मेन्द्रियों के (व्यापार) हैं। कण्ठ, तालु इत्यादि स्थानों में रहने वाली इन्द्रिय 'वाक, है। उसका व्यापार 'भाषण' है। ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार तो स्पष्ट ही हैं।

अन्तःकरणत्रयस्य वृत्तिमाह—'स्वालक्षण्यम्' इति।

हङ्कारात् गुणपरिणामविशेषरूपसहकारिभेदात् शब्दस्पर्शरूपादितन्मात्राः सम्भवन्ति, तथा एकस्मादपि सात्त्विकादहङ्कारात् विलक्षणानामुत्पत्तौ न किञ्चिद्बाधकमिति।--- सुषमा

(ii) बाह्यभेदाश्चेति। यथा निमित्तभेदात् पृथिव्येकवाऽपि, तज्जन्या बाह्याः सर्वानुभवविषयाः घटपटदण्डादयो भिद्यन्ते, यथा जलमेकमपि निमित्तान् भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीप्रभृतिफलरसतया मधुराम्ललवणादितया भिद्यते, तद्वत् अदृष्टात्मकसहकारिविशिष्टशब्दस्पर्शादिविभिन्नविषयकार्यबलात् अहङ्कारस्य परिणामभेदात् भिन्नानि इन्द्रियाणि तन्मात्राणि च समुत्पद्यन्ते इति भावः।—किरणावली

१—चक्षुरादिक्रमेण पूर्वमिन्द्रियाणामभिधानात् 'शब्दादिषु' इति पाठो न सन्निवेशितः।
—विद्वत्तोषिणी

अर्थ—अब 'स्वालक्षण्यम्' इत्यादि अग्रिम कारिका द्वारा त्रिविध अन्तःकरण का व्यापार वर्णन करते हैं—

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२६॥

अर्थ—तीनों अन्तःकरणों के अपने-अपने लक्षण ही उनके व्यापार हैं। ये प्रत्येक के विशिष्ट व्यापार हैं। 'प्राण' इत्यादि पञ्च वायु इनके सामान्य व्यापार हैं।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य। स्वमसाधारणं लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि महदहङ्कारमनांसि, तेषां भावः स्वालक्षण्यम्, तच्च स्वानि स्वानि लक्षणान्येव। तद्यथा—महतोऽध्यवसायः, अहङ्कारस्याऽभिमानः, संकल्पो मनसो वृत्तिः व्यापारः।

अर्थ—'तीनों के अपने-अपने लक्षण ही व्यापार हैं।' जिनके 'स्व' अर्थात् अपने-अपने विशिष्ट लक्षण हैं, वे महत्, अहङ्कार एवं मन 'स्वलक्षण' पद के वाच्य हुए और 'स्वलक्षण' का भाव 'स्वालक्षण्य' हुआ। तात्पर्य यह है कि तीनों अन्तःकरणों के अपने-अपने लक्षण ही 'स्वालक्षण्य' पद के वाच्य हैं, जो उनके विशिष्ट या पृथक् पृथक् व्यापार हैं; जैसे महत्तत्त्व का अध्यवसाय (निश्चय), अहङ्कार का अभिमान, एवं मन का संकल्प।

वृत्तिद्वैविध्यं साधारणासाधारणत्वाभ्यामाह—"सैषा भवत्यसामान्या" असाधारणी। "सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च"। सामान्या चाऽसौ करणवृत्तिश्चेति। त्रयाणामपि करणानां पञ्च वायवो जीवनं वृत्तिः, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात्। तत्र 'प्राणो' नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः, 'अपानः' कृकाटिकापृष्ठपादपायूपस्थपार्श्ववृत्तिः, 'समानो' हृन्नाभिसर्वसन्धिवृत्तिः, 'उदानो' हृत्कण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः, 'व्यान'स्त्वग्वृत्तिरिति पञ्च वायवः।

अर्थ—अब साधारण और विशिष्ट रूप से इनके द्विविध व्यापार कहते हैं:—'ये इन अन्तःकरणों के असामान्य या विशिष्ट व्यापार हैं'। 'प्राण आदि पञ्च वायु इनके साधारण अर्थात् सम्मिलित व्यापार हैं'। 'सामान्यकरणवृत्तिः' अर्थात् 'अन्तःकरणों का सामान्य व्यापार'। पञ्च वायु अर्थात् जीवन-धारण तीनों ही अन्तःकरणों का व्यापार है[1], क्योंकि अन्तःकरणों के रहने पर ही

१—यथा पञ्जरचालनरूपो व्यापारः संहतानां कपोतानां साधारणो व्यापारस्तथा

प्राण इत्यादि रहते हैं और न रहने पर नहीं रहते। इनमें 'प्राण' नामक वायु नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि, पाद तथा अङ्गुष्ठ में रहता है। 'अपान' वायु गल-घण्टी, पीठ, पाद, मल-त्यागेन्द्रिय, मूत्र-त्यागेन्द्रिय एवं पार्श्वों (बगलों) में रहता है; 'समान' वायु हृदय, नाभि तथा सभी जोड़ों में रहता है; 'उदान' वायु हृदय, कण्ठ, तालु मूर्धा तथा भौंहों के मध्य भाग में रहता है; 'व्यान' वायु चमड़े में रहता है।

चतुर्विधकरणस्यासाधारणेषु वृत्तिषु क्रमाक्रमौ सप्रकारावाह—"युगपत्" इति।

अर्थ—अत्र 'युगपच्चतुष्टयस्य' इत्यादि अग्रिम कारिका द्वारा चारों प्रकार के करणों के विशिष्ट व्यापारों का क्रमशः तथा एक साथ होना उदाहरण-सहित कहते हैं :—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

अर्थ—प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में चारों ही (बाह्य तथा त्रिविध आन्तरिक) करणों का व्यापार कभी एक साथ और कभी क्रमशः होता है। इसी प्रकार परोक्ष पदार्थ के विषय में भी तीनों अन्तः करणों का व्यापार (एक साथ और क्रमशः) प्रत्यक्ष-पूर्वक होता है।

दृष्टे, यथा यदा सन्तमसान्धकारे विद्युत्सम्पातमात्राद् व्याघ्रमभिमुखमतिसन्निहितं पश्यति, तदा खल्वस्यालोचनसङ्कल्पाभिमानाध्यवसाया युगपदेव प्रादुर्भवन्ति यतस्तत उत्प्लुत्य तत्स्थानादेकपदेऽपसरति।

अर्थ—'प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में एक साथ व्यापार', जैसे जब घने अन्धकार में बिजली के चमकने से कोई व्यक्ति बाघ को अपने सम्मुख अत्यन्त समीप देखता है, तब चूँकि उसके बाह्येंद्रिय-कृत आलोचन, मनः-कृत सङ्कल्प,

---

कलेवरधारणरूपो यो जीवनाख्यः प्राणनादिव्यापारः स मिलितानामन्तःकरणानां साधारणो व्यापार इति समस्तार्थः।—विद्वत्तोषिणी, पृ० २६३।

माठरवृत्तावपि एतत्सदृशमेव व्याख्यानं कृतं, किन्तु गौडपादभाष्ये सुवर्णसप्ततिशास्त्रे च अन्यथा व्याख्यानं कृतं, तच्चैवम्—"यथा पञ्जरे शुकः। शुकचलनात् पञ्जरं चलति, तथा इन्द्रियाण्यपि। प्राणवायुचलनात् त्रयोदशेन्द्रियाणि सर्वाणि चलन्ति"।—सुवर्णसप्ततिशास्त्रम्, पृ० ४३।

प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चालनं करोतीति। —गौडपादभाष्यम्।

अहङ्कार-कृत अभिमान तथा बुद्धि-कृत निश्चय एक साथ[1] ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वह तत्काल ही उस स्थान से कूद कर भागता है।

"क्रमशश्च", यदा मन्दालोके प्रथमं तावद्वस्तुमात्रं सम्मुग्धमालोचयति, अथ प्रणिहितमनाः "कर्णान्ताकृष्टसशरशिञ्जितमण्डलीकृतकोदण्डः प्रचण्डतरः पाटच्चरोऽयम्" इति निश्चिनोति, अथ च 'मां प्रत्येति' इत्यभिमन्यते, अथाऽध्यवस्यति—'अपसरामीतः स्थानात्' इति।

अर्थ—'और (प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में) क्रमशः व्यापार', जैसे जब कोई व्यक्ति मन्द प्रकाश में पहले केवल (अविविक्त) वस्तु को अस्पष्ट रूप से देखता है, तब एकाग्र मन से वह विचार करता है कि यह तो कानों तक खिंचे हुये एवं बाण-युक्त धनुष वाला क्रूर चोर है, फिर उसे यह अभिमान होता है कि यह मेरी ओर आ रहा है, और फिर यह निश्चय करता है कि इस स्थान से भाग जाऊँ।

परोक्षे त्वन्तःकरणत्रयस्य बाह्येन्द्रियवर्जं वृत्तिरित्याह—"अदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः" इति। अन्तःकरणत्रयस्य युगपत्क्रमेण च वृत्तिर्दृष्टपूर्विकेति। अनुमानागमस्मृतयो हि परोक्षेऽर्थे दर्शनपूर्वाः प्रवर्तन्ते, नाऽन्यथा। यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति योजना।

अर्थ—परोक्ष या अदृष्ट पदार्थ के विषय में तो बाह्य इन्द्रियों के सहयोग के बिना ही तीनों अन्तःकरणों का व्यापार होता है, इसे कहते हैं:—अदृष्ट पदार्थ के विषय में तीनों का व्यापार 'तत्पूर्वक' अर्थात् प्रत्यक्ष-ज्ञान-पूर्वक एक साथ और क्रमशः भी होता है क्योंकि परोक्ष वस्तु का ज्ञान कराने वाले अनुमान, आगम और स्मरण प्रत्यक्ष-ज्ञान-पूर्वक[2] ही उनके विषय में प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं।

(मूल कारिका के 'तथाप्यदृष्टे' पदों में 'अपि' का क्रम बदला हुआ होने से टीकाकार कहते हैं कि) कारिका-गत पदों का अन्वय 'यथा दृष्टे तथा

१—अनेन युगपद्भिन्नज्ञानानुत्पत्तिरिति न्यायसिद्धान्तः खण्डित इति बोध्यम्।
—किरणावली

२—(i) अनुमेये व्याप्तिज्ञानाय प्रत्यक्षापेक्षा, शब्दे च शक्तिग्रहाय प्रत्यक्षापेक्षा, स्मरणीये च संस्कारायानुभवापेक्षा, इत्यनुमानादयो दर्शनपूर्वाः। —विद्वत्तो०, पृ० २६७

(ii) दर्शनपूर्वा इति। अनुमानस्य हेतुदर्शनाधीनत्वात्, आगमस्य शब्दप्रत्यक्षात्मकदर्शनाधीनत्वात्, स्मरणस्य प्रत्यक्षात्मकानुभवजन्यस्य दर्शनाधीनत्वं स्पष्टमेव—सुषमा, पृ० १३७

अदृष्टेऽपि' होगा, जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में भी (करण-व्यापार युगपत् और क्रमशः होते हैं)।

विशेष—टीका की अन्तिम पंक्ति का अर्थ सुषमाकार[१] तथा किरणावलीकार[२] के अनुसार किया गया है और यही कारिकाकार का अभिप्राय जान पड़ता है क्योंकि 'अपि' के द्वारा कारिकाकार अदृष्ट के विषय में उसी बात का निर्देश करना चाहते हैं जो उन्होंने दृष्ट के विषय में कारिका की प्रथम पंक्ति में कही है और यह बात स्पष्ट ही वृत्ति का 'युगपत्' और 'क्रमशः' होना है। परन्तु डा० गङ्गानाथ झा द्वारा उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ 'यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपि तत्पूर्विका वृत्तिः'—इस प्रकार किया गया लगता है। उनका अनुवाद इस प्रकार है :—"The sense is that with regard to 'perceptible' as well as 'imperceptible' things, the functioning of the internal organs is always preceded by the perception of some external object."

इस अर्थ के अनुपयुक्त लगने का एक और भी कारण है, वह यह कि 'दृष्ट पदार्थ के विषय में अन्तःकरण की तत्पूर्विका वृत्ति' अर्थात् दृष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष-ज्ञान होने के बाद अन्तःकरण का व्यापार 'क्रमिक व्यापार' के सम्बन्ध में भले सङ्गत हो पर 'युगपद् व्यापार' के सम्बन्ध में कैसे सङ्गत हो सकता है ? वहाँ तो उल्टे सभी व्यापार एक साथ होते हैं। बाह्य करणों के व्यापार के बाद अन्तःकरण के व्यापार का प्रश्न ही कहाँ है ? सभी वृत्तियों के एक साथ होने का कथन होने से बाह्य ज्ञानेद्रियों की वृत्तियों के भी एक साथ होने का कथन हो जाता है। यद्यपि न्याय में मन के अणुत्व के कारण पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की समस्त वृत्तियाँ एक साथ नहीं मानी जातीं, तथापि सांख्य में मन को मध्यम परिणाम वाला मानने से वह असङ्गति नहीं उत्पन्न होती; जैसा विद्वत्तोषिणीकार ने अपनी टीका में स्पष्ट

१—यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपि इति । वृत्तियौगपद्यायौगपद्ये वोध्ये —सुषमा, पृ० १३७

२—यथा दृष्टे पदार्थे चतुर्विधकरणानां युगपत् क्रमशश्च वृत्तयो भवन्ति, तथा अदृष्टे पदार्थे बाह्यकरणवृत्तिपूर्विकाऽन्तःकरणत्रयस्यैव युगपत् क्रमशश्च वृत्तयो भवन्तीत्यर्थः।

—किरणावली

किया है :—'न च नैवमणुमनो विभिन्नस्थानानीन्द्रियाणि युगपदधिष्ठातुं शक्तम् (मनोऽधिष्ठितानामेव बाह्येन्द्रियाणां स्वस्वव्यापारे क्षमत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात्'—इति तत्कृतटिप्पण्यामुक्तम्) इति न युगपज्ज्ञानपञ्चकोत्पादः शक्यसम्पादः। तथा च यथा आशुसञ्चारात् सम्भ्रमतोऽलातस्य विद्यमानोऽपि क्रमो न गृह्यते, तथा ज्ञानानामप्याशुसञ्चाराद्विद्यमानक्रमस्याग्रहणाद्दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपदुपलब्ध्यभिमान इत्यास्थेयं...' इति शङ्कनीयं, सांख्यमते मनसो मध्यमपरिणामवचने युगपदनेकेन्द्रियाधिष्ठातृत्वसम्भवात्, अननुभूयक्रमकल्पनाया अप्रामाणिकत्वात्, "ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः" (न्या० ३।२।५६) "यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु" (न्या० सू० ३।२।६२) इति अक्षपादोदितः सिद्धान्तो न सांख्यसम्मत इति भावः"[1] ॥

स्यादेतत्—चतुर्णां त्रयाणां वा वृत्तयो न तावत्तन्मात्राधीनाः तेषां सदातनत्वेन वृत्तीनां सदोत्पादप्रसङ्गात्, आकस्मिकत्वे तु वृत्तिसङ्करप्रसङ्गो नियमहेतोरभावादित्यत आह—"स्वाम्" इति।

अर्थ—परन्तु चारों या तीनों करणों के व्यापार इन्हीं पर आश्रित नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा होने पर इन करणों के सदा रहने के कारण इनके व्यापार भी सर्व काल में होते रहेंगे। और यदि इन व्यापारों को किसी के अधीन या आश्रित न मानकर अहेतुक मानें तो किसी भी नियामक हेतु के अभाव में इनके सङ्कर की आपत्ति उठ खड़ी होगी (जैसे अन्धे को भी रूपादि का प्रत्यक्ष होने लगेगा)।

अथवा अन्तिम पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है :—'इन करणों को चिरस्थायी न मान कर आकस्मिक या अस्थायी मानने पर तो इनके व्यापारों के भी अस्थायी होने के कारण किसी नियामक हेतु के अभाव में व्यापार का सङ्कर उत्पन्न होगा'। डा० झा ने इसी आशय का अनुवाद[2] किया है, पर यह बहुत उचित नहीं जान पड़ता।)

इसके उत्तर में "स्वां स्वाम्" इत्यादि अगली कारिका कह रहे हैं :—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥२१॥

१—द्रष्टव्य विद्वत्तोषिणी, पृ० २६६।

2—"If on the other hand, the organs were transient, adventitious, then their functions also would be transient and adventitious and this would lead to a commingling of the functions as there would be nothing to regulate them."

२०

अर्थ—(ये करण) पारस्परिक अभिप्राय या संकेत (अर्थात् एक दूसरे की स्व-स्व-कार्योन्मुखता) के कारण अपने-अपने व्यापार में संलग्न होते हैं। करणों की इस व्यापारशीलता में पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है, अन्य कोई (ईश्वर या आत्मा इत्यादि) प्रयोजक या कारण नहीं है।

करणानीति शेषः। यथा हि बहवः पुरुषाः शाक्तीकयाष्टीकधानुष्क-कार्पाणिकाः कृतसंकेताः परावस्कन्दनाय प्रवृत्ताः, तत्राऽन्यतमस्याऽऽकूत-मवगम्याऽन्यतमः प्रवतते, प्रवर्तमानस्तु शाक्तीकः शक्तिमेवाऽदत्ते, न तु यष्ट्यादिकम्, एवं याष्टीकोऽपि यष्टिमेव, न शक्त्यादिकम्। तथाऽन्यतमस्य करणस्याऽऽकूतात् स्वकार्यकरणाभिमुख्यादन्यतमं करणं प्रवर्तते। तत्प्रवृत्तेश्च हेतुमत्त्वान्न वृत्तिसङ्करप्रसङ्ग इत्युक्तम्—"स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते" इति।

अर्थ—प्रस्तुत कारिका में ('प्रतिपद्यन्ते' के कर्ता-रूप में) 'करणानि' पद अध्याहार्य है। जैसे शक्ति (आयुध-विशेष), यष्टि (लाठी), धनुष और कृपाण इत्यादि धारण करने वाले अनेक पुरुष पारस्परिक संकेत से शत्रु का दमन करने के लिए प्रवृत्त हुए एक दूसरे का अभिप्राय जान कर ही प्रवृत्त होते हैं और प्रवृत्त होकर 'शक्ति' चलाने वाला शक्ति ही लेता है, लाठी इत्यादि नहीं, लाठी चलाने वाला लाठी ही लेता है, शक्ति इत्यादि नहीं। उसी प्रकार प्रत्येक करण के अभिप्राय अर्थात् स्व-कार्योन्मुखता से दूसरे करण भी स्व-कार्य-लग्न होते हैं। इस प्रकार करणों के व्यापार में पारस्परिक अभिप्राय के हेतु या निमित्त होने से व्यापारों में संकर नहीं उत्पन्न होता। इसीलिए कहा—अपने-अपने व्यापार में लगते हैं' इत्यादि।

स्यादेतत्—याष्टीकादयश्चेतनत्वात् परस्पराकूतमवगम्य प्रवर्तन्त इति युक्तम्। करणानि त्वचेतनानि, तस्मान्नैवं प्रवर्तितुमुत्सहन्ते। तेनैषामधिष्ठात्रा करणानां स्वरूपसामर्थ्योपयोगाभिज्ञेन भवितव्यमित्यत आह—"पुरुषार्थ एव हेतुः, न केनचित्कार्यते करणम्" इति। भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थ एवाऽनागतावस्थः प्रवर्तयति करणानि, कृतमत्र तत्स्वरूपाभिज्ञेन कर्त्रा। एतच्च "वत्सविवृद्धिनिमित्तम्" (का० ५७) इत्यत्रोपपादयिष्यते।

अर्थ—लाठी चलाने वाले आदि चेतन होने के कारण पारस्परिक अभिप्राय जानकर स्व-कार्य में प्रवृत्त होते हैं, यह कथन तो युक्त है। परन्तु करण तो अचेतन हैं, अतएव उक्त प्रकार से प्रवृत्तिशील नहीं हो सकते। इसलिए इन

करणों के स्वरूप, सामर्थ्य एवं उपयोग को जानने वाला कोई चेतन प्रेरक या प्रयोजक होना चाहिए। इसके उत्तर में कहते हैं—'करणों के व्यापारशील होने में पुरुषार्थ ही एकमात्र प्रयोजक है, अन्य कुछ नहीं।' पुरुष का भावी (अपूर्ण, अनाचरित) 'भोग और मोक्ष' कार्य ही करणों को प्रवृत्तिशील बनाता है। उनके स्वरूप को जानने वाले चेतन[1] कर्ता की इसमें क्या आवश्यकता है? यह बात आगे की ५७ वीं कारिका में प्रतिपादित करेंगे।

"न केनचित् कार्यते करणम्" इत्युक्तम्। तत्र करणं विभजते— "करणं त्रयोदशविधम्" इति।

अर्थ—करणों के व्यापारशील होने में अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है, यह कहा जा चुका है। अब 'करणं त्रयोदशविधं' इत्यादि अगली कारिका द्वारा करणों का विभाग कहते हैं:—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।

कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२॥

अर्थ—करण तेरह प्रकार के हैं। वे आदान, धारण तथा प्रकाश करने वाले हैं। इनका आहार्य (आदेय), धार्य और प्रकाश्य—प्रत्येक कार्य दश प्रकार का होता है॥

इन्द्रियाण्येकादश, बुद्धिरहङ्कारश्चेति त्रयोदशप्रकारं करणम्। कारकविशेषः करणम्, न च व्यापारावेशं विना कारकत्वमिति व्यापारावेशमाह—"तदाहरणधारणप्रकाशकरम्" यथायथम्। तत्र कर्मेन्द्रियाणि वागादीन्याहरन्ति यथास्वमुपाददते स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्तीति यावत्। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि नु स्ववृत्त्या प्राणादिलक्षणया धारयन्ति। बुद्धीन्द्रियाणि च प्रकाशयन्ति।

अर्थ—ग्यारह इन्द्रियाँ, बुद्धि तथा अहङ्कार—ये तेरह प्रकार के करण हैं। 'करण' षड्विध कारकों में से (साधकतम[2]-रूप) कारक-विशेष होता है और किसी कार्य के अन्वय[3] अथवा योग के विना अर्थात् कार्यवान् हुए बिना

१—यद्यप्यस्त्येव पुरुषोऽधिष्ठाताऽऽभिज्ञस्तथाप्यसङ्गत्वान्निर्विकारत्वान्न तस्य प्रेरकत्वसम्भवः, ईश्वरस्तु नास्त्येवेत्याशयः। सत्कार्यवादसिद्धान्ते भाविनावपि भोगापवर्गावव्यपदेश्यतया गुणेषु तिष्ठतः इति प्रकृतिगतावनागतौ तावेव प्रवर्त्तकौ। तावदेव हि गुणाः प्रवर्तन्ते, न यावद्भोगं वाऽपवर्गं वा जनयन्ति, निर्वर्तितभोगापवर्गास्तु समाप्ताधिकाराः सन्तो निवर्तन्त इति हि सांख्यसिद्धान्तः।—विद्वत्तो०, पृ० २६६।

२—साधकतम करणम् इति हि पाणिनिसूत्रम्।

३—क्रियान्वयि कारकमिति हि कारकलक्षणम्, 'क्रियया अन्वयो योगो यस्य तत् क्रियान्वयि' कार्याश्रयः कार्यवान् वेति चार्थः।

कोई वस्तु कारक नहीं होती। इसलिए उसकी कार्यवत्ता बताते हैं—'ये यथा-योग्य आहरण, धारण तथा प्रकाश करते हैं। इनमें वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का आहरण या ग्रहण करती हैं अर्थात् अपने-अपने व्यापार या कार्य से उन्हें व्याप्त करती हैं। बुद्धि, अहङ्कार और मन अपने प्राण इत्यादि व्यापार के द्वारा देह को धारण करते हैं एवं ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श इत्यादि को प्रकाशित करती हैं।

आहरण धारणादिक्रियाणां सकर्मकतया किं कर्म कतिविधं चेत्यत आह—"कार्यं च तस्य" इति। कार्यं तस्य त्रयोदशविधस्य करणस्य दशधा, आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च। आहार्यं व्याप्यम्। कर्मेन्द्रियाणां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः यथायथं व्याप्याः, ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेत्याहार्यं दशधा।

अर्थ—आहरण, धारण आदि क्रियाओं के सकर्मक होने के कारण उनका क्या कर्म है और वह कितने प्रकार का है, यह "कार्यं च तस्य" इत्यादि के द्वारा बतलाते हैं:—उन तेरह प्रकार के करणों के आहार्य, धार्य और प्रकाश्य कार्य दश-दश प्रकार के हैं। आहार्य का अर्थ है—व्याप्य। वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ भाषण, ग्रहण, गमन, मल-त्याग एवं आनन्द—इन कार्यों में यथा-योग्य (अर्थात् अपने-अपने व्यापार से) व्याप्त रहती हैं। ये कार्य 'दिव्य' अर्थात् देव-भोग्य तथा 'अदिव्य' अर्थात् मनुष्य-भोग्य होने से दश होते हैं। इस प्रकार 'आहार्य' दश प्रकार के हैं।

एवं धार्यमप्यन्तःकरणत्रयस्य प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरम्, तच्च पार्थिवादिपाञ्चभौतिकम्। शब्दादीनां पञ्चानां समूहः पृथिवी, ते[१] च पञ्च दिव्यादिव्यतया दशेति धार्यमपि दशधा।

अर्थ—इसी प्रकार त्रिविध अन्तःकरण का प्राण इत्यादि अपने पाँचों व्यापारों के द्वारा धारण करने योग्य कार्य 'शरीर' है और यह पृथ्वी इत्यादि पञ्च भूतों का बना होता है। इन भूतों में पृथिवी शब्द, स्पर्श आदि पाँचों तन्मात्राओं का समूह होती है। ये पाँच दिव्य और अदिव्य रूप से द्विविध होने के कारण दश होते हैं। इस प्रकार 'धार्य' भी दश प्रकार के हैं।

१—ते च सूक्ष्माः शब्दादयः पञ्च, दिव्याः पञ्च सूक्ष्मतन्मात्राणि,अदिव्याः स्थूलाः पञ्च शब्दादयः, मिलित्वा दश, तद्वती पृथिव्यपि दशधा, तत्परिणामत्वाच्च शरीरमपि दशधेत्यर्थः।

—किरणावली

एवं बुद्धीन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्याः, ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधेति ।

अर्थ—इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच प्रकाश्य विषय ज्ञानेन्द्रियों से यथा-योग्य व्याप्त होते हैं और वे भी दिव्य तथा अदिव्य रूप से दश होते हैं। इसलिए 'प्रकाश्य' भी दश प्रकार के हैं।

त्रयोदशविधकरणेऽवान्तरविभागं करोतिः—"अन्तःकरणम्" इति ।

अर्थ—अब तेरह प्रकार के करणों का 'अन्तःकरणं त्रिविधं' इत्यादि अगली कारिका में सूक्ष्मतर विभाग करते हैं:—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

अर्थ—अन्तःकरण तीन प्रकार के हैं, और इन तीनों (अन्तःकरणों) के विषयों को उपस्थित करने वाले बाह्य करण दश प्रकार के हैं। बाह्य करण वर्तमान-विषयक होते हैं और अन्तःकरण त्रिकाल-विषयक ।

अन्तःकरणं त्रिविधम्—'बुद्धिरहङ्कारो मनः" इति, शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्तःकरणम् । "दशधा बाह्यं"—करणं, "त्रयस्य"—अन्तःकरणस्य "विषयाख्यम्" विषयमाख्याति[१] विषयसङ्कल्पाभिमानाध्यवसायेषु कर्तव्येषु द्वारीभवति । तत्र बुद्धीन्द्रियाण्यालोचनेन, कर्मेन्द्रियाणि तु यथास्वं व्यापारेण ।

अर्थ—'अन्तःकरण' बुद्धि, अहङ्कार तथा मन के भेद से तीन प्रकार के हैं। ये शरीर के अन्तर्गत होने से अन्तःकरण कहलाते हैं। बाह्य करण दश प्रकार के हैं। ये बाह्य करण तीनों अन्तःकरणों के विषयों को प्रस्तुत करते हैं अर्थात् विषयों के सम्बन्ध में होने वाले सङ्कल्प, अभिमान और निश्चय में द्वार या साधन बनते हैं। इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ आलोचन (विषय-प्रकाशन) द्वारा और कर्मेन्द्रियाँ अपने यथा-योग्य व्यापारों के द्वारा सहायक होती हैं।

१—(i) विषयमाख्याति तत्तद्विषयगोचरं व्यापारमुत्पादयति, तदेवाह—"विषयसङ्कल्प"० इति । मन आदिभिर्विषयगोचरेषु सङ्कल्पादिषु कर्तव्येषु बाह्यमिन्द्रियं द्वारीभवति उपायीभवतीत्यर्थः ।—विद्वत्तो०, पृ० २७१

(ii)—आख्याति कथयति ददातीति आख्यम्, विषयाणामाख्यमिति विषयाख्यं, बाह्यकरणमेव विषयदानेन मनःप्रभृत्यन्तःकरणानि सव्यापाराणि कुर्वन्तीति भावः ।

—किरणावल

विशेष—बुद्धि, अहङ्कार तथा मन बाह्य विषयों के सम्बन्ध में होने वाले अपने-अपने निश्चय, अभिमान तथा सङ्कल्प इत्यादि व्यापारों के लिये बाह्य इन्द्रियों पर ही आश्रित रहते हैं। किसी भी प्रकार के शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के विषय में मन की सङ्कल्प-वृत्ति का उदय होने के लिये उनको पहले श्रवण, त्वक्, चक्षु:, रसन और घ्राण इन्द्रियों का विषय बनना आवश्यक है क्योंकि मन इन बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उन बाह्य विषयों तक पहुँचता है। ये इन्द्रियाँ ही मन के वहाँ तक पहुँचने में द्वार या साधन हैं और मन के (उन विषयों तक) पहुँच कर सङ्कल्प करने पर ही अहङ्कार उनका अभिमान करता है तथा बुद्धि निश्चय करती है। इस प्रकार बाह्येन्द्रियाँ अन्तःकरणों के सङ्कल्प इत्यादि व्यापारों में द्वार या सहायक हैं।

बाह्यान्तरयोः करणयोर्विशेषान्तरम्[1] आह—"साम्प्रतकालम्" इति। वर्तमानकालं बाह्यमिन्द्रियम्। वर्तमानसमीपमनागतमतीतमपि वर्तमानम्, अतो वागपि वर्तमानकालविषया भवति। "त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्" इति। तद्यथा—नदीपूरभेदादभूद् वृष्टिः; अस्ति धूमादग्निरिह नगनिकुञ्जे, असत्युपघातके पिपीलिकाण्डसञ्चरणाद्भविष्यति वृष्टिरिति, तदनुरूपाश्च सङ्कल्पाभिमानाध्यवसाया भवन्ति।

अर्थ—अब बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों में दूसरा अन्तर बताते हैं:—बाह्य इन्द्रियाँ 'साम्प्रतकाल' अर्थात् केवल[2] वर्तमानकाल-विषयक होती हैं। वर्तमान के समीप स्थित भूत तथा भविष्य काल भी वर्तमान के ही अन्तर्गत हैं अर्थात् वर्तमान काल के ठीक पहले और ठीक बाद का कल भी वर्तमान ही है, इसलिये वाक् इन्द्रिय भी वर्तमान काल-विषयक ही होती हैं। अन्तःकरण त्रिकाल-विषयक होते हैं, जैसे 'वर्षा अवश्य हुई है क्योंकि नदी की बढ़ी धारा में फेन, रज इत्यादि विशेषता[3] दिखाई पड़ती है', 'इस पर्वत-कुञ्ज में अग्नि अवश्य है क्योंकि वहाँ धूम है', 'यदि कोई विघ्न न हुआ तो वृष्टि

१—अन्यो विशेषो भेद इति विशेषान्तरम्।

२—'वर्तमान' इति निर्देशः 'वर्तमानमात्र'-वचनः, तथा च वर्तमानमात्रविषयकत्वं बाह्येन्द्रियाणां विशेष इति पर्यवसन्नम्। अन्यथा अन्तःकरणानामपि त्रिकालविषयकत्वेन वर्तमानविषयकत्वसत्त्वात् तेष्वतिव्याप्त्यापत्तेः।—सुषमा, पे०, १४१

३—नदीपूरमात्रस्य नदीरोधनादिनापि सम्भवेन तस्य वृष्टिव्यभिचारतया न तत्साधकत्वं सम्भवतीत्यत उक्तम्—भेदेति। नदीपूरविशेषादित्यर्थः, विशेषश्च बहुतरफेनरजस्वलजलवत्त्वादिरूपः, तस्य तु वृष्ट्यव्यभिचारतया तत्साधकं सम्भवत्येव।—सुषमा, पे० १४१

अवश्य होगी क्योंकि चींटियाँ अपने अंडे ढो रही हैं'; और इनके अनुरूप ही सङ्कल्प, अभिमान और निश्चय होते हैं।

कालश्च वैशेषिकाभिमत एको न अनागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादिभेदं प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाधयः, येऽनागतादिव्यवहारहेतवः, कृतमत्राऽन्तर्गडुना कालेनेति साङ्ख्याचार्याः। तस्मान्न कालरूपतत्त्वान्तराभ्युपगम इति।

अर्थ—वैशेषिकों को जो काल मान्य है, वह एक (अखण्ड) होने के कारण भूत, भविष्यत् इत्यादि व्यावहारिक भेदों का निर्वाह करने में असमर्थ है। इसलिए यह काल जिन उपाधियों से भविष्यत् आदि व्यवहारों को प्राप्त होता है, उन उपाधियों को ही इन व्यवहारों का कारण मान लिया जाय, काल के रूप में व्यर्थ ही एक पृथक् तत्त्व क्यों माना जाय? ऐसा सांख्याचार्यों का मत है। इसलिए इस शास्त्र में काल को २५ तत्त्वों से भिन्न नहीं मानते।

विशेष—ऊपर जिन उपाधियों की बात कही गई है, वे वैशेषिक मत में दो प्रकार की मानी गई हैं। आरम्भ, स्थिति और निरोध प्रथम प्रकार की, एवं सूर्योदय, सूर्यास्त इत्यादि क्रियायें द्वितीय प्रकार की उपाधियाँ हैं। प्रथम से 'अनागत' आदि व्यवहार तथा द्वितीय से 'परापरत्व' (अर्थात् बड़ा, छोटा इत्यादि) व्यवहार की सिद्धि होती है। वैशेषिकों का कथन है कि जिस वस्तु का अभी प्रागभाव है अर्थात् जो वस्तु अभी उत्पन्न नहीं है, आगे उत्पन्न होगी, उस वस्तु की उत्पत्ति या प्रारम्भ का काल ही उसका अनागत या भविष्यत् काल है। वस्तु की उत्पत्ति के बाद उसकी स्थिति का काल ही उसका वर्तमान काल है एवं उसका प्रध्वंसाभाव (विनाश) हो जाने पर उत्पन्न हुए उसके अभाव का काल ही उसका अतीत काल है। यह तो भविष्य, वर्तमान इत्यादि का व्यवहार रहा। वृद्ध, युवा आदि के परत्वापरत्व की कल्पना वे सूर्य के उदय और अस्त पर आश्रित मानते हैं। उनका कथन है कि चूँकि किसी एक व्यक्ति से एक वृद्ध और एक युवक के क्रमशः समीप और दूर खड़े होने पर उस व्यक्ति के हृदय में इन दोनों के विषय में क्रमशः समीप होने एवं दूर होने अर्थात् देश-कृत अपरत्व और परत्व का भाव उठने पर भी वह व्यक्ति वृद्ध को 'पर' या बड़ा और युवक को 'अपर' या छोटा मानता है, इसलिए इससे यह ज्ञात होता है कि इस परत्वापरत्व या बड़ाई-छोटाई का कारण स्थान-कृत परत्वापरत्व से भिन्न अन्य-

कृत परत्वापरत्व के कारण है और स्थान से अन्य यह वस्तु 'काल' ही है। यह काल-कृत परत्वापरत्व वृद्ध और युवक के जन्मों के सूर्योदय और सूर्यास्त क्रियाओं की अधिक या अल्प संख्या से अन्तरित होने पर आश्रित है। वृद्ध के जन्म के बाद जितने सूर्योदय और सूर्यास्त हुए हैं, उतने युवक के जन्म के बाद नहीं। इसलिए वृद्ध के विषय में 'पर' और युवक के विषय में 'अपर' का भाव उत्पन्न होता है। पर जैसा ऊपर कहा गया, सांख्याचार्यों का कहना है कि जब परत्वापरत्व की कल्पना सूर्योदय और सूर्यास्त पर आश्रित है और अनागत, वर्तमान तथा भूत की कल्पना वस्तु के आरम्भ, स्थिति और निरोध या विनाश पर ही आश्रित है, तब काल की कल्पना निरर्थक हुई। अतएव योग-भाष्यकार ने भी योगसूत्र ३।५२ पर भाष्य लिखते हुए लिखा है :—"स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते ॥" इससे स्पष्ट है कि काल काल्पनिक या असत्य है, व्यवहार के लिए आवश्यक सूर्योदय और सूर्यास्त तथा वस्तुओं के आरम्भ, स्थिति और निरोध ही सत्य हैं।

परन्तु वैशेषिकों के पक्ष में इतना अवश्य वक्तव्य है कि वे तो आरम्भ आदि से परिच्छिन्न या उपहित तथा सूर्योदय और सूर्यास्त से परिगणित किसी तत्त्व-विशेष को काल मानते हैं। आरम्भ इत्यादि से उपहित स्वयं आरम्भ आदि ही तो होंगे नहीं। इसी प्रकार सूर्योदय तथा सूर्यास्त से भी उन्हीं की गणना तो होगी नहीं। जिसकी गणना इनसे होती हैं और जो सभी वस्तुओं के आरम्भ, स्थिति इत्यादि से उपहित या परिच्छिन्न है अर्थात् जो सभी वस्तुओं की आरम्भ, स्थिति इत्यादि अवस्थाओं में वर्तमान रहता है, वही उनके मत में काल है। परन्तु जो काल को ही उड़ा देते हैं, उनकी उपाधि का आश्रय क्या होगा ?

साम्प्रतकालानां बाह्येन्द्रियाणां विषयं विवेचयति—'बुद्धीन्द्रियाणि' इति।

अर्थ—अत्र "बुद्धीन्द्रियाणि" इत्यादि अग्रिम कारिका द्वारा उपस्थित वस्तुओं के विषय में प्रवृत्त होने वाली ज्ञानेन्द्रियों के विषय का विवेचन करते हैं :—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

अथ—इन दस बाह्य करणों (इन्द्रियों) में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तो स्थूल और सूक्ष्म द्विविध विषयों में प्रवृत्त होती हैं,(कर्मेन्द्रियों) में वाक् इन्द्रिय (स्थूल) शब्द के ही विषय में प्रवृत्त होती है, शेष चारों ही (स्थूल) शब्द, स्पर्श इत्यादि पाँचों विषयों में प्रवृत्त होती हैं।

"बुद्धीन्द्रियाणि तेषां" दशानामिन्द्रियाणां मध्ये "पञ्च" "विशेषाविशेषविषयाणि"। विशेषाः स्थूलाः शब्दादयः शान्तघोरमूढरूपाः पृथिव्यादिरूपाः, अविशेषास्तन्मात्राणि सूक्ष्माः शब्दादयः। मात्रग्रहणेन स्थूलभूतमपाकरोति। विशेषाश्च अविशेषाश्च विशेषाविशेषाः, त एव विषया येषां बुद्धीन्द्रियाणां तानि तथोक्तानि। तत्रोर्ध्वस्रोतसां योगिनाञ्च श्रोत्रं शब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्दविषयं च, अस्मदादीनां तु स्थूलशब्दविषयमेव। एवं तेषां त्वक् स्थूलसूक्ष्मस्पर्शविषया,अस्मदादीनां तु स्थूलस्पर्शविषयैव। एवञ्चक्षुरादयोऽपि तेषामस्मदादीनां च रूपादिषु सूक्ष्मस्थूलेषु द्रष्टव्याः॥

अर्थ—इन दस इन्द्रियों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ विशिष्ट और सामान्य विषयों में प्रवृत्त होती हैं। 'विशेष' का अर्थ है—पृथिवी इत्यादि ('इत्यादि' से वायु आदि चारों का ग्रहण है) में अभिव्यक्त सुख-दुःख-मोहात्मक[1] स्थूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। 'अविशेष' का अर्थ है—'तन्मात्र' अर्थात् सूक्ष्म शब्द, स्पर्श आदि। 'तन्मात्र' पद में 'मात्र' के ग्रहण से स्थूल भूतों का निषेध होता है। इस प्रकार विशेष और अविशेष अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म जिन ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, वे विशेषाविशेष-विषयक कही गई हैं। उनमें नैष्ठिक[2] ब्रह्मचारियों तथा योगियों की श्रवणेन्द्रिय सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों ही प्रकार के शब्दों का ग्रहण करती है, परन्तु हम (सामान्य) लोगों की श्रवणेन्द्रिय केवल स्थूल शब्द का ग्रहण करती है। इसी प्रकार उनकी त्वक् इन्द्रिय स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही स्पर्शों का ग्रहण करती है, हम लोगों की केवल स्थूल स्पर्श का। इसी प्रकार उनकी चक्षु इत्यादि इन्द्रियों को स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों का ग्रहण करने वाली, एवं अपनी चक्षु इत्यादि इन्द्रियों को केवल स्थूल रूप इत्यादि का ग्रहण करने वाली समझना चाहिए।

१—तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते। न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥—विष्णुपुराण

२—ऊर्ध्वमेव, न कदाचिदधः स्रोतो येषां ते जनकसनकसनन्दनादयस्तथा भीष्मादयो नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः, सन्यासिनोऽपि; तेषाम् इत्यर्थः। उपकुर्वाणकब्रह्मचारिणां तन्न सम्भवति, तेषां विवाहार्थं प्रवृत्तेः।—विद्वत्तो० पृ० २७८

एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये "वाग्भवति शब्दविषया" स्थूलशब्दविषया, तद्धेतुत्वात् । नतु शब्दतन्मात्रस्य हेतुस्तस्याहंकारिकत्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वात् । शेषाणि तु चत्वारि पायूपस्थपाणिपादाख्यानि पञ्च-विषयाणि पाण्याद्याहार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मकत्वादिति ॥३४ ॥

अर्थ—इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों में "वाक् इन्द्रिय शब्द-विषयक" अर्थात् स्थूल-शब्द-विषयक है, क्योंकि वह स्थूल शब्द को उत्पन्न करती है । वाक् शब्द-तन्मात्र (अर्थात् सूक्ष्म शब्द) को उत्पन्न करने वाली नहीं है क्योंकि शब्द-तन्मात्र भी वाक् के कारण-भूत अहंकार से ही उत्पन्न होता है (और जब दो वस्तुएँ एक ही कारण के कार्य हों तो परस्पर कारण-कार्य नहीं हो सकतीं) । शेष मलत्यागेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय, हाथ और पैर चारों ही इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श इत्यादि पाँचों ही विषयों में प्रवृत्त होती हैं क्योंकि हाथ इत्यादि के विषय-भूत घट, पट इत्यादि शब्द, स्पर्श रुप, रस और गन्ध—इन पाँचों से ही युक्त होते हैं ।

साम्प्रतं त्रयोदशसु करणेषु केषञ्चिद् गुणभावं केषाञ्चित्प्रधानभावं सहेतुकमाह—"सान्तःकरणा" इति ।

अर्थ—अब 'सान्तःकरणा...' इत्यादि अगली कारिका में तेरह करणों में किन्हीं की प्रधानता और किन्हीं की गौणता (अप्रधानता) कारण-सहित कहते हैं :—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥

अर्थः—चूँकि अन्य दोनों अन्तःकरणों (मन एवं अहङ्कार) के साथ बुद्धि समस्त विषयों में व्याप्त होती है, इसलिये ये तीनों अन्तकरण प्रधान हैं, अन्य द्वार या साधन-मात्र हैं ।

"द्वारि" प्रधानम् । "शेषाणि" करणानि बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि । नीतं सर्वं विषयं समनोऽहङ्कारा बुद्धिः यस्मादवगाहतेऽध्यवस्यति, तस्माद् बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, द्वारवती च सान्तःकरणा बुद्धिरिति ॥३५॥

अर्थ—'द्वारि' का अर्थ है प्रधान । 'शेष' करण अर्थात बाह्येन्द्रियाँ 'द्वार' अर्थात् अप्रधान हैं । चूँकि बाह्येन्द्रियों के द्वारा उपस्थित किये गये सभी विषयों में मन और अहङ्कार के सहित बुद्धि व्याप्त होती है, उनका निश्चय

करती है, इसलिए बाह्य इन्द्रियाँ द्वार या साधन-मात्र हैं और मन तथा अहङ्कार से युक्त बुद्धि साधनवती या प्रधान है।

न केवलं बाह्येन्द्रियाण्यपेक्ष्य प्रधानं बुद्धिः, अपि तु ये अप्यहङ्कार-मनसी द्वारिणी ते अप्यपेक्ष्य बुद्धिः प्रधानमित्याह—"एते" इति।

अर्थ—बाह्य इन्द्रियों की ही अपेक्षा बुद्धि प्रधान नहीं है, अपितु अहंकार और मन जो दो अन्य अन्तःकरण 'प्रधान' हैं, उनकी भी अपेक्षा बुद्धि प्रधान है—यह आगे की 'एते प्रदीपकल्पाः' इत्यादि कारिका में कहते हैं :—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥

अर्थ—गुणों के विशिष्ट विकार एवं परस्पर विलक्षण ये करण (मन, अहङ्कार तथा बाह्य इन्द्रियाँ) प्रदीप के समान हैं। ये समस्त पुरुषार्थ को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देते हैं।

यथा हि ग्रामाध्यक्षः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनश्च संकल्प्याहङ्काराय, अहङ्कारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायाम्; तदिदमुक्तम् - "परुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति" इति।

अर्थ—जैसे ग्रामणी सभी गृह-स्वामियों से कर लेकर जनपद या प्रान्त के अध्यक्ष को, प्रान्ताध्यक्ष सारे देश के अध्यक्ष को तथा देशाध्यक्ष सम्राट् को सौंपता है, उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करके मन को सौंपती हैं, मन उनका संकल्प करके अहङ्कार को तथा अहङ्कार उनका अभिमान करके सभी करणों में प्रधान बुद्धि को सौंपता है। इसीलिए मूल कारिका में कहा गया कि "(ये करण) पुरुष के समस्त अर्थ को प्रकाशित करके बुद्धि को सौंपते हैं।"

बाह्येन्द्रियमनोऽहङ्काराश्च 'गुणविशेषाः' गुणानां सत्त्वरजस्तमसां विकाराः, ते तु परस्परविरोधशीला अपि पुरुषार्थेन भोगापवर्गरूपेणैक-वाक्यतां नीताः, यथा वर्तितैलवह्नयः सन्तमसापनयेन रूपप्रकाशाय मिलिताः प्रदीपः, एवमेते गुणविशेषाः इति योजना।

अर्थ :—वाह्य इन्द्रियाँ, मन एवं अहङ्कार 'गुणों के विशेष' अर्थात् तत्व, रजस् और तमस् के विकार (परिणाम) हैं। ये विरुद्ध स्वभाव के होते हुए भी भोग और कैवल्य रूप पुरुषार्थ के द्वारा परस्पर सहकारित्व को प्राप्त होते हैं। जैसे बत्ती, तेल तथा अग्नि गहन अन्धकार को दूर कर रूप को प्रकाशित करने के लिए मिल कर दीपक बन जाते हैं, उसी प्रकार गुणों के विभिन्न परिणाम-भूत ये करण भी (परस्पर सहकारित्व को प्राप्त होते हैं)। उपर्युक्त प्रकार से कारिका के पदों का अन्वय होगा।

कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति, न तु बुद्धिरहङ्काराय द्वारिणे मनसे चेत्यत आह—सर्वमिति।

अर्थ—सारे करण (समस्त विषय को) बुद्धि ही को क्यों सौंपते हैं, क्य नहीं बुद्धि उन्हें प्रमुख अहङ्कार या मन को सौंपती है? इसका उत्तर 'सर्व प्रत्यपभोगं...' इत्यादि कारिका में दे रहे हैं:—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७॥

अर्थ—चूँकि समस्त विषयों के सम्बन्ध में होने वाले पुरुष के भोग को बुद्धि ही सम्पादित करती है और वही प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है, (इसलिए बुद्धि ही प्रधान है)।

पुरुषार्थस्य प्रयोजकत्वात् तस्य यत्साक्षात्साधनं तत्प्रधानम्। बुद्धिश्चाऽस्य साक्षात्साधनं, तस्मात्सैव प्रधानम्। यथा सर्वाध्यक्षः साक्षाद्राजार्थ-साधनतया प्रधानम्, इतरे तु ग्रामाध्यक्षादयस्तम्प्रति गुणभूताः। बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वं विषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति। सुखदुःखानुभवो हि भोगः, स च बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुषरूपेवेति-सा च पुरुषमुपभोजयति। यथाऽर्थालोचनसङ्कल्पाभिमानाश्च तत्तद्रूपपरिणामेन बुद्धावुपसङ्क्रान्ताः, तथेन्द्रियव्यापारा अपि बुद्धेरेव स्वव्यापारेणाऽध्यवसायेन सहैकव्यापारीभवन्ति, यथा स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादि-सैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवति। "सव" शब्दादिकं "प्रति" यः उपभोगः 'पुरुषस्य", तं साधयति।

अर्थ—समस्त करणों के व्यापार (प्रवृत्ति) में पुरुषार्थ के ही निमित्त होने से जो करण पुरुषार्थ का साक्षात् साधन हो, वही प्रधान है। बुद्धि ही चूँकि साक्षात् साधन है, इसलिए वही प्रधान है। जैसे राज-कार्य की सिद्धि में साक्षात् रूप से साधन होने के कारण समस्त देश का अध्यक्ष प्रधान होता है, अन्य ग्रामणी इत्यादि उसकी अपेक्षा अप्रधान होते हैं। पुरुष के समीप होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि पुरुष सी चेतन प्रतीत होती हुई उसके समस्त विषय-भोग को सम्पादित करती है। भोग सुख और दुःख का अनुभव है, वह बुद्धि में सम्पन्न होता है और बुद्धि पुरुष के आकार की (अर्थात् चेतन) सी ही है। इस प्रकार (दोनों में अभेद प्रतीत होने से) यह पुरुष को विषयों का भोग कराती है। और जैसे ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा अहङ्कार के द्वारा किए गए वस्तु-विषयक आलोचन, सङ्कल्प और अभिमान क्रमशः सङ्कल्प, अभिमान और अध्यवसाय में परिणत हो कर बुद्धि में आरोपित हो जाते हैं अर्थात् उसी के कार्य बन जाते हैं, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों[1] के वचन आदि व्यापार भी बुद्धि के 'अध्यवसाय' कार्य के साथ मिल कर एक हो जाते हैं; जैसे समस्त देश के अध्यक्ष की अपनी सेना के साथ ग्रामणी आदि की सेनाएँ भी उसी को हो जाती हैं। 'समस्त' अर्थात् शब्दादि विषयों के 'प्रति' अर्थात् सम्बन्ध में पुरुष का जो 'उपभोग' होता है, उसे (बुद्धि ही) सम्पन्न करती है—यह अक्षरार्थ है।

विशेष—ऊपर के दृष्टान्त का भाव यह है कि जैसे अनेक ग्रामणियों की सेनाएँ प्रान्ताध्यक्ष के पास पहुँच कर उसी की सेना हो जाती हैं और प्रान्ताध्यक्षों की भी सेनाएँ देशाध्यक्ष के पास पहुँच कर सब मिल कर देशाध्यक्ष की सेना कहलाती हैं, इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के 'आलोचन' मन के पास पहुँच कर उसके 'सङ्कल्प' में परिणत हो जाते हैं अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय-कृत विषयालोचन का ही सङ्कल्प करता है और यह आलोचन ही मन की सङ्कल्पात्मक क्रिया के बाद 'सङ्कल्प' हो जाता है। इसी प्रकार मनः-कृत सङ्कल्पों का भी जब अहङ्कार द्वारा अभिमान होता है, तब वे ही सङ्कल्प 'अभिमान' बन जाते हैं एवं ये 'अभिमान' बुद्धि द्वार निश्चय किए जाने पर 'निश्चय' या 'अध्यवसाय' में परिणत हो जाते हैं। जैसे यह सब होता है, उसी प्रकार कर्मेंद्रियों के वचन इत्यादि भी बुद्धि के 'निश्चय' बन जाते हैं। सारांश यह है कि जैसे देशाध्यक्ष की सेना प्रान्ता-

---

१—तथेन्द्रियेति। तथा कर्मेन्द्रियव्यापारा आदानादयोऽपि सङ्कल्पाभिमानाभ्यां सहिताः असहिता वा बुद्धेरध्यवसायात्मकव्यापारेण सहैकव्यापारीभवन्ति—भोगात्मैककार्यकारिणो भवन्तीत्यर्थः। —किरणावल

ध्यक्षों की सेना का मिलित रूप है, उनसे भिन्न नहीं और प्रान्तों की अपनी-अपनी सेनाएँ भी अपने-अपने ग्राम-पतियों की ही मिलित सेनाएँ हैं, उनसे भिन्न नहीं, उसी प्रकार बुद्धि का 'निश्चय' भी अहङ्कार के 'अभिमान' से और अहङ्कार का 'अभिमान' इन्द्रियों के 'विषयालोचन' से भिन्न नहीं है, उसी का परिणाम है। दूध और दही का भेद केवल अवस्था का भेद है, वस्तुतः कुछ नहीं, दूध ही दही है। डा० झा का— "Just as the Perception, Observation and Self-consciousness of things take the form of the things and become transferred to the will, in the same manner the functions of sense-organs also become mingled with the 'determining' which is the function of the Will"—इत्यादि अनुवाद असङ्गत और दृष्टान्त के साथ बेमेल लगता है।

ननु पुरुषस्य सर्वविषयोपभोगसम्पादिका यदि बुद्धिः, तर्ह्य निर्मोक्ष इत्यत आह—"सैव च" इति। "पुनः" पश्चात् "प्रधानपुरुषयोरन्तरं" विशेषं "विशिनष्टि" करोति, यथौदनपाकं पचतीति, करणं च प्रतिपादनम्। ननु प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादनित्यत्वं तत्कृतस्य मोक्षस्य स्यादित्यत आह—"विशिनष्टि"। 'प्रधानं सविकारमन्यदहमन्यः' इति विद्यमानमेवाऽन्तरमविवेकेनाऽविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति, न तु करोति, येनानित्यत्वमित्यर्थः। अनेनापवर्गः पुरुषार्थो दर्शितः, "सूक्ष्मम्" दुर्लक्ष्यं तदन्तरमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अर्थ—परन्तु यदि पुरुष के सभी भोगों को बुद्धि ही सम्पादित करती है, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं (क्योंकि सांख्य में 'सत्' का कभी अभाव न होने के कारण सत् बुद्धि का कभी अभाव ही न होगा, और फिर उसके द्वारा सम्पादित भोग-रूप कार्य के कभी विरत न होने से मोक्ष असम्भव हो जाएगा)। इसका उत्तर कारिका की 'सैव च' इत्यादि द्वितीय पंक्ति में देते हैं। बुद्धि भोग के पश्चात् प्रकृति और पुरुष का विवेक या पृथक्त्व (भेद) भी करती है। 'विशिनष्टि' पद का अर्थ इस स्थल में 'करोति' है [विशेषं भेदं करोति'—यह अर्थ नहीं, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर विशेष या भेद अर्थ का वाचक 'अन्तरम्' पद व्यर्थ हो जाएगा]; जैसे 'ओदनपाकं पचति'—इस वाक्य में 'पचति' का अर्थ 'करोति' है; और यह 'करना' भी यहाँ 'प्रतिपादन'

अर्थ में है। परन्तु प्रश्न यह है कि प्रकृति और पुरुष के अन्तर के उत्पाद्य होने के कारण उससे उत्पन्न मोक्ष भी अनित्य होगा। इसी के उत्तर में कहा—'विशिनष्टि' अर्थात् 'परिणामों के सहित प्रकृति भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ'—इस पूर्व से ही विद्यमान किन्तु अज्ञान के कारण अविद्यमान प्रतीत होते हुए अन्तर को बुद्धि केवल प्रकट करती है, उसको उत्पन्न नहीं करती, जिस से उस अन्तर से उत्पन्न मोक्ष को अनित्य कहा जाय। इस से यह भी स्पष्ट हो गया कि मोक्ष ही पुरुषार्थ है। दोनों का यह अन्तर 'सूक्ष्म' अर्थात् अत्यन्त दुर्लक्ष्य है।

तदेवं करणानि विभज्य विशेषाविशेषान् विभजते—तन्मात्राणीति।

अर्थ—इस प्रकार करणों का विभाजन करके अब 'तन्मात्राणि' इत्यादि अग्रिम कारिका में (ज्ञानेन्द्रियों के) स्थूल और सूक्ष्म विषयों का विभाग बताते हैं—

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥

अर्थ—पाँच तन्मात्र 'अविशेष' अर्थात् सूक्ष्म विषय हैं। इन पाँचों से आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं जो 'विशेष' अर्थात् स्थूल कहे जाते हैं क्योंकि ये सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक होते हैं।

शब्दादितन्मात्राणि सूक्ष्माणि। न चैषां शान्तत्वादिरस्ति उपभोगयोग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः।

अर्थ—'तन्मात्र' अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि। 'तन्मात्र' में आये हुए 'मात्र' पद का अर्थ यह है कि इनमें अनुभव-योग्य सुख, दुःख, मोह इत्यादि विशेषताएँ नहीं होतीं।

अविशेषानुक्त्वा विशेषान्वक्तुमुत्पत्तिमेषामाह—"तेभ्यो भूतानि" इति। तेभ्यस्तन्मात्रेभ्यो यथासंख्यमेकद्वित्रिचतुष्पञ्चभ्यो भूतानि आकाशानिलानलसलिलावनिरूपाणि पञ्च पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः।

अर्थ—विशेष-हीन तन्मात्रों को बताकर स्थूल विषयों का कथन करने के लिए इनकी उत्पत्ति बताते हैं—उनसे भूत इत्यादि। अर्थात् उन पंच तन्मात्रों से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पंच भूत उत्पन्न होते हैं।

अस्त्वेषां भूतानामुत्पत्तिः, विशेषत्वे किमायातमित्यत आह—'एते स्मृता विशेषाः' इति। कुतः? 'शांता घोराश्च मूढाश्च'। चकार एको हेतौ, द्वितीयः समुच्चये। यस्मादाकाशादिषु स्थूलेषु सत्त्वप्रधानतया केचिच्छान्ताः सुखाः प्रकाशा लघवः, केचिद्रजःप्रधानतया घोराः दुःखा अनवस्थिताः, केचित्तमःप्रधानतया मूढा विषण्णा गुरवः। तेऽमी परस्पर-व्यावृत्त्याऽनुभूयमाना 'विशेषा' इति च 'स्थूला' इति चोच्यन्ते। तन्मात्राणि तु अस्मदादिभिः परस्परव्यावृत्तानि नानुभूयन्ते इति अविशेषा इति सूक्ष्मा इति चोच्यन्ते ॥३८॥

अर्थ—माना कि इनकी इस प्रकार से उत्पत्ति होती है, पर इनके 'विशेष' होने के सम्बन्ध में क्या रहा? इसके उत्तर में कहते हैं कि "ये भूत 'विशेष' अर्थात् स्थूल कहे जाते हैं।" क्यों? "क्योंकि वे शांत, घोर, और मूढ़ होते हैं"। एक 'च' कारण के अर्थ में है और दूसरा तीनों का समुच्चय करने अर्थात् यह बताने के लिए है कि सभी वस्तुओं में ये तीनों विशेषताएँ होती हैं। (कहने का भाव यह है कि) चूँकि आकाश, वायु इत्यादि स्थूल विषयों में कुछ सत्त्व-प्रधान होने के कारण शान्त, सुखात्मक, प्रकाश-रूप और लघु, कुछ रजः-प्रधान होने के कारण घोर, दुःखात्मक और चंचल, तथा कुछ तमः-प्रधान होने के कारण मोहात्मक, विषाद-रूप और गुरु (भारी) होते हैं, इसलिए ये परस्पर पृथक्-पृथक् रूप से अनुभव किए जाने के कारण 'विशेष' और 'स्थूल' कहलाते हैं। इसके विपरीत तन्मात्र हम लोगों (प्राकृत जनों) के द्वारा पृथक् पृथक् अनुभूत न होने के कारण 'अविशेष' और 'सूक्ष्म' कहलाते हैं

विशेषाणामवान्तरविशेषमाह—

अर्थ—अब स्थूल विषयों के अवान्तर (सूक्ष्मतर) भेद कहते हैं—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

अर्थ—सूक्ष्म शरीर, माता और पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, और पंच महाभूत —ये तीन प्रकार के स्थूल विषय होते हैं। इनमें सूक्ष्म शरीर नित्य होते हैं किन्तु माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर अनित्य होते हैं।

"सूक्ष्मा" इति। "त्रिधा विशेषाः स्युः" इति। तान् विशेषप्रकारा-नाह—"सूक्ष्माः" सूक्ष्मदेहाः परिकल्पिताः, "मातापितृजाः" षाट्-कौशिकाः। तत्र मातृतो लोमलोहितमांसानि, पितृतस्तु स्नाय्वस्थिमज्जान

इति षट् कोशाः। प्रकृष्टानि महान्ति भूतानि प्रभूतानि, तैस्सह। सूक्ष्मं शरीरमेको विशेषः, मातापितृजो द्वितीयः, महाभूतानि तृतीयः, महाभूतवर्गे च घटादीनां निवेश इति।

अर्थ—सूक्ष्म शरीर इत्यादि तीन प्रकार या भेद विशेष विषयों के हैं। उन्हीं प्रकारों का कथन करते हैं—(१) (अदृश्य परन्तु) अनुमेय सूक्ष्म शरीर। (२) माता-पिता से उत्पन्न छः कोषों का स्थूल शरीर। इनमें लोम, रक्त और मांस माता से, तथा नसें, हड्डियाँ और मज्जा पिता से—इस प्रकार छहों कोष प्राप्त होते हैं। (३) 'प्रभूत' का अर्थ है प्रकृष्ट अर्थात् महा भूत। इन के सहित मिल कर (पूर्वोक्त दोनों 'विशेष' के तीन प्रकार हैं। सूक्ष्म शरीर पहला विशेष है, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर दूसरा और महा भूत तीसरा। इन्हीं महाभूतों की कोटि में घट इत्यादि का भी समावेश है।

विशेष—लोम शब्द यहाँ त्वक् या चर्म का बोधक है। इस प्रकार 'एतत् षाट्कौषिकं शरीरं त्रीणि पितृतः मातृतः। अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः, त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतः' इत्यादि श्रुति के साथ उपर्युक्त कथन का विरोध न होगा। 'त्वक्' पद का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया कि उससे त्वगिन्द्रिय का भ्रम हो सकता है।

सूक्ष्ममातापितृजयोर्द्वयोर्विशेषमाह—"सूक्ष्मास्तेषाम्" विशेषाणां मध्ये ये ते "नियताः" नित्याः, "मातापितृजा निवर्तन्ते" इति। रसान्ता वा भस्मान्ता वा विडन्ता वेति ॥३९॥

अर्थ—सूक्ष्म शरीर तथा माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर में भेद बताते हैं—उन विशेषों में जो सूक्ष्म शरीर हैं; वे नियत अर्थात् नित्य होते हैं और स्थूल शरीर निवृत्त अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। वे पृथिवी में गाड़े जाने पर पृथिवी-भाव को प्राप्त होते हैं, जलाये जाने पर भस्म बन जाते हैं और व्याघ्रादि से खा लिए जाने पर पच कर मल बन जाते हैं।

सूक्ष्मशरीरं विभजते—'पूर्वोत्पन्नम्' इति।

अर्थ—अत्र 'पूर्वोत्पन्नम्' इत्यादि अगली कारिका में सूक्ष्म शरीर का विभाग करते हैं—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, अप्रतिहत गति, स्थायी, महत्तत्त्व से ले कर सूक्ष्म तन्मात्रों तक के १८ तत्त्वों से बना हुआ, भोग-रहित, धर्मा-

धर्म इत्यादि भावों से युक्त लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर संसरण या गमनागमन करता रहता है।

विशेष—'नियत' पद पिछली कारिका में भी आया है। इस का व्याख्यान तत्त्वकौमुदीकार ने 'नित्य' किया है। पर यह नित्यता आत्मा की सी ऐकान्तिक नित्यता नहीं, अपितु स्वर्गादि की सी आपेक्षिक नित्यता है। स्थूल शरीर की अपेक्षा चिरकालावस्थायी होने के कारण ही इसे नियत कहा गया है। पर इस चिरकालावस्थायित्व की अवधि क्या है? यह प्रश्न है। स्वयं तत्त्वकौमुदीकार ने प्रस्तुत कारिका में आये हुये 'नियत' पद का 'आं चादिसर्गात् आ च महाप्रलयात् अवतिष्ठते' व्याख्यान कर के इस प्रश्न का समाधान किया है। इसी कारिका के 'लिङ्ग' पद का व्याख्यान करने वाली 'लयं गच्छतीति लिङ्गम्, हेतुमत्त्वेन चास्य लिङ्गत्वम्' इत्यादि तत्त्वकौमुदी की पंक्ति के व्याख्यान में विद्वत्तोषिणीकार ने इसी भाव का पोषण किया है :—'हेतुमत्वेनेति। यद्यद्धेतुमत् कारणवत् कार्यमिति यावत्, तस्य स्वकारणे लयोऽवश्यम्भावीति व्याप्तिग्रहात् प्रधानकार्यस्य सर्वस्यापि साक्षात् परम्परया वा प्रधाने लयः ततश्च सूक्ष्मशरीरस्यापि लयो महाप्रलये भवत्येव'। इसी से यहाँ 'नियत' का अनुवाद 'स्थायी' किया गया है।

नारायण तीर्थ ने 'नियत' का अर्थ परिच्छिन्न या परिमित किया है, जिससे प्रत्येक सूक्ष्म शरीर के एक ही पुरुष तक सीमित रहने का भाव प्रकट होता है। गौडपाद ने 'नियतम्' को संसरति' का क्रियाविशेषण मान कर अन्य ही अर्थ किया है—"नियतं' यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत्संसरति, तच्च महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं संसरति शूलग्रहपिपीलिकावत् त्रीनपि लोकान्।"

"पूर्वोत्पन्नम्" प्रधानेनाऽऽदिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम्। "असक्तम्" अव्याहतं—शिलामप्यनुविशति। "नियतम्" आ चाऽऽदिसर्गात्, आ च महाप्रलयादवतिष्ठते। "महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्" महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्। एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम्, शान्तघोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वाद्विशेषः।

अर्थ—'पूर्वोत्पन्न' अर्थात् सर्व-प्रथम सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् उत्पादित। 'असक्त' अर्थात् अप्रतिहत—जो शिला में भी प्रविष्ट हो जाता है। 'नियत' अर्थात् सर्व-प्रथम सृष्टि से लेकर महाप्रलय-पर्यन्त रहता है। 'महत् से लेकर सूक्ष्म तक' अर्थात् महत्, अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच सूक्ष्म तन्मात्र। इन का समूह सूक्ष्म शरीर है, जो शान्त, घोर और मूढ इन्द्रियों से युक्त

होने के कारण 'विशेष' कहलाता है। [कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे महाभूत शान्त इत्यादि रूप में अनुभूत होने कारण 'विशेष' हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी 'विशेष' हैं और सूक्ष्म शरीर भी महत्, अहंकार इत्यादि के अतिरिक्त इन्द्रियों से भी युक्त होने के कारण 'विशेष' ही है।]

नन्वस्त्वेतदेव शरीरं भोगायतनं पुरुषस्य, कृतं दृश्यमानेन षाट्कौशिकेन शरीरेणेत्यत आह—"संसरति" इति। उपात्तमुपात्तं षाट्कौशिकं शरीरं जहाति,हायं हायं चोपादत्ते। कस्मात्? "निरुपभोगं" यतः,षाट्कौशिकं शरीरं विना निरुपभोगं यस्मात्, तस्मात्सूक्ष्मं शरीरं संसरति।

अर्थः—फिर इसी शरीर को पुरुष के भोग का क्षेत्र या स्थान क्यों न मान लिया जाय? षट् कोशों वाले स्थूल शरीर की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कहते हैं—'यह संसरण करता है' अर्थात् बार बार धारण किये गये स्थूल शरीर को छोड़ता है और छोड़ छोड़कर नया धारण करता है। यह क्यों? चूँकि सूक्ष्म शरीर 'निरुपभोग' अर्थात् छः कोषों के स्थूल शरीर के विना भोग-विहीन रहेगा, इसलिए वह संसरण करता है—पुनः पुनः गृहीत स्थूल शरीर को छोड़ कर नया नया ग्रहण करता है।

ननु धर्माधर्मनिमित्तः संसारः, न च सूक्ष्मशरीरस्याऽस्ति तद्योगः, तत्कथं संसरतीत्यत आह—"भावैरधिवासितम्" इति। धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि भावाः, तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितञ्च सूक्ष्मं शरीरमिति तदपि भावैरधिवासितम्, यथा सुरभिचम्पककुसुमसम्पर्काद्वस्त्रं तदामोदवासितम्भवति। तस्माद्भावै रेवाऽधिवासितत्वात्संसरति।। कस्मात् पुनः प्रधानमिव महाप्रलयेऽपि तच्छरीरं न तिष्ठतीत्यत आह—"लिंगम्" इति। लयं गच्छतीति लिङ्गम्, हेतुमत्त्वेन चाऽस्य लिङ्गत्वमिति भावः।। ४०।।

अर्थः—किन्तु संसरण तो धर्म और अधर्म से होता है और सूक्ष्म शरीर का धर्माधर्म आदि से संयोग होता ही नहीं, तब वह कैसे संसरण करता है? इसके उत्तर में कहा—'भावों से युक्त होने के कारण।' धर्म और अधर्म ज्ञान और अज्ञान, वैराग्य और अवैराग्य, तथा ऐश्वर्य और अनैश्वर्य—ये भाव हैं। बुद्धि इनसे युक्त होती है और बुद्धि से युक्त सूक्ष्म शरीर होता है। इसलिए सूक्ष्म शरीर भी बुद्धि के द्वारा धर्माधर्म इत्यादि भावों से उसी प्रकार युक्त होता है, जैसे सुगन्धित चम्पक पुष्प के सम्पर्क से वस्त्र उसकी महक से सुवासित हो जाता है। इसलिए धर्माधर्म इत्यादि से युक्त होने के कारण ही सूक्ष्म शरीर संसरण

करता है। परन्तु 'प्रधान' की भाँति सूक्ष्म शरीर भी महा-प्रलय में भी क्यों नहीं रहता? इसके उत्तर में कहा—क्योंकि यह 'लिङ्ग' है अर्थात् (प्रधान में) लय को प्राप्त हो जाता है; और यह 'लिङ्ग' इसलिए है कि 'प्रधान' रूप कारण का कार्य है (और कार्य अपने कारण में लय को प्राप्त होता ही है)।

स्यादेतत्—बुद्धिरेव साहङ्कारेन्द्रिया कस्मान्न संसरति? कृतं सूक्ष्म-शरीरेणाऽप्रामाणिकेनेत्यत आह—"चित्रम्" इति।

अर्थ—पर प्रश्न यह है कि अहङ्कार और इन्द्रियों से युक्त बुद्धि को ही संसरण करने वाली क्यों नहीं मान लेते? अप्रामाणिक सूक्ष्म शरीर को मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर 'चित्रं यथा' इत्यादि अगली कारिका द्वारा देते हैं—

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥

अर्थ—जैसे आधार के बिना चित्र और स्तम्भ के बिना छाया नहीं रहती, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर रूप 'विशेष' के बिना आश्रय-हीन लिङ्ग अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार आदि भी नहीं रह सकते।

विशेष—सुषमाकार 'विनाविशेषैः' को संहित पद मान कर 'विना अवि-शेषैः' ऐसा खण्ड करते हैं, और कौमुदीकार के सूक्ष्मैः शरीरैः' पदों को इसी 'अविशेष' अर्थ में लेते हैं, पर यह स्पष्ट भ्रान्ति है क्योंकि पूर्व ही 'अविशेष' तथा 'विशेष' रूप से विषयों के दो प्रकार करके फिर 'विशेष' के भी सूक्ष्म शरीर, स्थूल या षाट्कौषिक शरीर और पञ्च महाभूत—ये तीन अवान्तर प्रकार या भेद किए गए हैं। इसलिए सूक्ष्म शरीर को 'अविशेष' अर्थात् 'सूक्ष्म' विषय से पृथक् न करके उससे अभिन्न बताना सर्वथा भ्रान्ति है। १८ तत्त्वों के समूह-भूत सूक्ष्म शरीर में अविशेष या सूक्ष्म तत्त्वों (पञ्च तन्मात्रों) के समाविष्ट होने से जहाँ एक ओर उसका 'सूक्ष्म' नाम सार्थक है, वहाँ शान्त, घोर एवं मूढ (अतएव 'विशेष'-स्वरूप) इन्द्रियों के समाविष्ट होने से उसका 'विशेष' होना भी सार्थक है। इसका विशेष विवेचन 'अवतरणिका' में द्रष्टव्य है।

लिङ्गनात् ज्ञापनात् बुद्ध्यादयो 'लिङ्गम्', तत् अनाश्रयं न तिष्ठति। जन्मप्रायणान्तराले बुद्ध्यादयः प्रत्युत्पन्नशरीराश्रिताः, प्रत्युत्पन्नतन्मात्र-त्त्वे सति बुद्ध्यादित्वात्, दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्ध्यादिवत्।

अर्थ—प्रधान के ज्ञापक या अनुमापक हेतु होने से बुद्धि इत्यादि 'लिङ्ग' हैं। यह लिङ्ग बिना किसी आश्रय के नहीं रह सकता। (अनुमान इस प्रकार है:—) बुद्धि इत्यादि मृत्यु और भावी जन्म के मध्यकाल में, स्थूल शरीर में स्थित बुद्धि इत्यादि के समान अवश्य ही किसी पूर्व-प्रस्तुत (प्रत्युत्पन्न) शरीर के आश्रित रहते हैं, क्योंकि ये ऐसे बुद्धि इत्यादि हैं जो अपने से पूर्व उत्पन्न पञ्च तन्मात्रों से युक्त हैं।

विशेष—उपर्युक्त अनुमान में केवल 'बुद्ध्यादित्व' (बुद्धि इत्यादि होने) को हेतु न मानने का कारण यह है कि वैसा होने पर तो सृष्टि-क्रम में तन्मात्रों से पूर्व उत्पन्न बुद्धि इत्यादि में भी 'बुद्ध्यादित्व' हेतु विद्यमान होने के कारण उस अवस्था में भी किसी शरीर को बुद्धि इत्यादि का आश्रय मानना पड़ेगा, परन्तु वस्तुतः तन्मात्रोत्पत्ति के पूर्व बुद्धि इत्यादि का कोई भी आश्रय नहीं होता। परन्तु तन्मात्रों की उत्पत्ति के अनन्तर बुद्धि इत्यादि जहाँ कहीं भी होंगे, किसी शरीर के आश्रय से ही होंगे, उस के बिना नहीं। यह बात स्थूल शरीर में विद्यमान बुद्धि इत्यादि से स्पष्ट है। इसीलिए उपर्युक्त अनुमान में 'बुद्ध्यादित्व' को उस काल में वर्तमान तन्मात्रों से युक्त होने पर ही हेतु माना है। सुषमाकार ने इस भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है:— 'बुद्ध्यादित्वमात्रस्य हेतुत्वे सर्गक्रमे पञ्चतन्मात्रोत्पत्तेः पूर्वं बुद्ध्यादिषु बुद्ध्यादित्व-रूपस्य हेतोः सत्त्वात्तत्र च उक्तसाध्यस्यासत्त्वाद् व्यभिचारः स्यात्। अतो हेतौ 'प्रत्युत्पन्नपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति' इति विशेषणम्। तथा च तदानीं पञ्चतन्मात्रो-त्पत्त्यभावेन उक्तहेतोस्तत्राभावान्न व्यभिचार इति भावः।' (पृष्ठ १५२)॥

"विना विशेषैः" इति, सूक्ष्मैःशरीरैरित्यर्थः। आगमश्चाऽत्र भवति— "ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः॥" (महाभारत, वन०, अ० २९६) इत्यङ्गुष्ठमात्रत्वेन सूक्ष्मशरीरत्वमुपलक्षयति। आत्मनो निष्कर्षासम्भवात्, सूक्ष्ममेव शरीरं 'पुरुषः', तदपि पुरि स्थूलशरीरे शेते इति॥ ४१॥

अर्थ—'विशेष के विना' अर्थात् सूक्ष्म शरीर के बिना। इस विषय में यह आगम भी प्रमाण है:—'तब यम ने सत्यवान् के शरीर से पाश-बद्ध तथा स्व-वशीभूत अँगूठे के बराबर आकार वाले पुरुष को बल-पूर्वक निकाल लिया।' यहाँ 'अङ्गुष्ठमात्र' का तात्पर्य लक्षणा से सूक्ष्म शरीर

है। आत्म-रूप 'पुरुष' का निष्कर्ष असम्भव होने के कारण सूक्ष्म शरीर ही यहाँ 'पुरुष' है, क्योंकि यह भी स्थूल-शरीर रूपी पुरी में स्थित है।

एवं सूक्ष्मशरीरास्तित्वमुपपाद्य यथा संसरति, येन हेतुना च, तदुभयमाह—

अर्थ—इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की सत्ता सिद्ध करके अब उसके संसरण का प्रकार और कारण बताते हैं—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

अर्थ—पुरुषार्थ के लिए उत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर धर्म, अधर्म इत्यादि निमित्त और उसके कार्य स्थूल शरीर से सम्बन्ध होने के कारण प्रकृति की विभुत्व-शक्ति के संयोग से नट के समान व्यवहार किया करता है।

"पुरुषार्थहेतुकम्" इति पुरुषार्थेन हेतुना प्रयुक्तम्। "निमित्तम्" धर्माधर्मादि, "नैमित्तिकम्" तेषु तेषु निकायेषु यथायथं षाट्कौशिकशरीरग्रहः, स हि धर्मादिनिमित्तप्रभवः। निमित्तञ्च, नैमित्तिकञ्च, तत्र यः प्रसङ्गः प्रसक्तिस्तया "नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्" सूक्ष्मशरीरम्। यथा हि नटस्तां तां भूमिकां विधाय परशुरामो वाऽजातशत्रुर्वा वत्सराजो वा भवति, एवं तत्तत्स्थूलशरीरपरिग्रहणाद्देवो वा मनुष्यो वा पशुर्वा वनस्पतिर्वा भवति सूक्ष्मशरीरमित्यर्थः।

अर्थ—'पुरुषार्थहेतुक' का अर्थात् पुरुषार्थ के हेतु उत्पन्न। 'निमित्त' अर्थात् धर्म, अधर्म इत्यादि; 'नैमित्तिक' अर्थात् भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न स्थूल शरीर, क्योंकि यह धर्म, अधर्म इत्यादि निमित्तों से उत्पन्न होता है। इस 'निमित्त' तथा 'नैमित्तिक' के साथ सम्बन्ध होने से यह 'लिङ्ग' अर्थात् सूक्ष्म शरीर नट के समान व्यवहार करता है। जैसे नट अनेक प्रकार की वेष-भूषा आदि बना कर परशुराम, युधिष्ठिर या उदयन इत्यादि बन जाता है, उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी अनेक प्रकार के स्थूल शरीर ग्रहण करके देव, मनुष्य, पशु और वृक्ष इत्यादि बनता रहता है।

कुतस्त्यः पुनरस्येदृशो महिमेत्यत आह—"प्रकृतेर्विभुत्वयोगात्" इति। तथा च पुराणम्—"वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः" इति॥ ४२॥

अर्थ—इसको इतनी शक्ति कहाँ से आ जाती है? इसके उत्तर में कहते हैं—'प्रकृति की विभुत्व-शक्ति के संयोग से।' जैसा कि 'देवीभागवत'

पुराण में कहा गया है:—'प्रकृति की नाना-रूपता के कारण यह अद्भुत अर्थात् विविध सृष्टि होती है।'

"निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन" इत्युक्तम्; तत्र निमित्तनैमित्तिके विभजते—'सांसिद्धिकाश्च इति।

अर्थ—"निमित्त तथा नैमित्तिक के साथ सम्बन्ध होने के कारण (सूक्ष्म शरीर संसरण करता है)"—यह कहा जा चुका। अब 'सांसिद्धिकाश्च भावाः' इत्यादि कारिका द्वारा निमित्त (कारण) तथा नैमित्तिक (कार्य) का विभाग करते हैं:—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका, वैकृताश्च धर्माद्याः।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

अर्थ—प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सिद्ध 'सांसिद्धिक', तथा (उपाय से सिद्ध) 'वैकृतिक' धर्म, अधर्म इत्यादि भाव 'करण' अर्थात् निमित्त-रूप बुद्धि के होते हैं। एवं कलल (जरायु से परिवेष्टित रजो-मिश्रित वीर्य) इत्यादि भाव 'कार्य' अर्थात् नैमित्तिक शरीर के होते हैं।

विशेष—इस कारिका का तात्पर्य यह है कि बुद्धि के ज्ञान, अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य—ये आठों भाव संसरण के हेतु होने के कारण निमित्त कहलाते हैं। ये प्राकृतिक और वैकृतिक रूप से दो प्रकार के होते हैं। जो धर्म, अधर्म इत्यादि पूर्व जन्म के कर्मों के फल-स्वरूप सहज अर्थात जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं, वे तो स्वभाव-सिद्ध होने से प्राकृतिक हैं; और जो वर्तमान जीवन में पुरुष के प्रयत्न से प्राप्त होते हैं, वे वैकृतिक हैं। वे दोनों ही प्रकार के धर्म इत्यादि भाव अगले संसरण के हेतु बनने के कारण 'निमित्त' कहलाते हैं। इन धर्म, अधर्म इत्यादि निमित्तों से कलल, बुद्बुद, मांस-पिण्ड, अंग इत्यादि अवस्थाओं में होता हुआ जो शरीर बनता है, वह 'नैमित्तिक' या कार्य है। ये कलल इत्यादि इस शरीर के गर्भावस्था के भाव हैं; तथा शैशव, कुमारत्व, यौवन तथा वृद्धत्व गर्भ के बाहर निकलने के बाद के भाव हैं।

"वैकृताः" नैमित्तिकाः, पुरुषस्य जातस्योत्तरकालदेवताराधनादिनोत्पन्नाः। "प्राकृतिकाः" स्वाभाविका भावाः सांसिद्धिकाः। तथा हि—सर्गादावादिविद्वान् अत्रभवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य-

सम्पन्न : प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति। वैकृताश्च भावा असांसिद्धिकाः, ये उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः यथा प्राचेतसप्रभृतीनां महर्षीणाम्। एवमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याण्यपि। एते कुत्र दृष्टाः? इत्यत आह—करणाश्रयिण इति। करणं बुद्धितत्त्वम् ॥

अर्थ—'वैकृतिक' अर्थात जन्म के अनन्तर पुरुष द्वारा किए गए देवाराधन इत्यादि उपायों से उत्पन्न। 'प्राकृतिक' अर्थात् स्वाभाविक या स्वतः सिद्धः, जैसे यह कहा जाता है कि सृष्टि के आरम्भ में आदि विद्वान् महामुनि पूज्य कपिल धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे। वैकृत भाव वे हैं जो सहज या जन्म-सिद्ध न होकर उपाय-विशेष करने से उत्पन्न होते हैं, जैसे वाल्मीकि इत्यादि महर्षियों के धर्म, ज्ञान आदि। इसी प्रकार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी प्राकृतिक और वैकृत होते हैं। ये कहाँ रहते हैं? इसके उत्तर में कहा कि "ये 'करण' में स्थित रहते हैं"। 'करण' का अर्थ है—बुद्धि ॥

विशेष—सुषमाकार ने अधर्म इत्यादि चारों अधम भावों को प्राकृतिक और वैकृतिक उभय-विध न मान कर केवल वैकृतिक या नैमित्तिक ही माना है। 'सुषमा' की "सात्त्विकभावानां सांसिद्धिकाऽसांसिद्धिकभेदेन द्विविधत्वेऽपि तामसानामधर्मादीनां नैमित्तिकत्वमेवास्ति इत्याह--एवमिति। असांसिद्धिकानीति शेषः।" इत्यादि पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है। परन्तु महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा ने इन तामस भावों को उभय-विध माना है। यह बात उनकी "अधमानामधर्मादिभावानां चोभयविधानां स्वाभाविकास्वाभाविकानामुदाहरणान्यूह्यानीति एवमर्थमाह—'वैकृताश्च' इत्यादिना 'एवमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याण्यपि' इत्यन्तेन[१]" इत्यादि पंक्तियों से स्पष्ट है। इन दोनों में शर्मा जी का ही मत उचित जान पड़ता है, क्योंकि जैसे धर्म इत्यादि चारों सात्त्विक भाव पूर्व जन्मों के शुभ प्रयत्नों के फल स्वरूप जन्म से ही प्राप्त होंगे, उसी प्रकार अशुभ प्रयत्नों के फल-स्वरूप अधर्म इत्यादि तामस भाव भी प्राप्त होंगे। उसमें किसी प्रकार की भी असंगति नहीं दीख पड़ती ॥

कार्यं शरीरं तदाश्रयिणः, तस्याऽवस्थाः कललबुद्बुदमांसपेशीकरण्डाद्यंगप्रत्यंगव्यूहाः गर्भस्थस्य, ततो निर्गतस्य बालस्य बाल्यकौमारयौवनवार्धकानीति ॥

१—द्रष्टव्य विद्वत्तोषिणी। ३६ वीं कारिका से यह टीका उदासीन जी की मृत्यु हो जाने के कारण शर्मा जी द्वारा ही पूरी की गई थी।

अर्थ—'कार्यं' अर्थात् शरीर। 'कार्याश्रयिणः' अर्थात् उसमें रहने वाले भाव। गर्भ-स्थित शरीर के भाव (अवस्थाएँ) कलल, बुद्बुद, मांस-पिण्ड, अङ्कुर, अङ्ग, तथा प्रत्येक अङ्ग के विभाग हैं; और गर्भ से निकले हुए शरीर के भाव शैशव, कौमार, यौवन तथा वृद्धत्व हैं।

अवगतानि निमित्तनैमित्तिकानि। कतमस्य तु निमित्तस्य कतमन्नैमित्तिकमित्यत आह—

अर्थ—निमित्त और नैमित्तिक ज्ञात हो गए। अब किस निमित्त का कौन सा नैमित्तिक या कार्य है, यह बताते हैं—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चाऽपवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

अर्थ—धर्म से ऊर्ध्व लोकों में तथा अधर्म से अधोलोकों में गति प्राप्त होती है। ज्ञान से मोक्ष तथा उसके विपरीत अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है॥

"धर्मेण गमनमूर्ध्वम्" द्युप्रभृतिषु लोकेषु। "गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण" सुतलादिषु लोकेषु। "ज्ञानेन चाऽपवर्गः"। तावदेव प्रकृतिर्भोगमारभते न यावद्विवेकख्यातिं करोति। अथ विवेकख्यातौ सत्यां कृतकृत्यतया विवेकख्यातिमन्तं पुरुषं प्रति निवर्तते, यथाऽहुः—"विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितम्" इति॥

अर्थ—धर्म से स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों में तथा अधर्म से सुतलादि अधोलोकों में गति प्राप्त होती है। ज्ञान से मोक्ष होता है। प्रकृति तभी तक कर्मों का भोग उत्पन्न करती है, जब तक पुरुष में विवेक-ज्ञान नहीं उत्पन्न करती; विवेक-ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर स्व-कृत्य समाप्त हो जाने के कारण विवेक-ज्ञान वाले पुरुष की ओर से निवृत्त हो जाती है; जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है—'विवेक ज्ञान होने तक ही प्रकृति का भोग सम्पादन कार्य जानना चाहिए'।

"विपर्ययात्" अतत्त्वज्ञानात् "इष्यते बन्धः"। स च त्रिविधः—प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिणकश्चेति। तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रत्युच्यते—"पूर्णं शतसहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः" इति। वैकारिको बन्धस्तेषां ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषधियोपासते, तान् प्रतीदमुच्यते—

"दश मन्वतराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥ बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।" "ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः" इति। इष्टापूर्तेन दाक्षिणकः। पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यते इति॥ ४४॥

अर्थ—'विपर्यय' अर्थात् तत्त्व के अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है। यह बन्धन प्राकृतिक, वैकृतिक तथा दाक्षिणक रूप से तीन प्रकार का होता है। इनमें प्राकृतिक[1] बन्धन उनको प्राप्त होता है, जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हुए उसी की उपासना करते हैं। प्रकृति में लीन होने वालों के लिए 'प्रकृति की भावना करने वाले पूरे सौ सहस्र मन्वन्तर तक प्रकृति में विलीन रहते हैं'—इस पौराणिक पंक्ति में यही प्राकृतिक बन्धन कहा गया है।

वैकृतिक[2] बन्धन उन्हें प्राप्त होता है, जो भूतों (पृथिवी आदि), इन्द्रियों, अहङ्कार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति की विकृतियों (कार्यों) की ही पुरुष-भाव से उपासना करते हैं। उन्हीं के विषय में कहा गया है:—'इन्द्रियों के उपासक दश मन्वन्तरों तक, भूतों के उपासक सौ मन्वन्तरों तक, अहङ्कार के उपासक सहस्र मन्वन्तरों तक तथा बुद्धि के उपासक दस सहस्र मन्वन्तरों तक दुःख-त्रय से रहित होकर उन उन में स्थित रहते हैं', 'जिन को वैकृतिक बन्धन प्राप्त होते हैं, वे ही विदेह भी कहलाते हैं।'

इष्ट[3] और पूर्त[4] कर्मों से 'दाक्षिणक'[5] बन्धन प्राप्त होता है। पुरुष-तत्त्व का अज्ञानी, स्वर्गादि कामना से इष्ट और पूर्त कर्म करने वाला व्यक्ति भी बन्धन में पड़ता है॥

[धर्म-अधर्म तथा ज्ञान-अज्ञान—इन चारों बुद्धि-धर्मों से प्राप्त होने वाले फलों को बता कर अब वैराग्य-अवैराग्य तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य—इन अवशिष्ट चार धर्मों के फलों का कथन करते हैं।]

१—प्राकृतिकः—प्रकृतिः मूलमाया, तत्र भवः प्रकृतौ चेतनस्य लयात्मकः।—किरणावली

२—वैकृतिकः—विकाराः महत्तत्त्वादयः, तत्र भवः महत्तत्त्वादिषु चेतनस्य लयात्मकः। —किरणावली

३—एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते॥

४—वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमर्थ्याः प्रचक्षते॥

५—दाक्षिणकः—यज्ञादौ बहुविधगोसुवर्णादिदक्षिणादानेन लभ्यः, तत्पुण्यभोगार्थं प्रसक्तापि स्वर्गीयशरीरादौ अवस्थानात्मकं बन्धनमिति। —किरणावली

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो, विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

अर्थ—वैराग्य से प्रकृति-लय, रजोमय राग से संसरण, ऐश्वर्य से इच्छा की सफलता (पूर्णता) तथा ऐश्वर्य के अभाव से उसका हनन होता है।

"वैराग्यात् प्रकृतिलयः" इति । पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य वैराग्यमात्रात् प्रकृतिलयः, प्रकृतिग्रहणेन प्रकृतिमहदहङ्कारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषु लयः । कालान्तरेण च पुनराविर्भवति । "संसारो भवति राजसाद्रागात्" इति । 'राजसात्' इत्यनेन रजसो दुःखहेतुत्वात् संसारस्य दुःखहेतुता सूचिता । "ऐश्वर्यादविघातः" इति—इच्छायाः, ईश्वरो हि यदेवेच्छति तदेव करोति । "विपर्ययात्" अनैश्वर्यात्, "तद्विपर्यासः" सर्वत्रेच्छाविघात इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अर्थ—'वैराग्य से प्रकृति-लय' होने का तात्पर्य यह है कि वैराग्य से युक्त किन्तु पुरुष-तत्त्व के ज्ञान से रहित व्यक्ति को प्रकृति-लय प्राप्त होता है। 'प्रकृति' के ग्रहण से प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार, पृथिवी इत्यादि भूत और इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है। आत्मा समझ कर इनकी उपासना करने पर उपासक का इन्हीं में लय हो जाता है और कालान्तर में फिर उत्पत्ति होती है। राजस (रजोमय) राग से संसरण होता है'—यहाँ 'राजस' के प्रयोग से रजोगुण के दुःखकारक होने के कारण संसार कीदुःखकारकता प्रकट की गई है। 'ऐश्वर्य से अविघात' अर्थात् इच्छा का हनन नहीं होता क्योंकि ऐश्वर्य-सम्पन्न जो ही चाहता है, वही कर डालता है। 'विपर्यय' अर्थात् ऐश्वर्य न होने से 'उसका उलटा' अर्थात् सर्वत्र इच्छा का हनन[1] होता है ॥

बुद्धिधर्मान् धर्मादीनष्टौ भावान् समासव्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयान् दर्शयितुं प्रथमं तावत् समासमाह—

अर्थ—धर्म, अधर्म इत्यादि बुद्धि के आठों धर्मों को संक्षेप तथा विस्तार से मुमुक्षुओं के लिए त्याज्य तथा ग्राह्य दिखलाने के लिए पहले "एष प्रत्ययसर्गः" इत्यादि अगली कारिका में संक्षेप-पूर्वक कहते हैं—

१—यद्यपि अणिमाद्यष्टविधैश्वर्याभाववतामस्माकं भोजनादीच्छासत्त्वे तस्य विघातो न भवतीति 'स स्वेच्छाविघातः अनीश्वरस्य भवति' इत्युक्तिः न सङ्गच्छते, तथापि सर्वसामर्थ्याभावे भोजनादीच्छासत्त्वे तस्या अपि विघातो भवत्येवेति । — सुषमा, पृ० १५६

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥

अर्थ—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि—ये चार बुद्धि के (संक्षिप्त) परिणाम हैं, और गुणों के न्यूनाधिक्य से पारस्परिक अभिभव होने के कारण इसके पचास भेद होते हैं।

प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः, तस्य सर्गः। तत्र "विपर्ययः" अज्ञानमविद्या, साऽपि बुद्धिधर्मः। "अशक्तिः" अपि करणवैकल्य-हेतुका बुद्धिधर्म एव। "तुष्टिसिद्धी" अपि वक्ष्यमाणलक्षणे बुद्धिधर्मावेव। तत्र विपर्ययाशक्तितुष्टिषु यथायोगं सप्तानाञ्च धर्मादीनां ज्ञानवर्जमन्तर्भावः, सिद्धौ च ज्ञानस्येति।

अर्थ—जिससे प्रतीति अर्थात् निश्चय हो, उसे 'प्रत्यय' अर्थात् बुद्धि कहते हैं; उसका 'सर्ग' अर्थात् परिणाम। इन में 'विपर्यय' का अर्थ है अज्ञान अर्थात् अविद्या[1]; वह भी बुद्धि का धर्म या परिणाम है। तेरह करणों के दोषों के कारण उत्पन्न 'अशक्ति' भी बुद्धि का परिणाम ही है। 'तुष्टि' और 'सिद्धि' भी, जिनके लक्षण आगे कहे जायँगे, बुद्धि के परिणाम ही हैं। इनमें से विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि में ज्ञान के अतिरिक्त धर्म इत्यादि सातों का यथा-योग्य अन्तर्भाव है और ज्ञान का 'सिद्धि' में अन्तर्भाव है।

विशेष—विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि में धर्म, अधर्म आदि सातों बुद्धि-परिणामों का उपर्युक्त 'यथायोग' अन्तर्भाव इस प्रकार होगाः—अज्ञान का तो 'विपर्यय' में अन्तर्भाव होगा। इसी प्रकार अधर्म, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य का (कार्य और कारण में वस्तुतः अभेद होने से) 'अशक्ति' में, तथा धर्म, वैराग्य एवं ऐश्वर्य का 'तुष्टि' में अन्तर्भाव होगा। कौमुदीकार ने यह अन्तर्भाव इसलिए दिखाया है कि किसी को यह भ्रम न हो जाय कि प्रस्तुत कारिका में कहे गए चारों बुद्धि-परिणाम पूर्वोक्त आठों बुद्धि-परिणामों से भिन्न हैं।

१—ज्ञानाभावरूपस्य अज्ञानस्य बुद्धिकार्यत्वासम्भवात् प्रकृते अज्ञानपदं विपरीतज्ञानार्थकमित्याशयेनाह—अविद्येति। 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' इत्यादौ विपरीतज्ञानस्यैवाविद्यापदार्थत्वप्रतिपादनात्, सा च बुद्धधर्म इति।

—सुषमा, पृ० १५६

व्यासमाह—"तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्" इति। कस्मात्? "गुण-वैषम्यविमर्दात्" इति। गुणानां वैषम्यम् एकैकस्याऽधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, ते च न्यूनाधिक्ये मन्द-मध्याधिमात्रतया यथाकार्यमुन्नीयेते। तदिदं गुणानां वैषम्यम्, तेनोपमर्दः एकैकस्य न्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः। तस्मात्तस्य भेदाः-पञ्चाशदिति।

अर्थ—विस्तार-पूर्वक भेद कहते हैं—'उसके पचास भेद हैं।' क्यों? 'गुणों की न्यूनाधिकता से पारस्परिक अभिभव होने के कारण'। गुणों का वैषम्य अर्थात् एक-एक या दो-दो गुणों की अधिकता और एक-एक या दो-दो की न्यूनता। गुणों की यह न्यूनाधिकता उनके सुख, दुःख इत्यादि कार्यों के न्यूनाधिक्य से समझी जाती है। गुणों की इस विषमता से उत्पन्न उपमर्द अर्थात् एक-एक या दो-दो न्यून बल वालों के अभिभव से पचास भेद हो जाते हैं।

तानेव पञ्चाशद्भेदान् गणयति—'पञ्च' इति।

अर्थ—अत्र 'पञ्च विपर्ययभेदाः' इत्यादि अगली कारिका में इन्हीं पचास भेदों को गिना रहे हैं—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

अर्थ—'विपर्यय' के पाँच भेद, करणों के दोष के कारण 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद, 'तुष्टि' के नव भेद और 'सिद्धि' के आठ भेद होते हैं।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथासङ्ख्यं तमोमोहमहामोह-तामिस्रान्धतामिस्रसञ्ज्ञकाः पञ्च विपर्ययविशेषाः, विपर्ययप्रभवाणामप्य-स्मितादीनां विपर्ययस्वभावत्वात्। यद्वा, यदविद्यया विपर्ययेणाऽव-धार्यते वस्तु, अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते। अत एव 'पञ्चपर्वाऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।

अर्थ—क्रमशः तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र, इन अन्य नामों वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये अज्ञान के पाँच भेद हैं क्योंकि अस्मिता इत्यादि चारों अज्ञान के रूप न होकर उसके कार्य होते हुए भी उसी के स्वभाव के हैं, (अतः कार्य और कारण में अभेद मानने से वे भी अज्ञान के ही भेद गिने जाते हैं)। अथवा अविद्या के द्वारा जो

आठ वस्तु 'विपरीत' अर्थात् अवस्तु रूप में जानी जाती है, अस्मिता इत्यादि भी उसी स्वभाव के होने से अविद्या के विषय को—अवस्तु को—विषय बनाते हैं। इसीलिए भगवान् वार्षगण्य ने कहा है कि 'अविद्या पाँच[1] प्रकार की होती है।'

विशेष—पहली युक्ति के विषय में असन्तोष होने का कारण यह है कि कार्य और उपादान कारण में ही अभेद होता है, कार्य और निमित्त कारण में नहीं और यहाँ 'अविद्या' अस्मिता इत्यादि शेष चारों का निमित्त ही कारण है, उपादान कारण नहीं। दूसरी युक्ति का भाव यह है कि यद्यपि 'अविद्या' अस्मिता इत्यादि का उपादान नहीं है, तथापि अविद्या के विषय को ही विषय बनाने के कारण अर्थात् विषयाभेद के कारण अस्मिता इत्यादि अविद्या या विपर्यय से अभिन्न कहे जाते हैं।

सम्प्रति पञ्चानां विपर्ययभेदानामवान्तरभेदमाह—"भेदः" इति।

अर्थ—अब अगली कारिका में अविद्या के पाँच भेदों के सूक्ष्मतर भेद कहते हैं:—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

अर्थ—तमस् और मोह के आठ-आठ प्रकार, महामोह के दस प्रकार, तामिस्र और अन्धतामिस्र के अठारह-अठारह प्रकार होते हैं।

भेदस्तमसोऽविद्याया अष्टविधः। अष्टस्वव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वनात्मबुद्धिरविद्या तमः, अष्टविधविषयत्वात्तस्याऽष्टविधत्वम्॥ "मोहस्य च" इति, अत्राऽप्यष्टविधो भेदश्चकारेणाऽनुषज्यते। देवा ह्यष्टविधमैश्वर्यमासाद्याऽमृतत्वाभिमानिनोऽणिमादिकमात्मीयं शाश्वतिकमभिमन्यन्ते, सेयमस्मिता मोहोऽष्टविधैश्वर्यविषयत्वादष्टविधः। "दशविधो महामोहः" इति। शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेषु राग आसक्तिर्महामोहः, स च दशविधविषयत्वाद्दशविधः। "तामिस्रः" द्वेषः "अष्टादशधा", शब्दादयो दश विषया रञ्जनीयाः स्वरूपतः, ऐश्वर्यन्त्वणिमादिकं न स्वरूपतो रञ्जनीयम्, किं तु रञ्जनीयशब्दाद्युपायाः, ते च शब्दादय उपस्थिताः परस्परेणोपहन्यमानास्तदुपायाश्चाऽणिमादयः स्वरूपेणैव कोपनीया भवन्तीति शब्दादिभिर्दशभिः

१—तमो मोहो महामोहो तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥ —वि० पु०

सहाऽणिमाद्यष्टकमष्टादशधेति, तद्विषयो द्वेषस्तामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति । "तथा भवत्यन्धतामिस्रः" । अभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः । तथेत्यनेनाष्टादशधेत्यनुषज्यते । देवाः खल्वणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दश शब्दादीन् भुञ्जानाः 'शब्दादयो भोग्यास्तदुपायाश्चाणिमादयोऽस्माकमसुरादिभिर्मोपघानिषत' इति बिभ्यति । तदिदं भयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति । सोऽयं पञ्चविधविकल्पो विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिरिति ॥

अर्थ—तमस् अर्थात् अविद्या के आठ प्रकार होते हैं । आत्म-भिन्न प्रकृति, महत्, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्रों में आत्म-भावना 'अविद्या' या 'तमस्' है । अपने विषयों के अष्टविध होने के कारण यह अविद्या स्वयं आठ प्रकार[१] की है । "मोहस्य च"—यहाँ 'च' पद के द्वारा अष्टविध भेद का 'मोह' के भी साथ अन्वय या सम्बन्ध प्राप्त होता है । देवता आठ प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करके अपने अमरत्व का अभिमान करते हुए इन अणिमा इत्यादि ऐश्वर्यों को नित्य मानते हैं । यही 'अस्मिता' 'मोह' है । यह स्व-विषय-भूत ऐश्वर्य के अष्टविध होने के कारण स्वयं भी आठ प्रकार का है । 'महामोह दस प्रकार का होता है' । दिव्य और लौकिक (पार्थिव) रूप से दशविध शब्द, स्पर्श आदि पाँचों रागोत्पादक विषयों में राग या आसक्ति 'महामोह' है । यह अपने विषय के दश-विध होने के कारण स्वयं भी दस प्रकार का है । द्वेष को 'तामिस्र' कहते हैं, जो अठारह प्रकार का है । शब्द इत्यादि दश-विध विषय स्वरूप से ही रागोत्पादक (आसक्ति-कारक) हैं । अणिमा इत्यादि ऐश्वर्य तो स्वरूप से रागोत्पादक नहीं[२] किन्तु रागोत्पादक शब्द इत्यादि के उपाय हैं । ये शब्द[३] इत्यादि भोग्य रूप में उपस्थित होने पर एक-

---

१—अत्र यद्यपि पञ्चमहाभूतेष्वप्यनात्मसु आत्मबुद्धेः अविद्यात्वात् तस्य त्रयोदशविधत्वं वक्तुमुचित, न त्वष्टविधत्वं, तथापि मुमुक्षूणां हेयोपदेयानामिह निरूपणीयत्वेन पञ्चमहाभूतात्मकेषु शरीरादिषु आत्मत्वाभिमानिनां मुमुक्षुत्वासम्भवात् अष्टविधानामेवात्र परिगणनं कृतम् । —सुषमा, पृ० १५६

२—अणिमादिषु तु साक्षादासक्तिविषयता न ह्यणिमाद्यर्थं, किन्तु शब्दाद्यर्थमणिमादयः सेव्यन्ते इति तेषां न स्वरूपतो रञ्जनीयत्वं, किन्तु परम्परया ॥ —विद्वत्तो०, पृ० २६२

३—ते च उपस्थिताः स्वभोग्यतया समासादिताः शब्दादयः, परस्परेण देवैरन्योन्येन, उपहन्यमानाः नाश्यमानाः··· ···शत्रुवत् कोपनीया भवन्ति । एवमणिमादयोऽपि देवैः परस्परमधिकाधिकसामर्थ्यैरभिभूयमानाः सन्तः स्वरूपेणाऽपि कोपनीया द्वेषविषया भवन्ति । —किरणावली, पृ० ३४६

दूसरे से उपहत होने के कारण, और उनके उपायभूत अणिमा इत्यादि तो स्वरूप से ही, अनिष्टकारी होते हैं। इस प्रकार दस शब्द आदि विषयों के साथ अणिमा इत्यादि आठ ऐश्वर्य मिल कर अठारह हो जाते हैं। इनमें होने वाला द्वेष 'तामिस्र' है। अपने विषय के अठारह प्रकार का होने से यह स्वयं भी अठारह प्रकार का है। 'अन्धतामिस्र' भी उसी प्रकार का होता है। अभिनिवेश अर्थात् भय अन्धतामिस्र कहलाता है। 'तथा' पद से इस के 'अष्टादशधा' अर्थात् अठारह प्रकार के होने की प्राप्ति होती है। देवता अणिमा इत्यादि आठों ऐश्वर्यों को प्राप्त कर (उनके द्वारा प्राप्त हुए) शब्दादि विषयों का भोग करते हुए डरते रहते हैं कि हमारे शब्द इत्यादि भोग तथा उनके अणिमा आदि उपाय असुरों द्वारा विनष्ट न कर दिए जायँ। यही भय अभिनिवेश है, जो 'अन्धतामिस्र' कहलाता है और अपने विषय के अठारह प्रकार का होने से स्वयं भी अठारह प्रकार का होता है। इस प्रकार यह पाँच प्रकार का 'विपर्यय' सूक्ष्म भेदों के कारण बासठ प्रकार का होता है॥

तदेवं पञ्चविपर्ययभेदानुक्त्वाऽष्टाविंशतिभेदामशक्तिमाह—"एकादश" इति।

अर्थ—इस प्रकार विपर्यय के पाँचों भेदों का कथन करके अब 'एकादशेन्द्रियवधः' इत्यादि कारिका द्वारा 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद कहते हैं :—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्।

अर्थ—बुद्धि के अपने अर्थात् स्वरूप-गत उपघातों के साथ ग्यारह इन्द्रियों के उपघात (अर्थात् ग्यारह इन्द्रियों के उपघातों से उत्पन्न बुद्धि के उपघात) अशक्ति कहलाते हैं। बुद्धि के अपने उपघात नव 'तुष्टि' और अष्ट 'सिद्धि' के विपर्यय से सत्तरह होते हैं॥ ४६॥

इन्द्रियवधस्य ग्रहो बुद्धिवधहेतुत्वेन, न त्वशक्तिभेदपूरणत्वेन। एकादशेन्द्रियवधाः—'बाधिर्यं कुण्ठिताऽन्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा। मूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैब्योदावर्तमन्दताः॥' यथासङ्ख्यं श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां वधाः। एतावत्येव तु तद्धेतुका बुद्धेरशक्तिः स्वव्यापारे भवति। तथा चैकादशहेतुकत्वादेकादशधा बुद्धेरशक्तिरुच्यते। हेतुहेतुमतोरभेदविवक्षया च सामानाधिकरण्यम्।

अर्थ—इन्द्रिय-वधों का ग्रहण इस कारण से किया गया है कि वे बुद्धि-वधों के हेतु हैं, न कि 'अशक्ति' के भेदों को पूर्ण करने के लिए अर्थात्

उनमें परिगणित होने के लिए। ग्यारह इन्द्रिय-वध बहरापन, कोढ़, अन्धापन, स्वादों का ज्ञान न होना, गन्ध का ज्ञान न होना, गूँगापन, हाथ का टूटा होना, लँगड़ापन, नपुंसकत्व, गुदा-दोष तथा मनःप्रमाद हैं। ये क्रमशः श्रवण, त्वक् इत्यादि इन्द्रियों के दोष हैं। अपने 'निश्चय' कार्य में इन इन्द्रिय-दोषों से उत्पन्न बुद्धि की अशक्ति भी उतनी ही होती है। इस प्रकार ग्यारह इन्द्रिय-दोषों से उत्पन्न होने के कारण बुद्धि की अशक्ति ग्यारह प्रकार की होती है। कारण-भूत इन्द्रिय-वध और उसके कार्य-भूत बुद्धि-वध का समानाधिकरण (अभिन्न) रूप में कथन कारण और कार्य में अभेद की कल्पना से है।

तदेवमिन्द्रियवधद्वारेण बुद्धेरशक्तिमुक्त्वा स्वरूपतोऽशक्तीराह—"सह बुद्धिवधैः" इति। कति बुद्धेः स्वरूपतो वधा इत्यत आह-"सप्तदश वधा बुद्धेः"। कुतः? "विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्।" तुष्टयो नवेति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणान्नवधा भवन्ति, एवं सिद्धयोऽष्टाविति तद्विपर्यया-स्तन्निरूपणादष्टौ भवन्तीति॥

अर्थ—इस प्रकार इन्द्रिय-दोषों के द्वारा उत्पन्न बुद्धि की अशक्ति बता कर उसकी साक्षात् अशक्तियाँ बताते हैं:—'बुद्धि-दोषों के साथ'। बुद्धि के स्वरूप-गत या साक्षात् दोष कितने हैं, इसे कहते हैं:—'बुद्धि के सत्तरह दोष हैं।' क्यों? 'तुष्टि और सिद्धियों के विपर्यय के कारण।' तुष्टियाँ नव प्रकार की होती हैं, इसलिए उनके विपर्यय अर्थात् अतुष्टियाँ भी तुष्टि-भेदों से निरूपित होने के कारण नव प्रकार की होती हैं। इसी प्रकार सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं, इसलिए उनके विपर्यय अर्थात् असिद्धियाँ भी सिद्धि-भेदों से निरूपित होने के कारण आठ होती हैं।

तुष्टिर्नवधेत्युक्तम्, ताः परिगणयति—'आध्यात्मिक्य' इति।

अर्थ—तुष्टि नव प्रकार की होती है, यह कहा जा चुका है। अब आध्यात्मिक्यश्चतस्रः' इत्यादि कारिका में उन्हें गिनाते हैं—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः॥५०॥

अर्थ—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार 'आध्यात्मिक' तथा विषयों से वैराग्य होने के कारण उत्पन्न पाँच 'बाह्य'—इस प्रकार नव तुष्टियाँ मानी गई हैं।

आध्यात्मिक्यः—'प्रकृतिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति' इति प्रतिपद्य, ततोऽस्य श्रवणमननादिना विवेकसाक्षात्काराय त्वसदुपदेशतुष्टो यो न

प्रयतते, तस्याऽऽध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयो भवन्ति, प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य यस्मात्तास्तुष्टयस्तस्मादाध्यात्मिक्यः। कास्ता इत्यत आह—"प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः", प्रकृत्यादिराख्या यासां तास्तथोक्ताः।

अर्थ—'प्रकृति से सर्वथा भिन्न (पृथक्) आत्मा है', ऐसा समझ कर (ज्ञान प्राप्त करके) भी जो व्यक्ति असद् उपदेश से सन्तुष्ट होकर आत्मा के श्रवण, मनन इत्यादि के द्वारा उसके विवेक-ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता, उसकी आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार प्रकार की होती हैं। प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में होने के कारण ये तुष्टियाँ 'आध्यात्मिक'—आत्मविषयक—कहलाती हैं। वे कौन सी हैं, यह कहते हैं :—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक। समास का विग्रह इस प्रकार होगा—'प्रकृति इत्यादि आख्यायें या संज्ञाएँ हैं जिनकी, वे।'

तत्र प्रकत्याख्या तुष्टिर्यथा कस्यचिदुपदेशे—'विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदस्तञ्च प्रकृतिरेव करोतीति कृतं तद्ध्यानाभ्यासेन तस्मादेवमेवाऽऽस्व वत्स'—इति। सेयमुपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या तुष्टिः प्रकृतौ, सा तुष्टिः प्रकृत्याख्या 'अम्भः' उच्यते।

अर्थ—इनमें 'प्रकृति' नामक तुष्टि यह है। जैसे किसी व्यक्ति के 'चूँकि विवेक-ज्ञान प्रकृति का ही परिणाम-विशेष है और उसे प्रकृति ही उत्पन्न करती है, इसलिए आत्मा के ध्यान का अभ्यास व्यर्थ है। अतः वत्स! इसी प्रकार (श्रवण, मनन इत्यादि से वियुक्त) रहो'—ऐसे उपदेश से शिष्य को प्रकृति-विषयक जो तुष्टि होती है, वही 'प्रकृति' नामक तुष्टि है जो 'अम्भः[1]' भी कहलाती है।

'या तु प्राकृत्यपि विवेकख्यातिर्न सा प्रकृतिमात्राद्भवति, मा भूत्सर्वस्य सर्वदा, तन्मात्रस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात्, प्रव्रज्यायास्तु सा भवति, तस्मात् प्रव्रज्यामुपाददीथाः, कृतं ते ध्यानाभ्यासेनाऽऽयुष्मन्'—इति उपदेशे या तुष्टिः, सोपादानाख्या 'सलिलम्' उच्यते।

अर्थ—'प्रकृति का परिणाम-विशेष होकर भी विवेक-ज्ञान केवल प्रकृति से नहीं होता, अन्यथा सब के प्रति प्रकृति के समान रूप से होने के कारण सभी को सर्वदा विवेक ज्ञान होने लगेगा। इसके विपरीत वह संन्यास से उत्पन्न होता है। इसलिए आयुष्मन्! संन्यास ही ग्रहण करो, तुम्हारा ध्यान का अभ्यास

१—तस्याश्च संसारमज्जनहेतुत्वात् 'अम्भ' इति नामान्तरम्।—विद्वत्तो०

व्यर्थ है'—ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'उपादन'[१] नामक तुष्टि है जो 'सलिल'[२] भी कहलाती है।

'प्रव्रज्याऽपि न सद्यो निर्वाणदेति सैव कालपरिपाकमपेक्ष्य सिद्धिन्ते विधास्यति, अलमुत्तप्ततया तव'—इति उपदेशे या तुष्टिः सा कालाख्या 'ओघः' उच्यते।

अर्थ—'संन्यास भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। वह कालान्तर में परिपक्व हो कर ही तुम्हें विवेक-ज्ञान देगा, तुम्हारे उद्विग्न होने से कोई लाभ नहीं'—ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'काल' नामक तुष्टि है जो 'ओघ'[३] भी कहलाती है।

'न प्रकृतेर्न कालान्नाऽप्युपादानाद्विवेकख्यातिः, अपि तु भाग्यादेव। अत एव मदालसापत्यान्यतिबालानि मातुरुपदेशादेव विवेकख्यातिमन्ति मुक्तानि बभूवुः, तस्माद्भाग्यमेव हेतुर्नाऽन्यत्'---इति उपदेशे या तुष्टिः, सा भाग्याख्या 'वृष्टिः' उच्यते।

अर्थ—'विवेक-ज्ञान न प्रकृति से, न काल से और न संन्यास-ग्रहण से ही, अपितु भाग्य से ही होता है। इसीलिए मदालसा की सन्तानें अत्यधिक बाल होने पर भी माता के उपदेश से ही विवेक-ज्ञान-युक्त होकर मुक्त हो गईं। इसलिए भाग्य ही हेतु है, अन्य कुछ नहीं'—ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'भाग्य' नामक तुष्टि है जो 'वृष्टि'[४] भी कहलाती है।

बाह्या दर्शयति। "बाह्याः" तुष्टयः "विषयोपरमात् पञ्च"। याः खल्वनात्मनः प्रकृतिमहदहङ्कारादीनात्मेत्यभिमन्यमानस्य वैराग्ये सति तुष्टयस्ता बाह्याः, आत्मज्ञानाभावे सत्यनात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तेरिति। ताश्च वैराग्ये सति तुष्टय इति वैराग्यहेतुपञ्चत्वाद्वैराग्याण्यपि पञ्च, तत्पञ्चत्वात् तुष्टयः पञ्चेति। उपरम्यतेऽनेनेत्युपरमो वैराग्यम्, विषयादुपरमो विषयोपरमः। विषयाः भोग्याः शब्दादयः पञ्च, उपरमा अपि पञ्च। तथा हि—अर्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चोपरमा भवन्ति।

१—उपादानाख्या---उप वृद्धावस्थायाः समीपे आदीयते गृह्यते यः धर्मः प्रव्रज्या, तदाख्या तुष्टिरिति। —किरणावली

२—तस्याश्च सलिलापराख्यत्वं संसरणनिमित्तत्वात्; 'सलिलं' सृधातोरिरन्प्रत्यये सरिरमिति जाते रलयोरभेदाद् भवति। —विद्वत्तो०

३—'उहिर्' अर्दने, कालप्रतीक्षाया उत्तापकत्वात् अर्दकत्वात् 'ओघ' इति।—किरणावली

४—सा वृष्टिवदनियतत्वाद् वृष्ट्यपराख्या। —विद्वत्तो०

वर्णत्यकस्माद्विवेकख्यातिं यत् तत् 'वृष्टिः' भाग्यमिति उच्यते। —किरणावली

अथ—बाह्य तुष्टियाँ दिखलाते हैं :—विषयों से वैराग्य होने के कारण (उत्पन्न) बाह्य तुष्टियाँ पाँच है। आत्म-भिन्न प्रकृति, महत्, अहङ्कार इत्यादि को आत्मा समझते हुए पुरुष को (शब्दादि विषयों से) वैराग्य होने पर जो तुष्टियाँ होती हैं, वे आत्म-ज्ञान न होने से आत्म-भिन्न प्रकृति इत्यादि बाह्य पदार्थों के विषय में होने के कारण 'बाह्य' हैं। चूँकि वैराग्य उत्पन्न होने पर ही ये तुष्टियाँ उत्पन्न होती हैं और वैराग्य पाँच कारणों से उत्पन्न होने से पाँच प्रकार का होता है, अतएव वैराग्य के पञ्चविध होने से तुष्टियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं। जिसके द्वारा (विषयोपभोग से) उपरत या निवृत्त हुआ जाय, वह 'उपरम' अर्थात् वैराग्य है और विषय से उपरम 'विषयोपरम' हुआ। 'विषय' अर्थात् भोग्य शब्द इत्यादि पाँच हैं और उन के प्रति 'उपरम' (वैराग्य) भी उत्पादन, संरक्षण, विनाश, भोग और हिंसा—इन पाँच दोषों के दर्शन से उत्पन्न होने के कारण पाँच होते हैं।

तथा हि—सेवादयो धनार्जनोपायाः, ते च सेवकादीन् दुःखाकुर्वन्ति "दृप्यद्दुरीश्वरद्वाःस्थदण्डिचण्डार्धचन्द्रजाम्। वेदनां भावयन् प्राज्ञः कः सेवास्वनुषज्जते"। एवमन्येष्वर्जनोपायाः दुःखा इति। विषयोपरमे या तुष्टिः सैषा पारमुच्यते।

अर्थ—वह इस प्रकारः—धनोपार्जन के सेवा इत्यादि उपाय सेवकों को बड़ा दुःख देते हैं, जैसा कहा गया है कि "दर्पयुक्त दुष्ट स्वामी के द्वार पर स्थित पहरेदारों के असह्य गल-प्रहार (गर्दनी) से उत्पन्न पीड़ा की भावना करता हुआ कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवा में प्रवृत्त होगा।" इसी प्रकार धनोपार्जन के अन्य (वाणिज्य इत्यादि) उपाय भी दुःखद होते हैं। इन विचारों से विषयों से वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है, वह 'पार'[1] कहलाती है।

तथार्जितं धनं राजैकागारिकाग्निजलौघादिभ्यो विनङ्क्ष्यतीति तद्रक्षणे महद्दुःखमिति भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा द्वितीया सुपारमुच्यते।

अर्थ—इसी प्रकार 'राजा, चोर, अग्नि और बाढ़ इत्यादि से उपार्जित धन नष्ट हो जाएगा, इस कारण उसके रक्षण में महान् कष्ट है' - ऐसा विचार करते हुए पुरुष को विषयों से वैराग्य होने पर जो दूसरी तुष्टि होती है, वह 'सुपार'[2] कहलाती है।

१—यतो धनार्जनदुःखस्य पारं प्रापयित्री सा, अतः पाराख्येति। —किरणावली

२—अर्जनदोषदर्शनेऽपि कदाचिद्भोगाभिलाषया विषयेषु प्रवृत्तिः स्यात्, रक्षणभयात्तस्य

तथा 'महताऽऽयासेनार्जितं धनं भुज्यमानं क्षीयते' इति तत्प्रत्यय भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा तृतीया 'परापारम्' उच्यते।

अर्थ—इसी प्रकार 'महा कष्ट से उपार्जित धन भोग करने से नष्ट हो जायगा'—इत्यादि धन-विनाश की भावना करते हुए पुरुष को विषयों से वैराग्य होने पर जो तीसरी तुष्टि होती है, वह 'पारापार'[1] कहलाती है।

एवं 'शब्दादिभोगाभ्यासात् प्रवर्धन्ते कामाः, ते च विषयाप्राप्तौ कामिनं दुःखाकुर्वन्ति, इति भोगदोषं भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा चतुर्थी 'अनुत्तमाम्भः' उच्यते।

अर्थ—इसी प्रकार 'शब्द इत्यादि विषयों के बार-बार भोग से वासनाएँ बढ़ती हैं और वे स्व-विषयों के न प्राप्त होने पर कामी पुरुष को कष्ट देती हैं'—इत्यादि उपभोग-गत दोष का विचार करते हुए पुरुष को विषयों से वैराग्य होने पर जो चौथी तुष्टि होती है, वह 'अनुत्तमाम्भ'[2] कहलाती है।

एवं 'नाऽनुपहत्य भूतानि विषयोपभोगः संभवति' इति हिंसादोषदर्शनाद्विषयोपरमे या तुष्टिः सा पञ्चमी 'उत्तमाम्भः' उच्यते।

अर्थ—इसी प्रकार 'भूत-हिंसा विना विषयों का उपभोग नहीं हो सकता'—इत्यादि हिंसा-दोष देखने से विषयों से वैराग्य होने पर जो पाँचवीं तुष्टि होती है, वह 'उत्तमाम्भ'[3] कहलाती है॥

एवमाध्यात्मिकीभिश्चतसृभिः, बाह्याभिश्च पञ्चभिः 'नव तुष्टयोऽभिमताः'॥५०॥

अर्थ—इस प्रकार चार आध्यात्मिक तथा पाँच बाह्य भेदों से तुष्टियाँ नव प्रकार की मानी गई हैं।

तु प्रवृत्तेरतितरामसंभव इत्यभिप्रायात् अतितरां दुःखपारं प्रापयितृत्वात् 'सुपारा' उच्यते।
—किरणावली

१—चयं भाववतः विषयेषु कदाचित् प्रवृत्तिः कदाचिद् अप्रवृत्तिः, यदा प्रवृत्तिस्तदा दुःखस्य पारः अन्यथाऽपार इति 'पारापार'-नाम्नी उक्ता।
—किरणावली

२—विषयेभ्यः पुरुषं जलवद् द्रवन्त्यपि उत्तमतया न द्रवन्ती इति 'न उत्तमा द्राविका' इति 'अनुत्तमाम्भः' इत्युच्यते।
—किरणावली

३—हिंसादोषस्य कारुण्योत्पादकत्वात् उत्तमस्य आर्द्रीभावस्य लाभात् 'उत्तमाम्भः' इत्युच्यते।
—किरणावली

गौणमुख्यभेदैः सिद्धीराह—

अर्थ—अब अप्रधान तथा प्रधान भेदों के सहित सिद्धियाँ कहते हैं :—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेःपूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

अर्थ—तर्क (मनन), शब्द (अर्थात् तज्जनित अर्थ-ज्ञान), अध्ययन, त्रिविध दुःख -विनाश, सुहृत्प्राप्ति (अर्थात गुरु, शिष्य तथा सतीर्थ्यों के साथ विवाद), तथा 'दान' अर्थात विवेक-शुद्धि—ये आठ सिद्धियाँ हैं । पूर्वागत तीनों —विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि —'सिद्धि' की विरोधनी हैं ।

"ऊहः" इति । विहन्यमानस्य दुःखस्य त्रित्वात्ताद्विघातास्त्रय इतीमा मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः, तदुपायतया त्वितरा गौण्यः पञ्च सिद्धयः, ता अपि हेतुहेतुमत्तया व्यवस्थिताः । तत्राऽऽद्याऽध्ययनलक्षणा सिद्धिर्हेतुरेव । मुख्यास्तु सिद्धयो हेतुमत्य एव । मध्यमास्तु हेतुहेतुमत्यः । विधिवत् गुरुमुखादध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं प्रथमा सिद्धिस्तारमुच्यते ।

अर्थ—विनष्ट किए जाते हुए दुःख के त्रिविध होने के कारण उस (त्रिविध दुःख) के विनाश भी तीन हुए । यही तीन मुख्य सिद्धियाँ हैं, अन्य पाँचों सिद्धियाँ इनके उपाय होने के कारण गौण हैं । ये पाँचों भी कारण और कार्य रूप से व्यवस्थित हैं । आठों में प्रथम 'अध्ययन' नामक सिद्धि केवल कारण है, तीनों मुख्य सिद्धियाँ केवल कार्य हैं और बीच वाली कारण और कार्य दोनों हैं । शास्त्रविधि-पूर्वक गुरु-मुख से अध्यात्म-विद्या के पारायण का श्रवण 'अध्ययन' नामक प्रथम सिद्धि है जो (संसार-तरण का प्रथम हेतु होने के कारण) 'तार' कहलाती है ।

तत्कार्यम्—'शब्दः'; 'शब्दः' इति पदं शब्दजनितमर्थज्ञानमुपलक्षयति; कार्ये कारणोपचारात् । सा द्वितीया सिद्धिः 'सुतारम्' उच्यते । पाठार्थाभ्यां तदिदं द्विधा श्रवणम् ।

अर्थ—उसका कार्य 'शब्द' है । कार्य में कारण के आरोप द्वारा 'शब्द' पद से शब्दोत्पन्न अर्थ-ज्ञान सूचित होता है । वह दूसरी सिद्धि है जो (सुख-पूर्वक या सरलतया संसार-तारक होने से कारण) 'सुतार' कहलाती है । इस प्रकार पारायण तथा अर्थ रूप से दो प्रकार का श्रवण हुआ ।

"ऊहः" ? तर्कः आगमाविरोधिन्यायेनाऽऽगमार्थपरीक्षणम् । परीक्षणञ्च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनम् । तदिदं मननमाचक्षते आगमिनः । सा तृतीया सिद्धिः 'तारतारम्' उच्यते ।

अर्थ—तर्क अर्थात् शास्त्रानुकूल युक्तियों से शास्त्रोक्त विषय की परीक्षा ऊह' है और यह परीक्षा सन्दिग्ध पूर्व-पक्ष के परित्याग द्वारा उत्तर-पक्ष या सिद्धान्त की स्थापना है । इसे ही शास्त्रज्ञ 'मनन' कहते हैं । यह तीसरी सिद्धि ('अध्ययन' और 'शब्द' की अपेक्षा अधिक तारक होने से) 'तारतार' कहलाती है ।

स्वोत्प्रेक्षितं मननममननमेवासुहृत्सम्मतमिति द्वितीयं मननमाह—"सुहृत्प्राप्तिः" । न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धत्ते, न यावद् गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिः सह संवाद्यते । अतः सुहृदां गुरुशिष्यसब्रह्मचारिणां संवादकानां प्राप्तिः 'सुहृत्प्राप्तिः' । सा सिद्धिश्चतुर्थी 'रम्यकम्' उच्यते ।

अर्थ—स्वयं किया गया और सुहृदों के द्वारा असम्मत मनन सम्यक् मनन है ही नहीं, इसलिए द्वितीय मनन कहते हैं—'सुहृत्प्राप्ति' । साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा किए हुए शास्त्रार्थ या सिद्धान्त में तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक कि गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ संवाद नहीं कर लेता । इसलिए सुहृदों अर्थात् गुरु, शिष्य तथा सहाध्यायियों का संवाद[1] प्राप्त होना 'सुहृत्प्राप्ति' है । यही चौथी सिद्धि (शास्त्रार्थ-संवाद के रमणीय होने कारण) 'रम्यक' कहलाती है ।

"दानं" च शुद्धिर्विवेकज्ञानस्य, 'दैप् शोधने" (सि० कौ० ६ । ४ । ६८) इत्यस्माद्धातोर्दानपदव्युत्पत्तेः । यथाह भगवान् पतञ्जलिः—विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' इति (योगसूत्रम् २ । २६) । 'अविप्लवः' शुद्धिः, सा च सवासनसंशयविपर्यासानां परिहारेण विवेकसाक्षात्कारस्य स्वच्छप्रवाहेऽवस्थापनम् । सा च न विनाऽऽदरनैरन्तर्य दीर्घकालसेविताभ्यासपरिपाकाद्भवतीति 'दानेन' विवेकख्यात्या कार्येण सोऽपि सङ्गृहीतः । सेयं पञ्चमी सिद्धिः 'सदामुदितम्'उच्यते ॥

अर्थ—और 'दान' पद की निष्पत्ति 'शोधन' अर्थ वाली दैप् धातु से होने के कारण उसका अर्थ 'विवेक-ज्ञान की शुद्धि' है, जैसा कि भगवान् पतञ्जलि

१ समानो वादः संवादः स्वानुकूलकथनं स्वासमर्थनम् इत्यर्थः ।

ने कहा है :—'शुद्ध विवेक-ज्ञान दुःख-त्रय के विनाश का उपाय है' (यो० सू० २।२६)। 'अविप्लव' का अर्थ है—'शुद्धि', और यह 'शुद्धि' है—सन्दिग्ध और विपरीत ज्ञान तथा उनके संस्कारों का परिहार होने पर विमल (अर्थात् संशय, विपर्यय इत्यादि मलों से रहित) हुए चित्तवृत्ति-प्रवाह में विवेक-ज्ञान की अवस्थापना। ऐसी 'शुद्धि' निष्ठापूर्वक निरन्तर दीर्घ काल तक अनुष्ठान किए गए ज्ञानाभ्यास के परिपाक (परिणति) के विना नहीं होती। इसलिए 'दान'—अर्थात ज्ञानाभ्यास से उत्पन्न शुद्ध विवेकख्याति—में वह (अभ्यास) भी अन्तर्भूत है। यह पाँचवीं सिद्धि (सार्वकालिक आनन्द का हेतु होने के कारण) 'सदामुदित' कहलाती है।

तिस्रश्च मुख्याः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमाना इत्यष्टौ सिद्धयः।

अर्थ—दुःखत्रय-विनाश स्वरूप तीनों मुख्य सिद्धियाँ प्रमोद,[1] मुदित[2] और मोदमान[3] कहलाती हैं। इस प्रकार कुल आठ सिद्धियाँ हुईं।

अन्ये व्याचक्षते—विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात्तत्त्वस्य स्वयमूहनं यत्, सा सिद्धिरूहः। यस्य साङ्ख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दः, शब्दपाठादनन्तरं भावात्। यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन साङ्ख्यशास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते साऽध्ययनहेतुका सिद्धिरध्ययनम्। सुहृत्प्राप्तिरिति—यस्याधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते, सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य सुहृत्प्राप्तिः; दानञ्च सिद्धिहेतुः, धनादिदानेनाऽऽराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति। अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतं परदोषोद्भावनेन नः सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानामिति॥

अर्थ—दूसरे लोग प्रस्तुत कारिका का व्याख्यान इस प्रकार करते हैं:—गुरूपदेश के विना ही पूर्व जन्म के अभ्यास से स्वयं तत्त्वज्ञान हो जाना 'ऊह' नामक सिद्धि है। सांख्य शास्त्र का दूसरे के द्वारा किया गया पारायण सुनने से तत्त्वज्ञान होना 'शब्द' नामक सिद्धि है क्योंकि यह सिद्धि शब्द-पाठ अर्थात्

१—तत्र षष्ठ्याः आध्यात्मिकदुःखाभावात्मकसिद्धेः प्रकर्षेणानन्दप्रदत्वात् 'प्रमोदः' इति संज्ञा।
—किरणावली

२—आधिभौतिकदुःखाभावात्मिकायाः सप्तम्याः अपि क्वचित् मोदकत्वात् 'मुदित' इति संज्ञा।
—किरणावली

३—आधिदैविकदुःखाभावात्मिकायाः अष्टम्याः अपि कथंचित् मोदकत्वात् मोदमान इति संज्ञा।
—किरणावली

पारायण के अनन्तर होती है। शिष्य होकर आचार्य से पारायण और अर्थ दोनों प्रकार से सांख्य शास्त्र का अध्ययन करके जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अध्ययन से उत्पन्न होने के कारण 'अध्ययन' नामक सिद्धि है। तत्त्व-साक्षात्कार किए हुए सुहृद् से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह 'सुहृत्प्राप्ति' नामक ज्ञान-रूप सिद्धि है। 'दान' सिद्धि का कारण है क्योंकि धन इत्यादि के दान द्वारा सत्कृत ज्ञानी पुरुष ज्ञान देता है, (अतएव कारण और कार्य में अभेद आरोप करके 'दान' को सिद्धि कहा गया है)। इस व्याख्यान की युक्तता और अयुक्तता विद्वज्जन ही समझें, सिद्धान्त-मात्र के व्याख्यान में प्रवृत्त हुए हमें दूसरों के दोष-कथन से क्या प्रयोजन ?

"सिद्धितुष्टिविपर्ययेणाऽशक्तिर्बुद्धिवधस्सप्तदशधा द्रष्टव्यः। अत्र प्रत्ययसर्गे सिद्धिरुपादेयेति प्रसिद्धमेव। तन्निवारणहेतवस्तु विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्याह—'सिद्धेःपूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः" इति।"पूर्वः" इति विपर्ययाशक्तितुष्टीः परामृशति। ताः सिद्धिकरिणीनामङ्कुशः निवारकत्वात्, अतः सिद्धिपरिपन्थित्वात् विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्यर्थः॥

अर्थ—इस प्रकार (अष्ट-विध) सिद्धि और (नवधा) तुष्टि के विपर्यय से होने वाली 'अशक्ति' अर्थात् बुद्धि के उपघात सत्तरह होते हैं। बुद्धि के इन चतुर्विध परिणामों में 'सिद्धि' ही ग्राह्य है—यह तो सिद्ध ही है। इस 'सिद्धि' के विघातक होने के कारण विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि त्याज्य हैं। इस बात को "पूर्वागत तीनों सिद्धि की विरोधिनी हैं"—इन शब्दों द्वारा कहा है। 'पूर्व' शब्द से विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि का ग्रहण किया है। ये तीनों ही 'सिद्धि' रूपी करिणियों के मार्ग में बाधक होने से उनके अंकुश हैं। इसलिए सिद्धियों के बाधक या विघातक होने से विपर्यय, अशक्ति और तुष्टियाँ त्याज्य हैं—यह तात्पर्य हुआ।

स्यादेतत्, पुरुषार्थप्रयुक्ता सृष्टिः, स च पुरुषार्थःप्रत्ययसर्गाद्वा तन्मात्रसर्गाद्वा सिध्यतीति कृतमुभयसर्गेणेत्यत आह—"न विना" इति।

अर्थ—यह सब ठीक है, परन्तु पहले कहा जा चुका है कि पुरुषार्थ के लिए ही सृष्टि होती है और यह पुरुषार्थ केवल बुद्धि के परिणाम अथवा तन्मात्र के परिणाम से सिद्ध हो जाएगा, फिर द्विविध परिणाम किस लिए कहा गया ? इसका उत्तर 'न विना भावैः' इत्यादि अगली कारिका द्वारा देते हैं—

न विना भावैर्लिङ्गं, न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥५२॥

अर्थ—बौद्धिक परिणाम के विना न तन्मात्र-परिणाम सम्भव है और न तन्मात्र-परिणाम के विना बौद्धिक परिणाम ही । इसलिए तन्मात्र-परिणाम और बौद्धिक परिणाम—दोनों ही होते हैं ।

"लिङ्गम् इति तन्मात्रसर्गमुपलक्षयति, "भावैः" इति च प्रत्यय-सर्गम् । एतदुक्तं भवति—तन्मात्रसर्गस्य पुरुषार्थसाधनत्वं स्वरूपञ्च न प्रत्ययसर्गाद्विना भवति । एवं प्रत्ययसर्गस्य स्वरूपं पुरुषार्थसाधनत्वञ्च तन्मात्रसर्गादृतें इत्युभयथा सर्गप्रवृत्तिः, भोगः पुरुषार्थो न भोग्यान् शब्दादीन् भोगायतनं शरीरद्वयञ्चाऽन्तरेण सम्भवतीत्युपपन्नस्तन्मात्र-सर्गः । एवं स एव भोगो भोगसाधनानीन्द्रियाण्यन्तःकरणानि चाऽन्तरेण न सम्भवति । न च तानि धर्मादीन् भावान् विना सम्भवन्ति । न चाऽप-वर्गहेतुर्विवेकख्यातिरुभयसर्गं विना, इत्युपपन्न उभयविधः सर्गः ॥

अर्थ—'लिङ्गम्' पद से यहाँ तन्मात्र-परिणाम और 'भावैः' से बुद्धि-परिणाम अभिलक्षित है । कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि-परिणाम के विना तन्मात्र-परिणाम न तो स्वरूपतः ही सिद्ध होगा और न पुरुषार्थ में साधन ही बनेगा । इसी प्रकार तन्मात्र-परिणाम के विना बुद्धि-परिणाम भी न स्वरूपतः ही सिद्ध होगा और न पुरुषार्थ में साधन ही बनेगा । इसलिए दोनों प्रकार की सृष्टि या परिणाम होते हैं । 'भोग' नामक पुरुषार्थ शब्द इत्यादि भोग्य विषयों तथा द्विविध (स्थूल और सूक्ष्म) शरीर रूप भोगायतनों के विना असम्भव है । इसलिए तन्मात्र-परिणाम अपेक्षित है । इसी प्रकार पूर्वोक्त 'भोग' स्वसाधन-भूत इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों के विना भी असम्भव है और ये करण भी धर्मादि भावों के विना असम्भव हैं । अपवर्ग नामक द्वितीय पुरुषार्थ का साधन-भूत विवेक-ज्ञान भी द्विविध सर्ग के विना नहीं हो सकता (अर्थात विवेक-ज्ञान से प्रकट होने वाला अपवर्ग भी दोनों सर्गों के विना नहीं होगा क्योंकि विवेक-ज्ञान के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन आवश्यक हैं और ये बुद्धि, मन आदि तथा स्थूल शरीर इत्यादि के विना असम्भव हैं) । इस प्रकार दोनों ही परिणाम (सर्ग) अपेक्षित हैं ।

अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रयदोषमावहति । कल्पादावपि प्राचीनकल्पोत्पन्नभावलिङ्गसंस्कारवशाद्भावलिङ्गयोरुत्पत्तिर्नानुपपन्नेति सर्व-मवदातम् ॥

अर्थ—भाव और लिङ्ग की यह सृष्टि अनादि होने के कारण बीज और अंकुर की उत्पत्ति के समान ही अन्योन्याश्रय दोष से अदूषित है। इस कल्प के आरम्भ में भी इससे भी पूर्व कल्प में उत्पन्न भाव और लिङ्ग के सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहने के कारण होने वाली भाव और लिङ्ग की उत्पत्ति असङ्गत नहीं कही जा सकती। इस प्रकार सारा शास्त्रार्थ स्पष्ट है।

विभक्तः प्रत्ययसर्गः[1]। भूतादिसर्गं विभजते—

अर्थ—बुद्धि-परिणाम (धर्म, ज्ञान आदि आठ) का विभाग हो चुका। अब तन्मात्र-परिणाम का विभाजन करते हैं :—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥

अर्थ—देव-सृष्टि आठ, तिर्यक् सृष्टि पाँच, तथा मनुष्य-सृष्टि एक प्रकार की होती है। यही संक्षेप में भौतिक सृष्टि है।

"अष्टविकल्प" इति। ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाचः इत्यष्टविधो "दैवः" सर्गः। "तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति," पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः इति। "मानुषकश्चैकविधः" इति ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षया, संस्थानस्य चतुर्ष्वपि वर्णेष्वविशेषात् इति। "समासतः" सङ्क्षेपतः "भौतिकः सर्गः"। घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एवेति॥

अर्थ—ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच—यह आठ प्रकार की देवों की सृष्टि है। तिर्यक् सृष्टि पशु, पक्षी, मृग[2], सर्पादि तथा तरु, गुल्म आदि स्थावर रूप से पाँच प्रकार की होती है। चारों वर्णों में आकार के समान होने के कारण ब्राह्मण इत्यादि विभिन्न जातियों की पृथक् गणना न करने से मनुष्य-सृष्टि एक प्रकार की कही गई है। यही

१—प्रत्ययस्य बुद्धेः सर्गः धर्मादयोऽष्टावुक्ताः परिणामाः,—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणाताः भावसर्गाख्याः अवान्तरभेदेनापि विभक्ताः। —किरणावली

२—(i) यद्यपि पशुपदस्य लोमवल्लाङ्गूलवान् एवार्थः इति मृगपदं व्यर्थमुक्तविभागश्चानुपपन्नस्तथापि पशुपदमुक्तचतुष्टयभिन्नतिर्यग्योनिपरमिति न विभागव्याघातः। —सुषमा

(ii)—पशवः सखुराश्चतुष्पदा गवाश्वादयः, मृगा अखुरा विविधपदा मूषकखिलहरीप्रभृतयः।

संक्षेप में भौतिक सृष्टि है। घट इत्यादि शरीर न होने पर भी स्थावर के अन्तर्गत ही हैं (अर्थात् 'स्थावर' पद से यहाँ स्थावर शरीर का ही ग्रहण नहीं, अपितु स्थावर-मात्र का ग्रहण होता है) ॥

भौतिकस्याऽस्य सर्गस्य चैतन्योत्कर्षनिकर्षतारतम्याभ्यामूर्ध्वाधोमध्यभावेन त्रैविध्यमाह—"ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः" इति।

अर्थ—चैतन्य के आधिक्य और न्यूनत्व के कारण ऊर्ध्व, अधः और मध्यम लोकों में जन्म होने से इस भौतिक सृष्टि की त्रिविधता 'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः' इत्यादि अगली कारिका में बताते हैं—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

अर्थ—ऊर्ध्व-लोकों में सत्त्व-प्रधान, अधो-लोकों में तमः-प्रधान तथा मध्य-लोक में रजः-प्रधान सृष्टि होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणादि-पर्यन्त सृष्टि है।

द्युप्रभृतिसत्यान्तो लोकः सत्त्वबहुलः। "तमोविशालश्च मूलतः सर्गः" पश्वादिस्थावरान्तः, सोऽयं मोहमयत्वात्तामोबहुलः। भूर्लोकस्तु सप्तद्वीपसमुद्रसन्निवेशो "मध्ये रजोविशालः", धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च। तामिमां लोकसंस्थितिं सङ्क्षिपति "ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः," स्तम्बग्रहणेन वृक्षादयः सङ्गृहीताः ॥

अर्थ—'भुवः'[1] लोक से लेकर सत्यलोक तक के (अर्थात् भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्) लोक सत्त्व-प्रधान होते हैं। पशुओं से लेकर वृक्ष आदि स्थावरों तक की निम्न सृष्टि तमः-प्रधान होती है। यह सृष्टि मोह-प्रधान होने से तमः-प्रधान मानी जाती है। सात द्वीपों और समुद्रों वाला मध्य-स्थित यह भूलोक धर्म,अधर्म आदि कर्मों में तत्पर होने तथा दुःखमय होने से रजः-प्रधान जाना जाता है। पूर्वोक्त इस समस्त लोक-स्थिति को—'ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (तृण-विशेष) पर्यन्त'—इतने में ही संक्षेपतः कह दिया है। 'स्तम्ब' के ग्रहण से वृक्ष आदि का भी ग्रहण किया गया है।

१—द्यौः अन्तरिक्षं भूसमीपे भुवर्लोकः, तदारभ्य भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यलोकपर्यन्तः।
—किरणावली

तदेवं सर्गं दर्शयित्वा तस्याऽपवर्गसाधनवैराग्योपयोगिनीं दुःखहेतुतामाह—'तत्र' इति।

अर्थ—इस प्रकार सृष्टि बता कर 'तत्र जरामरणकृतम्' इत्यादि अगली कारिका में इसे समस्त दुःखों का कारण बताते हैं, जिसका ज्ञान मोक्ष के साधन-भूत वैराग्य में बड़ा सहायक होता है।—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

अर्थ—वहाँ लिङ्ग का पुरुष से भेद न गृहीत होने के कारण (अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि लिङ्ग के विनाश न होने तक) चेतन पुरुष जरा-मरण से उत्पन्न दुःख भोगता है। इस प्रकार स्वभाव से[1] ही दुःख होता है।

'तत्र' शरीरादौ। यद्यपि विविधविचित्रानन्दभोगभागिनः प्राणभृद्भेदाः, तथाऽपि सर्वेषां जरामरणकृतं दुःखमविशिष्टम्। सर्वस्य खलु कृमेरपि मरणत्रासो—'मा न भूवम्' 'भूयासम्' इत्येवमात्मकोऽस्ति। दुःखं च भयहेतुरिति दुःखं मरणम्।

अर्थ—'तत्र' अर्थात् शरीर इत्यादि में। यद्यपि प्राणियों के शरीर विचित्र सुख-भोग भोगने वाले होने से विविध हैं तथापि जरा और मरण से उत्पन्न दुःख सभी को समान रूप से होता है। 'मैं न रहूँ, ऐसा कभी न हो, अपितु सदा रहूँ'—इस प्रकार मृत्यु भय सभी को, यहाँ तक कि कीड़े को भी रहता है और भय का कारण तो दुःख ही है, अतः मृत्यु दुःखद है।

स्यादेतत्; दुःखादयः प्राकृता बुद्धिगुणाः, तत्कथमेते चेतनसम्बन्धिनो भवन्तीत्यत आह—"पुरुषः" इति। पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः। लिङ्गं च तत्सम्बन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीत्यर्थः।

अर्थ—यह सब ठीक है, परन्तु दुःख आदि तो प्रकृति के होने से बुद्धि के गुण हैं। तब फिर ये सब चेतन पुरुष के कैसे हो सकते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पुरुष' शब्द का अर्थ ही है—'पुरि' अर्थात् लिङ्ग शरीर में रहने वाला और 'लिङ्ग' बुद्धि से सम्बद्ध है, अतः चेतन पुरुष भी बुद्धि और उसके दुःखादि गुणों से सम्बद्ध होता है।

१—तस्मात् लिङ्गशरीरस्य सम्बन्धात्, स्वभावेन स्वस्य आत्मनः भावः औपाधिकधर्मत्वेन, स्वाभाविकतया बुद्धिधर्मः दुःखमात्मनि बुद्धियोगेन भवतीत्यर्थः।—किरणावली

कुतः पुनर्लिङ्गसम्बन्धि दुःखं पुरुषस्य चेतनस्येत्यत आह—"लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेः"—पुरुषाद्भेदाग्रहाल्लिङ्गधर्मानात्मन्यध्यवस्यति पुरुषः। अथवा दुःखप्राप्ताववधिराङा कथ्यते, लिङ्गं यावन्न निवर्तते तावदिति॥

अर्थ—लिङ्ग शरीर से सम्बद्ध दुःख किस कारण से चेतन पुरुष का हो जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं—'लिङ्ग का भेद न करने से।' अर्थात् पुरुष लिङ्ग शरीर से अपना भेद न करने के कारण उसके धर्मों का अपने में आरोप कर लेता है। अथवा 'आविनिवृत्तेः' पद में आए हुए आङ् (आ) के द्वारा दुःख-भोग की अवधि बताई गई है कि जब तक लिङ्ग शरीर का विनाश नहीं होता, तब तक (दुःख का भोग होता रहता है)॥

उक्तस्य सर्गस्य कारणविप्रतिपत्तीर्निराकरोति—"इत्येष" इति।

अर्थ—अब सृष्टि के कारण के विषय में प्रचलित विभिन्न मतों का 'इत्येषः प्रकृतिकृतः' इत्यादि कारिका में निराकरण करते हैं—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

अर्थ—प्रकृति द्वारा प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए की गई, महत्तत्त्व से लेकर आकाश इत्यादि महाभूतों तक की यह सृष्टि अपने लिए की गई सी प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः दूसरे (अर्थात् पुरुष) के लिए ही है।

आरभ्यते इति "आरम्भः" सर्गः महदादिभूतान्तः प्रकृत्यैव कृतो, नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानः, नाप्यकारणः। अकारणत्वे ह्यत्यन्तभावोऽत्यन्ताभावो वा स्यात्। न ब्रह्मोपादानः, चितिशक्तेरपरिणामात्। नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः, निर्व्यापारस्याऽधिष्ठातृत्वासम्भवात्। नहि निर्व्यापारस्तक्षा वास्याद्यधितिष्ठति।

अर्थः—जो 'किया जाय', वह है 'आरम्भ' अर्थात् सर्ग या सृष्टि। महत् से लेकर आकाश इत्यादि भूतों तक सारी सृष्टि प्रकृति द्वारा ही की गई है, ईश्वर द्वारा नहीं; न तो यह ब्रह्म-रूप उपादान कारण का परिणाम है और न विना किसी कारण के ही है। यदि यह सृष्टि विना किसी कारण के ही मान ली जाय तो या तो यह नित्य होगी या कभी होगी ही नहीं (क्योंकि जो वस्तु अकारण या स्वतः होती है—किसी कारण से नहीं होती, वह या तो प्रकृति इत्यादि की भाँति नित्य होती है या फिर शश-शृङ्ग इत्यादि की भाँति वस्तुतः

कभी नहीं होती; पर सृष्टि के सम्बन्ध में ये दोनों ही सम्भावनायें घटित नहीं होतीं क्योंकि जगत् की उत्पत्ति और विनाश भी अनुभव-सिद्ध हैं और उसकी वास्तविक सत्ता भी। शश-शृङ्ग की भाँति सृष्ट जगत् का अपलाप कौन कर सकता है? इसलिए सृष्टि अकारण तो हो ही नहीं सकती, कोई कारण अवश्य होना चाहिए)। इसी प्रकार यह सृष्टि ब्रह्म-रूप उपादान कारण का परिणाम भी नहीं हो सकती क्योंकि वह (चित् ब्रह्म) परिणामी होता ही नहीं। न यह सृष्टि ईश्वर द्वारा अधिष्ठित प्रकृति की ही की हुई हो सकती है क्योंकि निष्क्रिय ब्रह्म अधिष्ठाता या प्रेरक हो ही नहीं सकता। निष्क्रिय रहता हुआ बढ़ई वसूले आदि का किसी कार्य में प्रयोग नहीं कर सकता।

विशेष—ऊपर काटे गए मत क्रमशः योग, वेदान्त तथा नास्तिक सम्प्रदायों के हैं। 'योग' सृष्टि में ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता या प्रेरक मानता है। 'वेदान्त' परमार्थतः तो सृष्टि, प्रलय कुछ भी नहीं मानता परन्तु व्यवहार में सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण दोनों ब्रह्म को ही मानता है। वह विशुद्ध-सत्त्व-प्रधान होकर 'निमित्त' तथा मलिन-सत्त्व-प्रधान होकर 'उपादान' बनता है। नास्तिक तो सृष्टि को स्वतः उद्भूत मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में न ब्रह्म ही है और न प्रकृति ही।

ननु प्रकृतिकृतश्चेत्, तस्या नित्यायाः प्रवृत्तिशीलाया अनुपरमात् सदैव सर्गः स्यादिति न कश्चिन्मुच्येतेत्यत आह—"प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः" इति। यथौदनकाम ओदनाय पाके प्रवृत्तः ओदनसिद्धौ निवर्तते, एवं प्रत्येकं पुरुषान् मोचयितुं प्रवृत्ता प्रकृतिर्यं पुरुषं मोचयति तं प्रति पुनर्न प्रवर्तते, तदिदमाह—'स्वार्थ इव,' स्वार्थे यथा तथा परार्थे आरम्भ इत्यर्थः॥

अर्थ—पर प्रश्न यह है कि यदि सृष्टि प्रकृति द्वारा ही उत्पन्न की गई है तो प्रकृति तो नित्य प्रवृत्तिशील (व्यापारवती) है, इसलिए उसका व्यापार कभी न रुकने से सृष्टि सदैव होती रहेगी और कोई कभी मुक्त ही न होगा। इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं :—"प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए ही यह सृष्टि है, जो अपने लिए प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः दूसरों के लिए ही की गई है।" जैसे पके चावल का इच्छुक व्यक्ति तदर्थ पाक-कर्म में प्रवृत्त होता है और उसकी सिद्धि हो जाने पर उस कर्म से निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष को बन्धन-मुक्त करने के लिए प्रवृत्त हुई प्रकृति जिस किसी पुरुष

को मुक्ति प्राप्त करा देती है, उसके विषय में फिर प्रवृत्त नहीं होती। इसी बात को 'स्वार्थ इव' द्वारा प्रकट किया है। अर्थात् दूसरे के लिए किया गया कर्म अपने लिए किए गए कर्म की भाँति ही (प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर) रुक जाता है।

विशेष—प्रस्तुत कारिका में आए हुए 'स्वार्थ इव परार्थे' पदों का जो अर्थ ऊपर तत्त्वकौमुदी की पंक्तियों में किया गया है, वह सम्भवतः उस शंका के समाधान के लिए है, जो सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में प्रायः उठाई जाती है और जिसे तत्त्वकौमुदीकार ने भी प्रस्तुत पंक्ति की अवतरणिका में इस प्रकार उठाया है—'ननु प्रकृतिकृतश्चेत्, तस्या नित्यायाः प्रवृत्तिशीलायाः अनुपरमात् सदैव सर्गः स्यादिति न कश्चित् मुच्येत'—अर्थात् यदि सृष्टि प्रकृति द्वारा पुरुष के मोक्ष के लिए की जाती है, तो पुरुष का मोक्ष कभी होना ही नहीं चाहिए क्योंकि प्रकृति तो नित्य है और अपने रजोगुण के कारण सदा प्रवृत्तिशील होने से न कभी उसका व्यापार रुकेगा और न पुरुष को छुटकारा मिलेगा। कौमुदीकार का मत है कि इसी का उत्तर देने के लिए दूसरी पंक्ति है। इसका अर्थ, जैसा कि ऊपर किया गया है, यह है कि प्रत्येक कार्य, चाहे वह अपने लिए हो या दूसरे के लिए, किसी न किसी प्रयोजन से होता है और प्रयोजन के सिद्ध होने पर निवृत्त हो जाता है। प्रकृति द्वारा सृष्टि होने का प्रयोजन पुरुष का मोक्ष ही है, जैसा कि 'प्रतीपुरुषविमोक्षार्थम्' पद से स्पष्ट है और ज्यों ही किसी पुरुष के विषय में यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, त्यों ही प्रकृति उस पुरुष के विषय में अपना कार्य बन्द कर उसी प्रकार निवृत्त हो जाती है, जैसे कोई व्यक्ति अपने किसी प्रयोजन से लिए किए गए कार्य को उस (प्रयोजन) के सिद्ध हो जाने पर बन्द कर के उससे निवृत्त हो जाता है।

यह अर्थ प्रस्तुत पंक्ति के उस अर्थ से भिन्न है, जो सामान्यतः सीधा है और कारिका का अनुवाद करते समय पूर्व में दिया जा चुका है। इस पंक्ति के लिखने में कारिकाकार का उद्देश्य प्रकृति के परोपकार-कार्य पर बल (जोर) देना ही समझ पड़ता है, जैसा कि कारिकाओं की प्राचीन टीका के परामर्थ-कृत चीनी अनुवाद एवं गौडपाद-भाष्य की पंक्तियों से भी स्पष्ट है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं:—"यथा कश्चित् सुहृत्कार्ये करोति, न करोति स्वकार्यम्। एवं प्रधानं

परकार्यमेव करोति, न स्वार्थकार्यम्'[१] ; "यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्र-कार्याणि करोति, एवं प्रधानम्"[२]॥

स्यादेतत्; स्वार्थं परार्थं वा चेतनः प्रवर्तते न च प्रकृतिरचेतनैवं भवितुमर्हति। तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः। न च क्षेत्रज्ञाश्चेतना अपि प्रकृतिमधिष्ठातुमर्हन्ति, तेषां प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वात्। तस्मादस्ति सर्वार्थदर्शी प्रकृतेरधिष्ठाता, स चेश्वर इत्यत आह—

अर्थ—यह सब तो ठीक है, परन्तु अपने अथवा दूसरे के लिए चेतन ही प्रवृत्त होता है, अचेतन प्रकृति तो इस प्रकार प्रवृत्त हो ही नहीं सकती। अतः प्रकृति का कोई चेतन अधिष्ठाता होना ही चाहिए। जीव तो चेतन होते हुए भी प्रकृति के स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण उसके अधिष्ठाता (नियामक) हो ही नहीं सकते। अतएव प्रकृति का अधिष्ठाता कोई सर्वज्ञ पुरुष होग और वह 'ईश्वर' है। इसके उत्तर में कारिकाकार 'वत्सविवृद्धिनिमित्तम्' इत्यादि कारिका कहते हैं—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ ५७॥

अर्थ—जैसे बछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध (स्वतः) निकलता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति भी (स्वतः) प्रवृत्त होती है।

दृष्टमचेतनमपि प्रयोजने प्रवर्त्तमानं यथा वत्सविवृद्ध्यर्थं क्षीरमचेतनं प्रवर्तते। एवं प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षणाय प्रवर्तिष्यते।

अर्थ—अचेतन भी प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है, जैसे बछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध निकल आता है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए कार्य करती है।

न च 'क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धनत्वेन साध्यत्वान्न साध्येन व्यभिचार इति साम्प्रतम्। प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्यत्वात् ते जगत्सर्गाद् व्यावर्तमाने प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपि व्यावर्तयतः। न ह्यवाप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितं भवति। नाऽपि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः, प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्? सर्गोत्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तारमितरेतराश्रयत्वं दूषणं कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति।

१—द्रष्टव्यम् अय्यास्वामिशास्त्रिकृतं संस्कृतरूपान्तरम्, पृ० ८४।
२—द्रष्टव्यं गौडपादभाष्यम्।

अर्थ—यह कहना भी ठीक नहीं कि 'चूँकि दुग्ध भी चेतन ईश्वर से अधिष्ठित होने के कारण ही प्रवृत्त होता है, अतएव उसके प्रवृत्त अथवा व्यापारित होने से हमारे इस पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्त का बाध नहीं होता कि चेतन ही स्वतः प्रवृत्त हो सकता है, अचेतन तो चेतन-युक्त होने पर ही प्रवृत्त होगा'; क्योंकि चेतन की प्रवृत्ति या तो स्वार्थ-वश होती है या करुणा-वश; और जगत् की सृष्टि में इन में से कोई भी कारण न होने से उसका चेतन की प्रवृत्ति या व्यापार से उत्पन्न होना भी असिद्ध हो जाता है। जगत् की सृष्टि में भगवान् का कोई स्वार्थ नहीं हो सकता क्योंकि वे तो आप्तकाम हैं। सृष्टि करने में उनका कोई करुणा-भाव नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों के इन्द्रिय, शरीर और विषयों की उत्पत्ति न होने से जब उनको दुःख रहेगा ही नहीं, तब फिर भगवान् को क्या दूर करने की इच्छा होगी और करुणा-भाव तो पर-दुःख-निवारण की इच्छा ही है। 'सृष्टि के बाद दुःखियों को देख कर करुणा होती है'—ऐसा मानने पर, 'करुण-भाव से सृष्टि होती है और सृष्टि से करुणा-भाव उत्पन्न होता है'—इस प्रकार का अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो जायगा।

अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून्सृजेन्न विचित्रान्। कर्मवैचित्र्याद् वैचित्र्यमिति चेत्, कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन? तदनधिष्ठानमात्रादेवाचेतनस्यापि कर्मणः प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तत्कार्यशरीरेन्द्रियविषयानुत्पत्तौ दुःखनिवृत्तेरपि सुकरत्वात्।

अर्थ—इसके अतिरिक्त एक और भी बात है। यदि ईश्वर करुणा से ही प्रेरित होकर सृष्टि करते हैं तो उन्हें केवल सुखी प्राणियों की ही सृष्टि करनी चाहिये, सुख-दुःख इत्यादि विविध अनुभवों वाले प्राणियों की नहीं। यदि यह कहा जाय कि 'कर्म के विविध (शुभाशुभ) होने से उसके फल भी विविध (शुभाशुभ) हो जाते हैं,' तो चेतन ईश्वर को कर्म का अधिष्ठता मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि उनके अधिष्ठता (नियामक) न होने भर से ही (आप के मत में) अचेतन कर्म प्रवृत्त न हो सकेगा और तब उससे उत्पन्न होने वाले शरीर, इन्द्रिय तथा विषय की उत्पत्ति न होने से दुःख का परिहार भी सुकर हो जायगा। (फिर ईश्वर के करुणा-भाव के लिए कोई कारण ही नहीं रह जायगा)।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में ईश्वरवाद की बड़ी मीठी चुटकी ली गई है। सांख्यवादी के प्रतिवचन का सारांश यह है कि यदि जीवों का दुःख देखकर

करुणा-वश ईश्वर सृष्टि करते हैं ताकि जीवन की परिधि के भीतर ही उपाय करके जीव अपने दुःखों को दूर कर ले तो ईश्वर को ही क्यों नहीं उड़ा देते ! उससे कर्म नियामक-विहीन होने से न तो प्रवृत्त हो सकेगा और न दुःखादि फल ही दे सकेगा। न दुःख होगा, न करुणा करने वाले की आवश्यकता होगी।

प्रकृतेस्त्वचेतनायाः प्रवृत्तेर्न स्वार्थानुग्रहो[१] न वा कारुण्यं प्रयोजकमिति नोक्तदोषप्रसङ्गावतारः। पारार्थ्यमात्रन्तु प्रयोजकमुपपद्यते। तस्मात्सुष्ठूक्तम्—"वत्सविवृद्धिनिमित्तम्" इति ॥५७॥

अर्थ—अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति में तो स्वार्थ या करुणा-भाव की अपेक्षा नहीं होती, (चेतन की ही प्रवृत्ति में होती है)। इसलिए इस पक्ष में उपर्युक्त दोष नहीं होगा। अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन केवल परोपकार ही है जो सर्वथा सङ्गत है। इसलिए कारिका में अचेतन की प्रवृत्ति के लिये दिया गया उदाहरण ठीक ही है।

"स्वार्थ इव" इति दृष्टान्तितम्। तद्विभजते—"औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्" इति।

अर्थ—पहले का० ५६ में कह चुके हैं कि दूसरों के लिए की गई सृष्टि अपने लिए ही की गई सी प्रतीत होती है।' इसका विवेचन 'औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं" इत्यादि अगली कारिका में करते हैं :—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

अर्थ—जैसे स्वेच्छा की पूर्ति के लिये लोग कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति (भी) पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है॥

औत्सुक्यमिच्छा, सा खल्विष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते। इष्यमाणश्च स्वार्थः, इष्टलक्षणत्वात् फलस्य। दार्ष्टान्तिके योजयति—"पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्" इति।

अर्थ—'औत्सुक्य' का अर्थ है—इच्छा। इच्छा अभीष्ट की प्राप्ति हो जाने पर दूर हो जाती है, और अभीष्ट है 'पुरुषार्थ' (मोक्ष); क्योंकि जो अभीष्ट होता है, वही कार्य या प्रवृत्ति का लक्ष्य होता है। पूर्वोक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक (जिसके लिए दृष्टान्त दिया जाता है) के विषय में लगाते हैं—'उसी प्रकार प्रकृति (भी) पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।'

१—स्वार्थानुग्रहः स्वस्याः प्रकृतेर्योऽर्थः प्रयोजनं, तस्य अनुग्रहः सिद्धिः।—किरणावली

ननु भवतु पुरुषार्थः प्रकृतेः प्रवर्तकः, निवृत्तिस्तु कुतस्त्या प्रकृतेः ? इत्यत आह—'रङ्गस्य' इति ।

अर्थ—माना कि प्रकृति की प्रवृत्ति में पुरुषार्थ कारण है, पर उस प्रवृत्ति (व्यापार) से उसके निवृत्त होने में क्या कारण है ? इसके उत्तर में 'रङ्गस्य दर्शयित्वा' इत्यादि अगली कारिका कहते हैं:—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥५६॥

अर्थ—जैसे नर्तकी रङ्गस्थ दर्शकों के समक्ष (नृत्य के लिए एक बार) उपस्थित होने के बाद फिर नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट (उपस्थित) कर देने के बाद फिर (उसके विषय में) प्रवृत नहीं होती ।

"रङ्गस्य" इति स्थानेन स्थानिनः पारिषदानुपलक्षयति । 'आत्मानम्' शब्दाद्यात्मना पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्येत्यर्थः ।

अर्थ—स्थान के वाचक 'रङ्ग' से रङ्गस्थानीय सभ्य (दर्शक) लक्षित होते हैं । 'आत्मानम् प्रकाश्य' अर्थात् अपने को शब्दादि-स्वरूप द्वारा पुरुष से भिन्न या पृथक् रूप में उसके समक्ष प्रकट करके (फिर प्रवृत्त नहीं होती) ।

विशेष—प्रस्तुत कारिका में कहा गया है कि प्रकृति अपने को पुरुष के समक्ष प्रकट करके (आत्मानं प्रकाश्य) फिर प्रवृत्त नहीं होती । परन्तु प्रकृति तो अव्यक्त होने के कारण प्रत्यक्ष होती ही नहीं, अपने शब्दादि कार्यों से उसका केवल अनुमान किया जाता है, जैसा कि 'सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः' इत्यादि आठवीं कारिका में स्पष्ट कहा गया है । अतः अव्यक्त प्रकृति का प्रत्यक्षात्मक आत्म-प्रकाश कथमपि सम्भव नहीं है । और यदि यहाँ 'प्रकृति' से उसके अव्यक्त-रूप का ग्रहण न करके व्यक्त-रूप (कार्य-रूप) शब्दादि का ग्रहण करें तो शङ्का यह होती है कि इस रूप का तो पूर्व से ही प्रत्यक्ष होता रहा है, इस प्रकार प्रकृति की निवृत्ति तथा पुरुष का मोक्ष पूर्व ही हो जाना चाहिए था । इसी शङ्का का उत्तर तत्त्वकौमुदीकार ने मूल के 'आत्मानम् प्रकाश्य' का 'शब्दाद्यात्मना पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्य' अर्थ करके दिया है । इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि विवेक-ज्ञान के पूर्व शब्द इत्यादि का प्रत्यक्ष 'ये हमारे भोग के विषय हैं'—इसी रूप में होता है, 'सूक्ष्म तथा

अव्यक्त प्रकृति के ही ये स्थूल तथा व्यक्त रूप हैं'—इस रूप में नहीं। सामान्यतः जब ये प्रकृति के रूप में गृहीत ही नहीं होते, तब फिर 'स्वरूप-भूत पुरुष से यह शब्दादि-रूप प्रकृति सर्वथा भिन्न है' —इस रूप में उनके गृहीत होने की बात ही कहाँ उठती है ? ऐसी स्थिति में प्रकृति का पुरुष से विविक्त या भिन्न रूप में विना ग्रहण हुए—अर्थात् बिना विवेक-ज्ञान हुए—उसकी प्रवृत्ति कैसे रुक सकती है और पुरुष का मोक्ष कैसे हो सकता है ? इसके विपरीत 'शब्दादि-रूप जड प्रकृति चिद्रूप मुक्त पुरुष से भिन्न है'—इस रूप में प्रत्यक्ष की जाने पर तो प्रकृति पुरुष से निवृत्त हो ही जाएगी। अतएव पूर्वोक्त शङ्का निराधार है।

स्यादेतत्—'प्रवर्ततां प्रकृतिः पुरुषार्थम् , पुरुषादुपकृतात्प्रकृतिर्लप्स्यते कञ्चिदुपकारम् , आज्ञासम्पादनाराधितादिवाज्ञापयितुभुंजिष्या, तथा च न परार्थोऽस्या आरम्भः' इत्यत आह—"नाना" इति

अर्थ—माना कि 'प्रकृति पुरुष के कार्य के लिए प्रवृत्त होती है, पर उपकृत पुरुष से प्रकृति भी तो प्रत्युपकृत होती होगी, जैसे आज्ञा-पालन द्वारा प्रसन्न हुए स्वामी से नौकरानी; और ऐसा होने पर प्रकृति का कार्य दूसरे (पुरुष) के लिए (ही) हाता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता'। इसका उत्तर 'नानाविधैरुपायैः' इत्यादि कारिका में देते हैं—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्याऽर्थमपार्थकश्चरति ॥ ६० ॥

अर्थ—गुणवती एवं उपकारिणी प्रकृति व्यर्थ ही इस निर्गुण एवं प्रत्युपकार-विहीन पुरुष का अनेक उपायों द्वारा कार्य-साधन करती है॥

यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽत एवाऽनुपकारिणि स्वामिनि निष्फलाराधनः, एवमियं प्रकृतिस्तपस्विनी गुणवत्युपकारिण्यनुपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति सिद्धम् ॥६०॥

अर्थ—जैसे सर्व-गुण-सम्पन्न एवं उपकारी होने पर भी सेवक निर्गुण एवं प्रत्युपकार-विहीन स्वामी से अपनी सेवा का कुछ भी फल नहीं पाता, उसी प्रकार यह गुणवती एवं उपकारिणी उदार प्रकृति अनुपकारी पुरुष के लिए प्रयत्न या कार्य करने पर भी स्वयं निष्फल ही रहती है। इस प्रकार पुरुष के लिए ही यह प्रवृत्त होती है, अपने लिए नहीं।

स्यादेतत्; 'नर्तकी नृत्यं परिषद्भ्यो दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनस्तद्-द्रष्टृकौतूहलात् प्रवर्तते यथा, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायाऽऽत्मानं दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनः प्रवर्त्स्यति' इत्यत आह—"प्रकृतेः" इति।

अर्थ—यह ठीक है (कि प्रकृति अपने लिए नहीं अपितु पुरुष के लिए ही प्रवृत्त होती है), परन्तु जैसे नर्तकी पारिषदों (दर्शकों) को अपना नृत्य दिखा चुकने पर भी उनके देखने की इच्छा बनी रहने पर फिर नृत्य में प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए पुरुष के प्रति अपने को दिखा चुकने पर भी (अर्थात् प्रकृति को देख कर 'यह मुझसे विविक्त या भिन्न है'—यह विवेक-ज्ञान पुरुष को हो जाने पर भी) फिर प्रवृत्त होगी। इसका उत्तर 'प्रकृतेः सुकुमारतरम्' इत्यादि कारिका में देते हैंः—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

अर्थ—मेरी यह धारणा है कि प्रकृति से अधिक लज्जालु कोई भी नहीं है, जो यह ज्ञान होते ही कि 'पुरुष ने मुझे देख लिया', फिर उसकी दृष्टि में नहीं आती।

विशेष—(१) प्रस्तुत कारिका का उपर्युक्त अर्थ तत्त्वकौमुदी की पंक्तियों के अनुरोध से किया गया है। इसके अनुसार मूल का 'मे' पद कारिकाकार ने 'स्वयं' के लिए प्रयुक्त किया है। गौडपाद को भी यही अर्थ अभिमत है। परन्तु माठर-वृत्ति के अनुसार 'मे' पद 'पुरुष' के लिए आया है जो प्रकृति को देख लेने पर सोचता है कि "इससे अधिक लज्जालु कोई नहीं है जो एक बार देख ली जाने पर 'मुझे पुरुष ने देख लिया'—यह सोच कर फिर दृष्टि-गत नहीं होती।" पर यह अर्थ ठीक नहीं लगता।

(२) स्वर्गीय पं० बालगङ्गाधर तिलक के मत से प्रस्तुत (६१ वीं) कारिका एवं 'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा.. ...' इत्यादि अग्रिम (६२ वीं) कारिका के बीच में एक और कारिका होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि ईश्वरकृष्ण के 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः' इत्यादि वचन के अनुरोध से ७० कारिकाएँ कारिका-ग्रन्थ में होनी चाहिए, किन्तु सांख्य-सिद्धान्त-विषयक ६९ ही कारिकायें मिलती हैं और गौडपाद-भाष्य भी इसी कारिका तक मिलता है। ६१वीं कारिका का गौडपाद-कृत भाष्य भी एक नहीं अपितु दो कारिकाओं का भाष्य प्रतीत होता है। अतएव एक कारिका अवश्य लुप्त हो गई है, जो ६१वीं

के बाद ही होनी चाहिए। भाष्य के देखने से लगता है कि इस कारिका का रूप निम्नलिखित रहा होगा—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

इस कारिका का पूर्वापर सन्दर्भ भी ठीक बैठ जाता है। इसके निरीश्वरत्व-प्रतिपादक होने के कारण किसी असहिष्णु ईश्वरवादी ने इसे अलग कर दिया पर उस पर लिखे गए भाष्य को वह अलग करना भूल गया।

पं० सूर्यनारायण शास्त्री ने तिलक जी के उपर्युक्त तर्क का खण्डन करते हुए यह लिखा है—'एकषष्टितमकारिकाया भाष्यान्तिमे कृतः वृत्तौ च माठरेण कृतः सुकुमारतरमिति शब्दस्य परामर्शः प्रकृतकारिकां विहायान्यस्याः कारिकाया भाष्य-वृत्त्योः सम्भावनां निराकरोति।'

डा० हरदत्त शर्मा शास्त्री जी के द्वारा किए गए इस खण्डन को युक्ति-युक्त नहीं मानते। अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने जो तर्क दिया है, उससे तिलक जी के उपर्युक्त इस तर्क का कि '६१ वीं कारिका का गौडपाद-भाष्य एक का नहीं अपितु दो कारिकाओं का भाष्य है'—और स्पष्टीकरण हो जाता है। उनके कथन का भाव यह है कि भाष्य के आदिम भाग में 'अहमनेन पुरुषेण दृष्टाऽस्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति, पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः। तत्र सुकुमारतरं वर्णयति'—यह पाठ मिलता है। इसके अनन्तर भाष्य के अन्तिम भाग में 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य'—यह पाठ होना चाहिए। परन्तु इसके स्थान में केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते' इत्यादि पाठ मिलता है, जो सर्वथा-असङ्गत है;क्योंकि ईश्वर इत्यादि के सृष्टि-कारणत्व का उल्लेख प्रकृति के सुकुमारतरत्व का वर्णन कदापि नहीं हो सकता। अतः निश्चित ही अनीश्वरवाद के द्वेषी किसी पुरुष द्वारा उपर्युक्त कारिका लुप्त कर दी गई और किसी अन्य पुरुष ने इस भाष्य को मूल कारिका से पृथक् समझ कर ६१वीं कारिका के भाष्य में ही निविष्ट कर दिया। अतएव संगति के लिए 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य', के अनन्तर उसने 'अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति' जोड़ दिया। इस प्रक्षिप्त अंश की भाष्य के पूर्व अंश के साथ अस-ङ्गति स्पष्ट है। इससे स्पष्ट है कि वाचस्पति इत्यादि के पूर्व ही यह कारिका लुप्त हो चुकी थी।"[१]

प्रस्तुत ग्रंथ की'अवतरणिका'में इस विषय पर विशेष विचार किया गया है।

१—द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी, ओ० बु० ए० पूना संस्करण, पृ० ७४ का फुटनोट।

२७

सुकुमारतरताऽतिपेशलता, परपुरुषदर्शनासहिष्णुतेति यावत्। असूर्यम्पश्या हि कुलवधूरतिमन्दाक्षमन्थरा प्रमादाद्विगलितशिरोऽञ्चला चेदालोक्यते परपुरुषेण, तदाऽसौ तथा प्रयतते अप्रमत्तं यथैनां पुरुषान्तराणि न पुनः पश्यन्ति इति। एवं प्रकृतिरपि कुलवधूतोऽप्यधिका दृष्टा विवेकेन न पुनर्द्रक्ष्यत इत्यर्थः ॥६१॥

अर्थ—'सुकुमारतरता' का अर्थ है—अत्यधिक लज्जालु होना, पर पुरुष द्वारा देख ली जाने को सहन न कर सकना। तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य से भी न देखी जाने वाली, अत्यन्त लज्जावती, एवं मन्थर गति वाली कुलाङ्गना प्रमाद-वश वस्त्राञ्चल खिसक जाने पर यदि कहीं पर पुरुष द्वारा देख ली गई तो वह सावधान रह कर ऐसा प्रयत्न करती है जिससे अन्य कोई पुरुष उसे फिर न देख सके, उसी प्रकार कुलाङ्गना से भी अधिक लज्जालु प्रकृति भी विवेक द्वारा एक बार किसी पुरुष से देख ली जाने पर फिर उसकी दृष्टि में नहीं आएगी ॥

स्यादेतत—"पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी, कथमस्य मोक्षः? मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्, सवासनक्लेशकर्माशयानाञ्च बन्धनसमाख्यानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात्। अत एवाऽस्य न संसारः प्रेत्यभावापरनामाऽस्ति, निष्क्रियत्वात्। तस्मात् 'पुरुषविमोक्षार्थम्' इति रिक्तं वचः" इतीमां शङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्युपगच्छन्नपाकरोति—"तस्मात्" इति।

अर्थ—"किन्तु यदि पुरुष गुणातीत और निर्विकार है, तो उसका मोक्ष कैसे सम्भव है? क्योंकि 'मुच्' (जिससे 'मोक्ष' शब्द बना है) का अर्थ है—'बन्धन से छुटकारा' और बन्धन, जो वासना तथा क्लेश के सहित कर्माशयों का ही नाम है, निर्विकार पुरुष में सम्भव ही नहीं है; और जब पुरुष में कर्म सम्भव ही नहीं है, तब उसका पुनर्जन्म नामक संसरण भी नहीं हो सकता। तब यह कथन कि 'पुरुष के मोक्ष के लिए (सृष्टि होती है)' निरर्थक है।" इस शङ्का को 'तस्मान्न बध्यते' इत्यादि कारिका द्वारा उपसंहार-रूप में स्वीकार करते हुए उसका समाधान करते हैं :—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

अर्थ—इसलिए वस्तुतः किसी पुरुष का न तो बन्धन और संसरण ही होता है, और न मोक्ष ही। अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है।

अद्धा न कश्चित् पुरुषो वध्यते, न कश्चित् संसरति, न कश्चिन्मुच्यते। प्रकृतिरेव तु नानाश्रया सती वध्यते संसरति मुच्यते चेति वन्धमोक्षसंसाराः पुरुषेषूपचर्यन्ते। यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते, तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात्, तत्फलस्य च शोकलाभादेः स्वामिनि सम्भवात्। भोगापवर्गयोश्च प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषसम्वन्ध उपपादित इति सर्वं पुष्कलम्।

अर्थ—इसलिए वस्तुतः किसी पुरुष का न बन्धन होता है, न संसरण या मोक्ष। अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली[1] प्रकृति का ही बन्धन भी होता है, संसरण भी, और मोक्ष भी; पुरुष में ये केवल आरोपित होते हैं। जैसे विजय और पराजय नौकर की होने पर भी स्वामी में आरोपित होती हैं—उसकी कह जाती हैं, क्योंकि स्वामी के आश्रय से ही नौकर जय-पराजय के कार्यों में भाग लेते हैं और उनके लाभ, शोक इत्यादि फल (अज्ञान से) स्वामी को (भी) प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार प्रकृति से अपना भेद न समझने के कारण उसमें स्थित भोग और मोक्ष से पुरुष का भी सम्बन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह समस्त सिद्धान्त सङ्गत है॥

नन्ववगतं 'प्रकृतिगता वन्धसंसारापवर्गाः पुरुषेषु उपचर्यन्ते' इति। किंसाधनाः पुनरेते प्रकृतेरित्यत आह—"रूपैः" इति।

अर्थ—यह तो ज्ञात हुआ कि बन्धन, संसरण और मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के होने पर भी पुरुष के कहे जाते है, परन्तु प्रकृति का इनसे क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में "रूपैः सप्तभि" इत्यादि कारिका कहते हैं :—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ ६३॥

अर्थ—प्रकृति स्वयं अपने सात रूपों द्वारा अपने को ही बाँधती है और वही अपने एक रूप द्वारा पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए स्वयं को मुक्त करती है।

तत्त्वज्ञानवर्जं बध्नाति धर्मादिभिः सप्तभी "रूपैः" भावैरिति। "पुरुषार्थं प्रति" भोगापवर्गौ प्रति आत्मनाऽऽत्मानम् "एकरूपेण" तत्त्वज्ञानेन विवेकख्यात्या विमोचयति, पुनर्भोगापवर्गौ न करोतीत्यर्थः॥६३॥

१-किरणावलीकारेण यत् 'नानाश्रया' इतीदं पदं 'बुद्ध्यहंकारादिभूतात्मकबहुरूपा सती इत्यन्यथा व्याख्यातं, तत्तु न संगच्छते कौमुदीकारदत्तदृष्टान्तेन सहेति सुधियः स्वयमेव विचारयन्तु॥

अर्थ—सात रूपों से अर्थात् तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त धर्म इत्यादि सात भावों से प्रकृति अपने को बाँधती है। और 'पुरुषार्थ' अर्थात् पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए 'एक रूप से' अर्थात् तत्त्वज्ञान या विवेकख्याति द्वारा स्वयं ही अपने को मुक्त करती है। तात्पर्य यह है कि फिर (उसी पुरुष के प्रति) भोग और मोक्ष नहीं उत्पन्न करती।

अवगतमीदृशं तत्त्वम्, ततः किमित्यत आह—"एवम्" इति।

अर्थ—यह तो ज्ञात हो गया कि वस्तु-स्थिति ऐसी है, उसके बाद क्या कर्तव्य है? इसके उत्तर में 'एवं तत्त्वाभ्यासात्' इत्यादि अगली कारिका कहते हैं—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

अर्थ—इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान के अभ्यास से, 'न (मैं क्रियावान्) हूँ', 'न मेरा (भोक्तृत्व है), और 'न मैं (कर्त्ता) हूँ'—यह सम्पूर्ण, भ्रमादि-विहीन होने के कारण विशुद्ध तथा मिथ्या ज्ञान से अमिश्रित ज्ञान उत्पन्न होता है।

"तत्त्वेन" विषयेण तत्त्वज्ञानमुपलक्षयति। उक्तप्रकारतत्त्वविषयज्ञानाभ्यासादादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितात् सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारि ज्ञानमुत्पद्यते, यद्विषयश्चाऽभ्यासस्तद्विषयकमेव साक्षात्कारमुपजनयति, तत्त्वविषयश्चाऽभ्यास इति तत्त्वसाक्षात्कारं जनयति। अत उक्तम्—"विशुद्धम्" इति।

अर्थ—'तत्त्व' से तद्विषयक ज्ञान (अर्थात् तत्त्वज्ञान) लक्षित होता है। उपर्युक्त प्रकार के तत्त्व-विषयक ज्ञान का श्रद्धा-पूर्वक दीर्घकाल तक सतत अभ्यास करने से प्रकृति और पुरुष के विभेद को प्रकट करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। चूँकि जिसके विषय में अभ्यास किया जाता है, उसी का साक्षात्कार वह उत्पन्न करता है। अतः तत्त्व के विषय में होने वाला अभ्यास उसी का साक्षात्कार उत्पन्न करता है। इसीलिए यह ज्ञान विशुद्ध कहा गया है।

कुतो विशुद्धमित्यत आह—"अविपर्ययात्" इति। संशयविपर्ययौ हि ज्ञानस्याऽविशुद्धी, तद्रहितं विशुद्धम्; तदिदमुक्तम्—"अविपर्ययात्" इति। नियतमनियततया गृह्णन् संशयोऽपि विपर्ययः, तेन 'अविपर्ययात्' इति संशयविपर्ययाभावो दर्शितः। तत्त्वविषयत्वाच्च संशयविपर्ययाभावः।

अर्थ—यह ज्ञान विशुद्ध क्यों होता है? इसके उत्तर में कहते हैं—'भ्रम-विहीन होने के कारण'। सन्देह और भ्रम ही ज्ञान-विषयक अशुद्धियाँ हैं, उनसे रहित होने के कारण उपर्युक्त ज्ञान विशुद्ध होता है। यही बात 'अविपर्ययात्' पद के द्वारा कही गई है। निश्चित प्रकार की वस्तु को अनिश्चित रूप से ग्रहण करना ही सन्देह है। इसलिए वह भी विपर्यय या भ्रम ही है। इसलिए 'अविपर्ययात्' पद से उपर्युक्त ज्ञान में सन्देह और भ्रम दोनों का अभाव कहा गया है। साक्षात्कारात्मक ज्ञान में इन दोनों का यह अभाव उसके तत्त्व-विषयक होने के कारण है।

स्यादेतत्—'उत्पद्यतामीदृशाभ्यासात् तत्त्वज्ञानम्, तथाऽप्यनादिना मिथ्याज्ञानसंस्कारेण मिथ्याज्ञानं जनयितव्यम्, तथा च तन्निबन्धनस्य संसारस्याऽनुच्छेदप्रसङ्ग इत्यत उक्तं—"केवलम्" इति, विपर्ययेणाऽसम्भिन्नम्। यद्यप्यनादिर्विपर्ययवासना, तथाऽपि तत्त्वज्ञानवासनया तत्त्वविषयसाक्षात्कारमादधत्याऽऽदिमत्याऽपि शक्या समुच्छेत्तुम्। तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः, यदाहुर्बाह्या अपि—"निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥इति।

अर्थ—इस प्रकार के तत्त्व-विषयक अभ्यास से तत्त्वज्ञान भले ही उत्पन्न हो, फिर भी अनादि अविद्या के संस्कार से मिथ्या-ज्ञान भी उत्पन्न होगा; और इस प्रकार उससे उत्पन्न होने वाले जन्म और मरण की परम्परा का कभी अन्त ही न होगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि वह ज्ञान 'केवल' अर्थात् मिथ्या ज्ञान से अमिश्रित होता है। यद्यपि अविद्या का संस्कार अनादि है, तथापि तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाले अपेक्षा-कृत अभिनव ज्ञान-संस्कार से भी उसका विनाश सम्भव है; क्योंकि तत्त्वोन्मुखता (तत्त्व की ओर झुकाव) तो बुद्धि का स्वभाव ही है, जैसा कि वेद-बाह्यों (बौद्धों) ने भी कहा है:—"मिथ्या ज्ञान (के संस्कारों) से वस्तु-स्वरूप के निर्दोष (विशुद्ध) ज्ञान का कभी भी बाध नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धि स्वभावतः (अप्रयास) ही तत्त्वज्ञानोन्मुखी होती है।"

ज्ञानस्वरूपमुक्तम्—"नास्मि, न मे, नाऽहम्" इति। 'नास्मि' इत्यात्मनि क्रियामात्रं निषेधति, यथाऽऽहुः—'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः' इति। तथा चाऽध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनानि चान्तराणि बाह्याश्च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धानि बोद्धव्यानि। यतश्चात्मनि व्यापारावेशो नास्त्यतो 'नाहम्'।

अहमिति कर्तृपदम्, 'अहं जानामि, अहं जुहोमि, अहं ददे' इति सर्वत्र कर्तुः परामर्शात्। निष्क्रियत्वे च सर्वत्र कर्तृत्वाभावः। ततः सुष्ठूक्तम्—"नाहम्" इति। अत एव "न मे"। कर्ता हि स्वामितां लभेत; तस्मात् कुतः स्वाभाविकी स्वामितेत्यर्थः। अथवा "नाऽस्मि" इति, "पुरुषोऽस्मि, न प्रसवधर्मा"। अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तृत्वमाह—"नाहम्" इति। अकर्तृत्वाच्च न स्वामितेत्याह—"न मे' इति।

अर्थ—न (मैं क्रियावान्) हूँ, न मेरा (भोक्तृत्व है), न मैं (कर्त्ता हूँ)—यह ज्ञान का स्वरूप कहा गया है। "न (मैं) हूँ"—यह वाक्य पुरुष में सभी प्रकार की क्रिया का निषेध करता है, जैसा कि (सिद्धान्तकौमुदी में) कहा गया है—'कृ, भू तथा अस् धातुएँ क्रिया-मात्र की वाचक हैं'। इस प्रकार अध्यवसाय (बुद्धि-कृत), अभिमान (अहंकार-कृत), सङ्कल्प (मनः-कृत), तथा विषय-ग्रहण (इन्द्रिय-कृत) इत्यादि सभी आन्तरिक एवं बाह्य क्रियाओं का 'पुरुष' में निषेध समझना चाहिए। और चूँकि पुरुष में क्रिया का लेप नहीं है, इसलिए मूल में 'न मैं (कर्त्ता हूँ)' ऐसा कहा गया है। 'मैं जानता हूँ', 'मैं हवन करता हूँ', 'मैं देता हूँ' इत्यादि सभी वाक्यों में 'मैं' से कर्ता का बोध होने के कारण 'न मैं' इस वाक्य में भी 'मैं' पद कर्ता है। और चूँकि क्रिया का अभाव होने पर सर्वत्र कर्तृत्व का अभाव होता है, इसलिए ('नास्मि' के द्वारा पुरुष में क्रिया का अभाव कह कर उसमें कर्तृत्व का अभाव बताने के लिए) कारिकाकार ने 'नाहम्' अर्थात् 'मैं (कर्ता) नहीं' यह ठीक ही कहा है। इसलिए 'न मे' अर्थात् 'मेरा कुछ भी नहीं' यह भी ठीक ही कहा। चूँकि कर्ता ही स्वामी बनता है, इसलिए (कर्तृत्व के अभाव में) पुरुष का स्वाभाविक स्वामित्व कैसे हो सकता है?

अथवा 'नास्मि' का अर्थ यह है कि 'मैं (अपरिणामी) पुरुष हूँ, परिणामी (प्रधान इत्यादि) नहीं'; और अविपरिणामी होने से 'नाहम्' के द्वारा उसका अकर्तृत्व कहा; एवं अकर्तृत्व के कारण 'न मे' के द्वारा उसमें स्वामित्व का अभाव कहा॥

ननु 'एतावत्सु ज्ञातेष्वपि कश्चित् कदाचिदज्ञातो विषयोऽस्ति, तदज्ञानं जन्तून् बन्धयिष्यति' इत्यत आह—"अपरिशेषम्' इति। नास्ति किञ्चिदस्मिन् परिशिष्टं ज्ञातव्यं, यदज्ञानं जन्तून् बन्धयिष्यतीत्यर्थः।

अर्थ—'परन्तु इन सब तत्त्वों के ज्ञात होने पर भी यदि कभी कोई विषय अज्ञात रह गया हो, तो उसका अज्ञान प्राणियों को बन्धन में डालेगा'। इसके उत्तर में 'अपरिशेषम्' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि इस (उपर्युक्त तत्त्वज्ञान) के हो जाने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं बच रहता जिसका अज्ञान प्राणियों को बन्धन में डालने वाला हो।

किं पुनरीदृशेन तत्त्वसाक्षात्कारेण सिद्ध्यतीत्यत आह—'तेन' इति।

अर्थ—इस प्रकार के तत्त्व-ज्ञान से क्या सिद्ध होता है, इसे 'तेन निवृत्त-प्रसवाम्' इत्यादि अगली कारिका में कहते हैं—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः[1] ॥६५॥

अर्थ—इससे विमल, एवं द्रष्टा के समान निष्क्रिय पुरुष विवेक-ज्ञान के सामर्थ्य से धर्म, अधर्म इत्यादि सात रूपों से रहित, तथा (अपने सम्बन्ध में भोग और विवेक-ज्ञान इत्यादि) परिणाम न उत्पन्न करने वाली प्रकृति को देखता है ॥ ६५ ॥

भोगविवेकसाक्षात्कारौ हि प्रकृतेः प्रसोतव्यौ। तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिः। विवेकज्ञानरूपो योऽर्थस्तस्य वशः सामर्थ्यम्, तस्मात्। अतत्त्वज्ञानपूर्वकाणि खलु धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि। वैराग्यमपि केवलतौष्टिकानामतत्त्वज्ञानपूर्वकमेव। तत्र तत्त्वज्ञानं विरोधित्वेनाऽतत्त्वज्ञानमुच्छिनत्ति। कारणनिवृत्त्या च सप्तरूपविनिवृत्ता प्रकृतिः। "अवस्थितः" इति निष्क्रियः, "स्वच्छः" इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्याऽसम्भिन्नः। सात्त्विक्या तु बुद्ध्या तदाऽप्यस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथैवम्भूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति ॥ ६५ ॥

अर्थ—भोग और विवेक-ज्ञान प्रकृति के द्वारा सम्पन्न होने थे, और वे सम्पन्न हो गए। इसलिए अब उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहा, और इसलिए वह परिणाम-रहित हो गई। 'अर्थवशात्' का अर्थ है—विवेक-ज्ञान रूप प्रयोजन के सामर्थ्य से। धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा

१—तत्त्वकौमुद्यनुरोधेनाऽयमेव पाठोऽत्र गृहीतः। 'स्वस्थः' इति पाठान्तरमपि लभ्यते, अस्य च वंशीधरेण 'स्वस्मिन् चिदेकरसे आत्मनि तिष्ठती' त्यर्थः कृतः, एतत्समर्थने च "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इति योगसूत्रं (१।३) चोद्धृतम्।

अनैश्वर्य—प्रकृति के ये सात रूप निस्सन्देह तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण ही होते हैं। केवल तौष्टिकों (अर्थात प्रकृति, काल या भाग्य स्वयं ही विवेक-ज्ञान उत्पन्न कर देंगे—इस प्रकार वैराग्य-मात्र से सन्तुष्ट होने वाले साधकों) का वैराग्य भी अज्ञान-जन्य ही होता है। अज्ञान का विरोधी होने के कारण तत्त्वज्ञान उसे नष्ट कर देता है। इस प्रकार कारण-भूत अज्ञान के विनष्ट हो जाने से उसके कार्य-भूत सप्तविध प्रकृति-परिणाम भी निवृत्त हो जाते हैं। इसी लिए 'सात रूपों से विहीन प्रकृति'—ऐसा कहा है। 'अवस्थित' पद का अर्थ है—निष्क्रिय; 'स्वच्छ' का अर्थ है—राजस और तामस वृत्तियों से मलिन हुई बुद्धि के सम्पर्क से रहित। चेतन पुरुष का सात्त्विक बुद्धि से थोड़ा-थोड़ा सम्पर्क तो उस अवस्था में भी बना रहता है, अन्यथा इस रूप में प्रकृति का दर्शन ही असम्भव हो जायगा।

स्यादेतत्—'निवृत्तप्रसवामिति न मृष्यामहे, संयोगकृतो हि सर्ग इत्युक्तम्, योग्यता च संयोगः, भोक्तृत्वयोग्यता च पुरुषस्य चैतन्यम्, भोग्यत्वयोग्यता च प्रकृतेर्जडत्वम्। न चैतयोरस्ति निवृत्तिः, न च करणीयाभावान्निवृत्तिः, तज्जातीयस्याऽन्यस्य करणीयत्वात्, पुनः पुनः शब्दाद्युपभोगवत' इत्यत आह—'दृष्टा मया' इति।

अर्थ—(गत कारिका में) प्रकृति को जो (तत्त्वज्ञान के अनन्तर) अपरिणामिनी कहा गया है, वह हमें मान्य नहीं है; क्योंकि यह पहले (का० २१ में) कहा जा चुका है कि सर्ग—प्रकृति-परिणाम—संयोग से होता है और यह संयोग पुरुष और प्रकृति के परस्पर भोक्ता और भोग्य बनने की योग्यता है जो दोनों में उनके क्रमशः चेतन और जड होने के कारण है, और यह चेतना एवं जडता (स्वाभाविक होने के कारण) कभी नष्ट नहीं होती (तब फिर परिणाम की निवृत्ति कैसे होगी ?)। यदि यह कहा जाय (कि पुरुष के भोग और अपवर्ग के सम्पन्न हो जाने पर) किसी अन्य कार्य के अवशिष्ट न रहने के कारण उसके प्रति प्रकृति का परिणाम (सर्ग) निवृत्त हो जाता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके प्रति उसी प्रकार के अन्य भोग इत्यादि कार्य अवशिष्ट हो सकते हैं; जैसे शब्द, स्पर्श इत्यादि भोग्यों के उपभोग बार-बार होते रहते हैं। इसके उत्तर में "दृष्टा मया" इत्यादि अगली कारिका कह रहे हैं :—

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

अर्थ—एक (अर्थात् चेतन पुरुष) 'मैंने उसे देख लिया'—यह विचार करके उदासीन हो जाता है, और दूसरी (अर्थात् प्रकृति) भी 'उसने

मुझे देख लिया'- -यह सोचकर व्यापार-शून्य हो जाती है। इस प्रकार दोनों का संयोग होने पर भी सृष्टि—प्रकृति -व्यापार—का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

करोतु नाम पौनःपुन्येन शब्दाद्युपभोगं प्रकृतिर्यया विवेकख्यातिर्न कृता, कृतविवेकख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगं न जनयति। अविवेकख्यातिनिबन्धनो हि तदुपभोगः निबन्धनाभावे न भवितुमर्हति, अङ्कुर इव बीजाभावे। प्राकृतान् हि सुखदुःखमोहात्मनः शब्दादींस्तदविवेकात् 'ममैते' इत्यभिमन्यमान आत्मा भुञ्जीत। एवं विवेकख्यातिमपि प्राकृतीमविवेकादेवाऽऽत्मा 'मदर्थेयम्' इति मन्यते। उत्पन्नविवेकख्यातिस्तु तदसंसर्गाच्छब्दादीन्नोपभोक्तुमर्हति, नापि विवेकख्यातिं प्राकृतीं ततो विविक्त आत्मा स्वार्थमभिमन्तुमर्हति। पुरुषार्थौ च भोगविवेकौ प्रकृत्यारम्भप्रयोजकावित्यपुरुषार्थौ सन्तौ न प्रकृतिं प्रयोजयतः। तदिदमुक्तम्—"प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य" इति। अत्र प्रयुज्यते सर्गे प्रकृतिरनेनेति 'प्रयोजनम्', तदपुरुषार्थे[1] नास्तीत्यर्थः॥ ६६॥

अर्थ—जब तक प्रकृति पुरुष में विवेक-ख्याति नहीं उत्पन्न कर सकी है, तब तक वह शब्द इत्यादि विषयों का बार-बार भोग भले ही करावे; परन्तु एक बार विवेक-ख्याति उत्पन्न कर चुकने पर वह फिर भोग नहीं उत्पन्न करती क्योंकि भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं, जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अङ्कुर नहीं होता। प्रकृति से अपने को विविक्त या भिन्न न समझने के कारण पुरुष सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श इत्यादि प्रकृति-परिणामों को 'ये मेरे हैं'—ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। इसी प्रकार प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को भी वह समझता है कि 'यह मेरे लिए है'। परन्तु विवेक-ज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर अविवेक-रहित हो जाने के कारण वह न तो शब्द इत्यादि का भोग ही करता है, न प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को ही अपने लिए समझता है, और भोग एवं विवेक-ज्ञान तभी तक प्रकृति-कृत सर्ग में कारण बनते हैं, जब तक ये 'पुरुषार्थ' अर्थात् पुरुष के लिए प्राप्तव्य विषय रहते हैं। ज्यों ही ये 'पुरुषार्थ' (अर्थात् प्राप्त हो जाने के कारण पुरुष के लिए प्राप्तव्य) नहीं रहे, त्यों ही ये प्रकृति-कृत सर्ग के प्रयोजन नहीं रह जाते। इसी से मूल कारिका में कहा गया है कि '(विवेक-प्राप्ति के अनंतर) सर्ग का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।' यहाँ 'प्रयोजन' पद का अर्थ

१—'अपुरुषार्थे' अनागतावस्थभिन्ने पुरुषार्थे।—किरणावली

है—वह वस्तु जिसके कारण प्रकृति सर्ग में प्रेरित होती है। भाव यह है कि प्राप्तव्य भोग और विवेक-ज्ञान रूप पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी में भी यह प्रयोजकत्व (प्रेरकत्व) नहीं रहता ॥

स्यादेतत्—"उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारान्मुक्तश्चेत्तदनन्तरमेव मुक्तस्य तस्य देहपातः स्यादिति कथमदेहः प्रकृतिं पश्येत्। अथ तत्त्वज्ञानेऽपि न मुच्यते, कर्मणामक्षीणत्वात्, तेषां कुतः प्रक्षयः ? 'भोगात्' इति चेत्" हन्त भोः न तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनम् इति 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानजन्मना तत्त्वज्ञानेनापवर्गः'[१] इति रिक्तं वचः। 'भोगेन चापरिसङ्ख्येयः कर्माशयप्रचयोऽनियतविपाककालः क्षेतव्यः, ततश्चापवर्गप्राप्तिः' इत्यपि मनोरथमात्रम्' इत्यत आह—"सम्यक्" इति।

अर्थ—प्रश्न यह है कि यदि तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होते ही साधक मुक्त हो जाता है, तो मुक्त होने के अनन्तर ही उसके शरीर (स्थूल और सूक्ष्म—उभयविध) का विनाश हो जाना चाहिए। फिर अदेह हो जाने पर प्रकृति को वह किस साधन से देखेगा ? (इस प्रकार का० ६५—'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः' इत्यादि निरर्थक है)। यदि यह कहा जाय कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के क्षीण न होने के कारण साधक देह से वियुक्त नहीं होता, तो फिर प्रश्न यह है कि उन कर्मों का क्षय किससे होता है ? यदि कहा जाय कि भोग से क्षय होगा, तो खेद के साथ कहना पड़ता है कि तब फिर तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन नहीं होगा और ऐसा होने पर सांख्यशास्त्र का वह वचन कि 'व्यक्त, अव्यक्त और चेतन (पुरुष) के ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है'—निरर्थक हो जायगा। इसके अतिरिक्त 'पहले असंख्य प्रारब्ध कर्मों की राशि, जिसकी फल-प्राप्ति का समय अनिश्चित है, भोग के द्वारा क्षीण होगी, फिर मोक्ष-प्राप्ति होगी'—यह कथन भी मनोरथ-मात्र है। इस के उत्तर में 'सम्यग्ज्ञानाधिगमात्' इत्यादि अगली कारिका कहते हैं:—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥६७॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से सञ्चित धर्म, अधर्म इत्यादि कर्मों का बीज-भाव (उत्पादकत्व) नष्ट हो जाने पर (भी) प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कारों के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किए रहता है, जैसे दण्ड

१—एतदभिप्रायकं प्रस्तुतग्रन्थगतं वचनं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' (का०२) इति।

से चलाई गई कुम्हार की चाक फिर दण्ड-चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग (नामक संस्कार) से घूमती रहती है ।।६७।।

तत्त्वसाक्षात्कारोदयादेवानादिरप्यनियतविपाककालोऽपि कर्माशय-प्रचयो दग्धबीजभावतया न जात्यायुर्भोगलक्षणाय फलाय कल्पते । क्लेश-सलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यङ्कुरं प्रसुवते । तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतः कर्मबीजानामङ्कुरप्रसवः ? तदिदमुक्तम्—"धर्मादीनामकारणप्राप्तौ" इति, अकारणत्वप्राप्तावित्यर्थः । उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि च संस्कारवशात् तिष्ठति, यथोपरतेऽपि कुलालव्यापारे चक्रं वेगाख्यसंस्कारवशात् भ्रमत् तिष्ठति । कालपरिपाकवशात्तूपरते संस्कारे निष्क्रियं भवति । शरीरस्थितौ च प्रारब्धकर्मपरिपाकौ धर्माधर्मौ संस्कारौ तौ च भोगेन क्षेतव्यौ । तथा चाऽनुश्रूयते—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"इति (छा०६।१४।२) । प्रक्षीयमाणाविद्यासंस्कारावशेषश्च 'संस्कारः',तद्वशात् तत्सामर्थ्यात् धृतशरीरस्तिष्ठति ।

अर्थ—तत्त्वज्ञान के उदय से ही उत्पादक शक्ति के विनष्ट हो जाने के कारण अनादि काल से सञ्चित कर्म-राशि अपने फल-काल के नियत न होने पर भी जाति, आयु एवं सुख-दुःख-भोग फल नहीं देती; क्योंकि जिस प्रकार भूमि में कुछ जल अवशिष्ट रहने पर ही उसमें पड़े हुए बीज अङ्कुर उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार बुद्धि में अविद्या इत्यादि क्लेशों[1] के अवशिष्ट रहने पर ही कर्म फल देते हैं; और जिस प्रकार प्रचण्ड निदाघ के द्वारा समस्त जल सूख जाने पर ऊसर हुई भूमि में बीज अङ्कुरित नहीं होते, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से बुद्धि-गत अविद्या इत्यादि सारे क्लेशों के नष्ट हो जाने पर कर्म फलदायी नहीं होते । यही बात 'धर्म इत्यादि के कारण न रह जाने पर'—इन शब्दों द्वारा कही गई है । मूल में आए हुए 'अकारणप्राप्ति' का अर्थ 'अकारणत्वप्राप्ति' अर्थात् कारण-भाव (बीज-भाव) का नष्ट हो जाना' है । तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी साधक प्रारब्ध कर्म के संस्कार से उसी प्रकार शरीर धारण करता है, जैसे कुम्हार के 'दण्ड-चालन' व्यापार के रुक जाने पर भी चाक पूर्वारब्ध वेग से चलती ही रहती है और समय आने पर वेग के नष्ट हो जाने से रुकती है । शरीर के रहते ही जिन शुभ और अशुभ कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया है, वे तो फल-भोग करके ही क्षीण किए जा

१—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ योगसूत्र २। ३॥ सकलक्लेशमूलत्वात् तदुत्पादकत्वात् कारणे कार्योपचारात् एते अविद्यादयः 'क्लेशा' उच्यन्ते ।

सकते हैं, जैसा कि श्रुति में भी कहा गया है:—'विवेक-ज्ञान वाले को तभी तक देर रहती है, जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता। शरीर-पात के अनन्तर तो वह सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेता है'। (विवेक-ज्ञान के द्वारा) नष्ट होते हुए अविद्या-संस्कारों में से जो संस्कार[१] (प्रारब्ध-नामक) बच जाते हैं, उन्हीं के सामर्थ्य से वह ज्ञानी पुरुष शरीर धारण किए रहता है॥

स्यादेतत्—"यदि संस्कारशेषादपि धृतशरीरस्तथाऽपि कदाऽस्य मोक्षो भविष्यति ?" इत्यत आह—"प्राप्ते" इति।

अर्थ—परन्तु यदि बचे हुए प्रारब्ध संस्कार से भी ज्ञानी पुरुष शरीर धारण किये रहता है. तो फिर उसका मोक्ष कब होगा ? इसके उत्तर में 'प्राप्ते शरीरभेदे' इत्यादि अगली कारिका कहते हैं—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥६८॥

अर्थ—शरीर-पात हो जाने पर भोग एवं अपवर्ग—दोनों ही प्रयोजनों (पुरुषार्थों) के सिद्ध हो जाने के कारण प्रकृति ज्ञानी के प्रति प्रवृत्त होना बन्द कर देती है, एवं वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

अनारब्धविपाकानां तावत् कर्माशयानां तत्त्वज्ञानाग्निना बीजभावो दग्धः। प्रारब्धविपाकानां तूपभोगेन क्षये सति, प्राप्ते "शरीरभेदे" इति—विनाशे, "चरितार्थत्वात्" इति—कृतप्रयोजनत्वात् प्रधानस्य तं पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ "ऐकान्तिकम्"—अवश्यम्भावि, "आत्यन्तिकम्"—अविनाशि, इत्युभयं "कैवल्यम्"—दुःखत्रयविगमं प्राप्नोति पुरुषः॥६८॥

अर्थ—जिनका फल-भोग आरम्भ नहीं हुआ था, उन (सञ्चित) कर्म-संस्कारों की फलोत्पादन-शक्ति तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो गई। किन्तु जिनका फल-भोग प्रारम्भ हो गया था, भोग द्वारा उनके क्षीण हो जाने पर जब द्विविध शरीर का विनाश हो जाता है, तब 'चरितार्थ' अर्थात् भोग और अपवर्ग रूप द्विविध प्रयोजन के सिद्ध हो जाने के कारण ज्ञानी पुरुष के विषय में प्रकृति के प्रवृत्ति-

---

१—संस्कारपदार्थमाह—प्रक्षीयमाणेति। विवेकख्यात्या प्रक्षीयमाणा ये अविद्यायाः संस्काराः धर्माऽधर्माद्यात्मकाः, तत्र ये नष्टास्ते सञ्चिताः, ये चावशेषतया तिष्ठन्ति न नश्यन्ति, ते प्रारब्धाख्यसंस्कारा उच्यन्ते, तद्वशात् धृतशरीरः सन् तिष्ठति। —किरणावली

हीन होने पर वह (पुरुष) 'ऐकान्तिक' अर्थात् नियत रूप से 'आत्यन्तिक' अर्थात् अविनाशी (नित्य) 'कैवल्य'—दुःख-त्रय से मुक्ति—प्राप्त कर लेता है ॥

प्रमाणेनोपपादितेऽप्यत्यन्तश्रद्धोत्पादनाय परमर्षिपूर्वकत्वमाह—"पुरुष" इति ।

अर्थ—प्रमाणों द्वारा समस्त शास्त्रार्थ के सिद्ध हो जाने पर भी उसमें आत्यन्तिक श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए 'पुरुषार्थज्ञानमिदम्' इत्यादि अगली कारिका में उसे महर्षि कपिल का कहा हुआ बताते हैं—

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतनाम् ॥६९॥

अर्थ—पुरुष के भोग और अपवर्ग प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला, अत्यन्त गुह्य यह ज्ञान महर्षि कपिल द्वारा कहा गया था, जिसकी प्राप्ति के लिए ही (आगमों के द्वारा भी) भूतों की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश का विचार किया जाता है ॥६९॥

"गुह्यम्"—गुहानिवासि, स्थूलधियां दुर्बोधमिति यावत् । "परमर्षिणा"—कपिलेन । तामेव श्रद्धामागमिकत्वेन द्रढयति—"स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्" इति ।'यत्र'ज्ञाने—यदर्थम् ,यथा'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इति । "भूतानाम्"—प्राणिनां "स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः" आगमैः "चिन्त्यन्ते" ।

अर्थ—'गुह्य' का अर्थ है—गुहा (दुर्गम स्थान) में रहने वाला, अर्थात् मोटी बुद्धि वालों के लिए दुर्बोध । 'परमर्षिणा' अर्थात् कपिल मुनि के द्वारा । (सांख्य-शास्त्र के महर्षि कपिल द्वारा कहे गए होने से जो श्रद्धा उसमें उत्पन्न होती है), उसी को इस ज्ञान की आगम-मूलकता के कथन द्वारा और दृढ़ करते हैं—'जिसके लिए भूतों की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश का निरूपण किया गया है' । 'यत्र' का अर्थ है—'यत्र ज्ञाने' अर्थात् जिस ज्ञान के निमित्त । 'यत्र' में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' (अर्थात् चर्म के लिए व्याघ्र को मारता है) की भाँति 'निमित्त'—प्रयोजन—अर्थ में हुआ है । 'भूतानाम्' अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश आगमों के द्वारा विचारे जाते हैं ।

स्यादेतत्—"यत् परमर्षिणा साक्षात्कथितं तच्छ्रद्धीमहि, यत्पुनरीश्वरकृष्णेन कथितं, तत्र कुतः श्रद्धा ?" इत्यत आह—" एतत्" इति ।

अर्थ—साक्षात् महर्षि कपिल के द्वारा कहे गए शास्त्र-ज्ञान में हम भले ही श्रद्धा करें परन्तु ईश्वरकृष्ण द्वारा कहे गए ज्ञान में क्यों श्रद्धा करें ? इसके

१—पृथिव्यादीनि महाभूतानि, प्राणिनश्च ।

उत्तर में 'एतत् पवित्रमग्रय्' इत्यादि कारिका कही गई है—

एतत् पवित्रमग्रयं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥

अर्थ—महर्षि कपिल ने कृपा करके इस पवित्र तथा श्रेष्ठ ज्ञान को आसुरि को दिया, आसुरि ने भी पञ्चशिख को दिया और उन्होंने इसे खूब विस्तृत किया ॥७०॥

एतत् "पवित्रम्"—पावनं दुःखत्रयहेतोः पाप्मनः पुनातीति, "अग्रयम्"—सर्वेभ्यः पवित्रेभ्यो मुख्यम्, "मुनि"—कपिलः आसुरयेऽनुकम्पया प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ।

अर्थ—इस 'पवित्र'—पावन अर्थात् दुःखत्रय के कारण-भूत (अविद्यारूपी) पाप को दूर करके साधक को पवित्र करने वाले तथा 'अग्रयम्' अर्थात् सभी पवित्र करने वालों में श्रेष्ठ ज्ञान को मुनि कपिल ने अनुकम्पा करके आसुरि को, तथा आसुरि ने भी पञ्चशिख को दिया, और पञ्चशिख ने इसे खूब बढ़ाया ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
सङ्क्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

अर्थ—शिष्य-परम्परा से आये हुए ज्ञान को तत्त्वज्ञानी ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-सिद्धान्त को भली भाँति जानकर ७० आर्याओं द्वारा संक्षेप में रख दिया ॥७१॥

"शिष्य" इति । आरात् याता तत्त्वेभ्य[१] इत्यार्या, आर्या मतिर्यस्य सोऽयम् "आर्यमतिः" इति ।

अर्थ—'आर्या' का अर्थ है—तत्त्वों के समीप गई हुई अर्थात् तत्त्व-विषयक । 'आर्यमति' अर्थात् वह पुरुष जिसकी बुद्धि तत्त्व-विषयक हो ।

एतच्च 'शास्त्र' सकलशास्त्रार्थसूचकत्वात्, न तु प्रकरणमित्याह—"सप्तत्याम्" इति ।

अर्थ—यह ग्रन्थ समस्त सांख्य शास्त्र के विषयों का ज्ञान कराने के कारण 'शास्त्र' है, 'प्रकरण'[२] (अर्थात् कुछ प्रमुख विषयों का ज्ञान कराने वाला) ग्रन्थ नहीं । यह बात 'सप्तत्याम्' इत्यादि कारिका में कहते हैं—

१—'तत्त्वेभ्यः' पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वेभ्यः, पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वानामिति यावत् ।
—किरणावली

२—प्रकीर्णं यं कञ्चिद्विषयं वर्णयति यत् तत् 'प्रकरणम्' । —किरणावली

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

अर्थ—इस 'सप्तति' अर्थात् सत्तर कारिकाओं के ग्रन्थ में आख्यायिकाओं से रहित तथा पर-मत-खण्डन से भी रहित जो पदार्थ निरूपित हैं, वे निस्सन्देह समस्त 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ के ही विषय हैं ॥७२॥

तथा च राजवार्तिकम्—"प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथाऽन्यता । पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥ शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश । विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥ करणानामसामर्थ्यमष्टविंशतिधा स्मृतम् । इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥" इति । सेयं षष्टिपदार्थी कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनान्नेदं प्रकरणमपि तु शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम् ।

अर्थ—'राजवार्तिक' नामक सांख्य-ग्रन्थ में लिखा है—"प्रधान (तथा पुरुष) का अस्तित्व, प्रधान का एक होना, पुरुष के लिए प्रधान की सार्थकता (प्रयोजनवत्ता), पुरुष की प्रधान से भिन्नता, प्रधान का पारार्थ्य—अपने से भिन्न अर्थात् पुरुष के लिए होना, पुरुष का अनेक या असंख्य होना, प्रकृति और पुरुष का वियोग अर्थात् मोक्ष, संयोग अर्थात् भोग, शेषवृत्ति अर्थात् प्रधान का अव्यक्त तथा व्यक्त रूप में वर्तमान होना (अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि अवशिष्ट प्रारब्ध के कारण द्विविध शरीर का वर्तमान रहना), एवं पुरुष का अकर्तृत्व—ये दस मौलिक[1] अर्थात् मुख्य पदार्थ हैं। पाँच प्रकार के अज्ञान, नौ प्रकार की तुष्टियाँ, इन्द्रियों की अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ, तथा आठ प्रकार की सिद्धियाँ—ये साठ पदार्थ हैं।" ये साठों पदार्थ इस ग्रन्थ में निरूपित हैं। अतः सांख्य-शास्त्र के समस्त तत्त्वों का निरूपण करने के कारण यह ग्रन्थ 'शास्त्र' ही है, 'प्रकरण' नहीं—यह सिद्ध है।

एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यञ्च प्रधानमधिकृत्योक्तम् । अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वञ्चेति पुरुषमधिकृत्य । अस्तित्वं वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य । वृत्तिः स्थितिरिति स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य ।

अर्थ—एकता, अर्थवत्ता तथा परार्थता प्रधान के विषय में; भिन्नता, कर्तृत्व-शून्यता तथा अनेकता पुरुष के विषय में; एवं अस्तित्व, वियोग

१—मौलिकाः 'मूलं मुख्यं यज्जडचेतनभेदेन पदार्थद्वयं, तत्र भवाः', तदुभयमवलम्ब्य निरूपिता दश पदार्थाः स्मृताः ।—किरणावली

तथा योग दोनों के विषय में कहे गये हैं। 'वृत्ति' का अर्थ है—स्थिति या वर्तमानता जो कि (प्रकृति की) व्यक्त और अव्यक्त अवस्थाओं (अथवा स्थूल और सूक्ष्म—द्विविध शरीर) के विषय में कही गई हैं ॥

मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां सदा।
श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिः स्तात् तत्त्वकौमुदी ॥

अर्थ—जैसे कौमुदी अर्थात् चन्द्रिका कुमुदों को सदा उत्फुल्ल करती है, उसी प्रकार श्री वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' नामक यह रचना सन्तों के हृदयों को सदा-सर्वदा प्रबुद्ध करती रहे ॥

इति षडदर्शनटीकाकृच्छ्रीमद्-
वाचस्पतिमिश्रविरचिता
साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी
समाप्ता

—:०:—

